"मुक्तिबोध की सामाजिक चेतना और कला चेतना की पारस्परिकता का अध्ययन"

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

की

डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ० राम कमल राय
पूर्व उपाचार्य (हिन्दी विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इताहाबाद

प्रस्तुतकर्ता
श्रीनारायण सिंह यादव
शोध छात्र (हिन्दी)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

मुक्तिबोध की सामाजिक चेतना और कला चेतना की पारस्परिकता का अध्ययन

विषय सूची

आभार

शोध कार्य की अवधि मे एव शोध कार्य को सम्पन्न करने मे किये गये सहयोग के लिए मै अपने शोध निर्देशक समाजवादी चिन्तक व प्रख्यात समालोचक श्रद्धेय गुरुवर डॉ0 रामकमल राय के प्रति सर्वाधिक आभारी हूँ, जिनकी स्नेहिल छाया, सुझाव व निर्देशन के बिना शोध कार्य पूरा करना सम्भव नही था। हिन्दी साहित्य व शोध के लिए साहित्यिक अभिरूचि की प्रेरणा विकसित करने के लिए मै हिन्दी के मूर्धन्य विद्वान व समालोचक प्रो0 सत्यप्रकाश मिश्र व शोध अवधि के दौरान जब कभी भी असमजस व भटकाव महसूस हुआ तो सबल व राह दिखाने के लिए मै गुरुवर डॉ0 राजेन्द्र कुमार (सम्प्रति विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग) का भी आभारी हूँ।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के आधुनिक सुख–सुविधा से वचित एक पिछडे गॉव की पगडन्डियो से इलाहाबाद विश्वविद्यालय तक का सफर तय करने की प्रेरणा के लिए मै अपने माता–पिता जिन्होने मुझे सुलाने के लिए अपनी नीद, मेरा पेट भरने के लिए अपनी भुख व मेरी शिक्षा के लिए अपनी बुनियादी आवश्यकताएँ भी खुशी–खुशी अर्पित कर दी तथा मुझे एक सभ्य, जागरूक व शिक्षित नागरिक बनाने के लिए असीम सहयोग प्रदान करने के लिए अपने चाचा स्व0 सुखराम सिह यादव एव बडे पिता स्व0 राजनारायण सिंह यादव तथा सहोदर भ्राताओ स्व0 रमाकान्त सिह यादव, केदार सिह यादव, एस0एन0एस0 यादव व श्रीकान्त सिह यादव का आभार व्यक्त करते हुए मै भावविह्वल हूँ, साथ ही अपने भतीजो डा0 दिनेश यादव एव उनकी पत्नी डा0 अलका यादव, उमाशकर यादव एव उनकी पत्नी नीतू यादव का भी आभार व्यक्त करता हूँ। इसके साथ ही अपने शुभचिन्तक एव अग्रज आदरणीय राजेन्द्र प्रसाद सिह यादव एव वशिष्ठ सिह यादव, श्रीमती इन्दुबाला सिह का भी आभारी हूँ, जिन्होने सकट के क्षणो मे मुझे सबल व सहारा दिया। मै अपनी बहन श्रीमती शकुन्तला यादव का भी आभारी हूँ जिन्होने सबसे ज्यादा शोध कार्य को तत्परता एव लगन से पूरा करने के

लिए मुझे प्रेरित किया। छात्र जीवन व ज्ञानार्जन के दौरान 90 के दशक मे देश मे आये व्यापक सामाजिक–राजनैतिक परिवर्तन की आधी से मै भी अछूता नही रह सका तथा अपनी व्यक्तिगत महत्वाकाक्षा एव सुख–सुविधा को देश के नव–निर्माण मे व शहीदो के सपनो का भारत बनाने के यज्ञ मे आहूति देकर समाज से गरीबी, गैर बराबरी, असमानता, अत्याचार व अन्याय के विरूद्ध आजीवन सघर्ष करने का सकल्प लेकर देश के महान नेताओ, समाजसुधारको, व शहीदो के विचारो से प्रभावित होकर मै छात्र राजनीति मे कूद गया तथा तब से अब तक पढाई के साथ–साथ लडाई जारी रखने का मेरा समझौता विहीन व मूल्यो से प्रेरित सघर्ष बदस्तूर जारी है। शोध कार्य व छात्र राजनीति के साझा मिशन मे कधा से कधा मिलाकर सघर्ष के लिए मै इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्र नेता व राजनीति विज्ञान विभाग के शोध छात्र राजेश सिह तथा शोध कार्य को पूरा करने मे अविस्मरणीय सहयोग के लिए कृष्ण मुरारी यादव, प्रतीक सिह, दिनेश जौनपुरी, अरविन्द सिंह, अजीत यादव, नीरज राय, दयाशकर यादव, अमित चौधरी, कवीन्द्र नाथ राय, दीपक मिश्रा, राजेश कुमार सिह, सुशील श्रीवास्तव, विजय प्रताप सिह, धीरेन्द्र प्रताप सिह व इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तमाम छात्रो व मित्रो का आभारी हूँ।

'लकी फोटो स्टेट के श्री शैलेन्द्र कुमार शर्मा व श्रीधर शुक्ला व राजीव वर्मा का कमप्यूटर टाइपिग के लिए हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

सधन्यवाद।

श्रीनारायण सिंह यादव

भूमिका

हिन्दी साहित्य–इतिहास के आधुनिक काल के (छायावाद के बाद के) कवियो मे मुक्तिबोध अपनी काव्य–चेतना की दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण और विचारणीय है। उनका स्वय का काव्य कवि के व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक चिन्तन से लेकर विश्व–दृष्टि के सन्दर्भ मे ह्रासगत मूल्यो की सामाजिक–चेतनाओ द्वन्द्वात्मक जीवनानुभवो के विभिन्न सन्दर्भो से जुडा हुआ है। वे यह मानते है कि "कोई भी लेखक अपने युग से केवल प्रभावित ही नही होता, अपितु वह अपने युग का अत होता है। अपने युग का अग होने के कारण लेखक के लिये स्वाभाविक हो जाता है कि वह युग और समय की आलोचना–प्रत्यालोचना करे, जिसमे वह जी रहा है। उसकी कमियो ओर उपलब्धियो पर टिप्पणी करे, जिससे उसका सामाजिक और सवेदनात्मक जीवन नियन्त्रित और प्रभावित होता है, क्योकि काव्य रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नही वह एक सास्कृतिक–प्रक्रिया है और फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है। उसमे जो सांस्कृतिक–मूल्य परिलक्षित होते है वे व्यक्ति की अपनी देन नही, समाज या वर्ग की देन है।"

हिन्दी साहित्य–जगत मे हुए विविध आन्दोलनो और उन आन्दोलनो मे स्वय की सहभागिता को स्पष्टत चित्रित करते हुए मुक्तिबोध बताते है कि –मैने वस्तुत तीन युग देखे है। छायावाद का पूर्ण प्रकाश मेरी ऑखो के सामने हुआ, किन्तु मै छायावादी नही हो सका। उसके विरूद्ध प्रतिक्रियाये ही हृदय मे जमा होती गयी। मैने प्रगतिवाद का अभ्युत्थान देखा और भर्सक कोशिश की कि उसका फैलाव हो, वह खूब फैला . किन्तु मेरी कविता प्रगतिवादी ढाचे को नही अपना सकी, यद्यपि कि आज भी प्रगतिवादी कविताये हमारे निम्न मध्यवर्ग मे बहुत लोकप्रिय है . . . . . मजे की बात तो यह है कि मै नयी कविता भी उन्हें सुना जाता हूँ और बहुतो को वे पसन्द आती है।

मुक्तिबोध के इस प्रकार के कथन से स्पष्ट है कि उनको किसी घेरे या दायरे मे कैद नही किया जा सकता क्योकि उनको किसी "वाद" की सीमा मे आबद्ध करना उनकी व्यापक–दृष्टि को सीमित करना होगा, क्योकि उनकी काव्य–चेतना के विविध आयाम है, पडाव है। अत उन्हे किसी एक घेरे मे आबद्ध करना उनके साथ अन्याय होगा और वे हो भी नही सकते। उनका स्वय का कथन है – "लेखक की कुछ रचनाओ को देखकर नही उसकी सब रचनाओ को देखकर नही उसकी सब रचनाओ को देखकर उसके तथाकथित जीवन–दर्शन की बात की जा सकती है उसकी कुछेक कविताओ को देखकर हम क्योकर यह मान ले कि लेखक जीवन–दृष्टि उसका जीवन–दर्शन निराशामूलक है। इस सम्बन्ध मे वे और आगे कहते है – "मेरे जीवन ने इस जगत मे अबतक जो यात्रा की है वह प्रयोजन हीन नही है। मैने अपने अनुसार कुछ हद तक परिस्थिति को बनाया और बिगाडा है। इस जीवन–यात्रा मे आभ्यन्तर की एक पुकार रही है। नवयौवनावस्था के पूर्व से ही मेरे प्रयोजन प्राप्त और विकसित होते गये और उन्ही के अनुसार मैने अपनी भावधारा विकसित की।"

मुक्तिबोध की लगभग समस्त उपलब्ध रचनाओ को नेमिचन्द्र जैन ने छ खण्डो मे (मुक्तिबोध की रचनावली) सग्रहीत किया है। रचनावली के प्रथम खण्ड उनकी 1935 से 1957 तक की कविताओ को इसी रूप मे लिया गया है कि वह "कविरूप" मे मुक्तिबोध की तैयारी का काल था जिसमे वह अपना निजी मुहावरा खोज रहे थे बना रहे थे और उसे मांज रहे थे। इनकी प्रारम्भिक कविताये जो उस समय कर्मवीर, वीणा आदि पत्रो मे छपी थी उस दौर के कवि माखनलाल चतुर्वेदी की शैली और सम्वेदना की छाप लिये हुए है। 1946 जब मुक्तिबोध नागपुर पहुँचे तब–उनकी वे कविताये सामने आयी जो व्यक्तित्व, अभिव्यक्ति, भाषा–शिल्प और सवेदना की दृष्टि से उनके मौलिक और अत्यन्त निजी स्वर, निजी पहचान को लिंये थीं। वह भी अपने

पूर्व या समकालीन कवियो की तरह चाह विहग, क्षितिज, कुहर, तिमिर, कोकिल और कल्पना का मृदु चितेरा' बनना चाहता है साथ ही अविश्राम गति ओर नव अनुभव मे जीवन यात्रा का सुख देख्ता है। इस प्रकार के बहुत से शब्द–समूह और चित्र छायावाद के निकट दीखते है।

नागपुर मे निवास काल के दौरान ही मुक्तिबोध ने सर्वाधिक कविताये लिखी। कविताके प्रति उनकी सम्बद्धता ओर रूझान इन दिनो गहनतर होता गया। लम्बी कविताओ की रचना, सूक्ष्म जटिल आन्तरिक सरचना इसी समय से शुरू हुई बल्कि इस समय अपने अनुभव और अन्तर्द्वन्द्व को नये–नये रूपो मे नये आकार मे व्यक्त करने की तडप और खोजपूर्ण बैचेनी भी उनमे बढती गयी और आगे चलकर यानी 1960 तक पहुॅचते–पहुॅचते उनकी काव्य–यात्रा मानसिक जगत, एक असतोष, निरन्तर रचना और पुनर्रचना की लम्बी प्रक्रिया से अस्थिरता और द्वन्द्वात्मकता से भरता गया है। 1953 से 1957 के बीच लिखी गयी अपनी अधिकाश कविताओ को मुक्तिबोध परिवर्तित–सशोधित करते रहे।

1960–62 का समय, लेखन की दृष्टि से अधिक और श्रेष्ठ कविताओ को बार–बार जॉचने, परिमार्जित करने का है लेकिन अपने बहुमुखी विकास और व्यक्तित्व के जटिल स्तरो की दृष्टि से उनका 1953–57 का दौर ही सर्वाधिक प्रयोगशील और रचनात्मक माना जायेगा। उन्होने इस बीच पूरी सर्जनात्मक के साथ जहॉ बहुत अधिक श्रेष्ठ कविताये लिखी वही कहानिया, डायरी निबन्ध, राजनैतिक लेख भी लिखे और सभी क्षेत्रो मे समान ऊर्जा, प्रतिभा, आन्तरिक दबाब उत्साह और आत्मविश्वास का परिचय दिया। उनकी बहुचर्चित और हिन्दी साहित्य जगत मे उन्हें प्रतिष्ठित करने वाली रचनाये कामायनी एक पुनर्विचार "एक साहित्यिक की डायरी, 'काठ का सपना', 'चॉद का मुॅह टेढा', है आदि प्रकाशित हुई। मुक्तिबोध आलोचक, चिन्तक और कवि के रूप मे प्रतिष्ठित हुए और उसके बाद "नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र नयी

कविता आत्मसघर्ष, विपात्र, सतह से उठता आदमी (कथा साहित्य) ने उनकी वैविध्यपूर्ण अभिव्यक्ति रचनात्मक जिन्दादिली और बौद्धिक सवेदना का समन्वित रूप खडा कर दिया।

यह उल्लेखनीय है कि 1940 से 1950 के मध्य देश की हलचलो को लेकर मुक्तिबोध ने कोई तात्कलिक प्रतिक्रियाये व्यक्त नही की लेकिन वे सभी परिस्थितियो और सन्दर्भ कहीं न कही उनकी भावनाओ को छील या हिला तो रहे ही थे। 1950 के बाद से 'नया खून', 'सबेरा', 'सकेत', 'बसुमती', 'सारथी' आदि कई पत्र–पत्रिकाओ मे उन्होने राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक, आर्थिक और व्यापक मानवीय समस्याओ पर खुलकर और जमकर अपनी प्रतिक्रियाये व्यक्त करना, आरम्भ कर दिया था। जनतत्र को खतरा, साम्प्रदायिक ताकतो से मनुष्य और देश को खतरा, राजनीतिक का दोगलापन, समाजवादी दृष्टि के भावी विकास के प्रति आशकाऐ– सब कुछ बहुत स्पष्ट वे लिख रहे थे और बेहद उत्तेजना, पीडा, वेदना तनाव के साथ लिख रहे थे। ठीक वैसी ही गहरी पीडा, उत्तेजना, वेदना, मानसिक तनाव, बैचेनी, सघर्ष प्रक्रिया से मुक्तिबोध ने अपने साहित्य को भी सृजित किया। उन्होने अपने को उदासीनता और विस्मृत के गर्भ मे फेक दिये जाने की स्थिति से भी सघर्ष किया क्यो कि उनकी स्थिति साहित्य–जगत मे बहुत सामान्य और सुसगत नही थी। मूलत मराठी होते हुए भी मुक्तिबोध ने केवल हिन्दी मे लिखा। प्रभावस्वरूप उनकी मराठी–प्रयोग–मिश्रिति हिन्दी ऐर सधि–समास बहुल भाषा ने और कही–कही व्याकरण–विरूद्ध प्रयोगे ने उन्हे हिन्दी मानसिकता के लोक में" लम्बे समय तक एक अपरिचित लेखक जैसा रखा। हिन्दी के प्रतिनिधि कवि होते हुए भी उनकी स्थिति हिन्दी मे विचित्र–सी थी। निश्चय ही जीवन और मृत्यु की गम्भीर त्रासदी को उन्होने मृत्यु–पर्यन्त झेला।

मुक्तिबोध का जीवन और उनका रचनात्मक ससार दोनो ही ऊँची–नीची, ऊबढ–खाबड दुनिया के ओर–छोर छूने, समझने की कोशिश की

उत्तेजना, चुनौती और शक्ति लिये हुए है। यद्यपि मुक्तिबोध का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वह कवि, विचारक, आलोचक, कहानीकार, डायरी लेखक, पत्रकार सपादक सभी थे पर वे मूलत कवि थे ओर कविता के भीतर ही उनकी सर्जनात्मक शक्ति, उनकी उस भावात्मक ऊर्जा, आवेग और मौलिकता का पूर्ण प्रकाशन हुआ है जिसके लिए वे जाने गये और जो उनके व्यक्तित्व की पहचान बन गया। उनके कवि–मित्र और मुक्तिबोध रचनावली के सपादक नेमिचन्द्र जैन कहते है कि "दरअसल मुक्तिबोध की भावात्मक ऊर्जा अशेष और अटूट थी जैसे कोई नैसर्गिक अन्तस्रोत हो जो कभी चुकता ही नही, बल्कि लगातार अधिकाधिक वेग और तीव्रता के साथ उमडता चला चलता है। यह आवेग और ऊर्जा मुक्तिबोध की कविता–रचना मे उसके कल्पना चित्रो और लय के आरोह–अवरोह मे एक विचित्र सी निरन्तरता और तीव्रता ओर अनेकानेक चित्र–दर–चित्र लाती चली जाती है जिसमे कुछ भी सुनियोजित नही होता।

काव्य–रचना की सम्पूर्णता को उसकी शिल्पगत मौलिकता को आत्मयन्त्रण की लम्बी–सार्थक प्रक्रिया से गुजरते हुए तैयार करना और तलाशने की बैचेनी को या तो निराला ने भोगा या मुक्तिबोध ने उनका फौलादी, प्रखर ऊर्जामय विद्रोही और सघर्ष शील व्यक्तित्व उनकी रचनाओ मे बार–बार व्यक्त होता है। मनुष्य, जीवन समाज ओर युग के प्रति गहरी सम्बद्धता, वर्तमान की पेचीदा स्थितिया–विसगतिया और भविष्य की चिन्ता उन्हे निरन्तर द्वन्द्व में रखती है। वे अनुभवों के साथ रात के सन्नाटे, पुलिस की सीटियों, सननाटेमय रहस्य–वातावरण, अन्याय–अत्याचार अग्रेजी शसन के आतक को अनजाने मे ही अपनी काव्य–सवेदना का अंश बनाते चले गये, दूसरी ओर बीसवी सदी के तीसरे दशक की राष्ट्रीय गतिविधियो, बौद्धिक हलचलो, नवीन आन्दोलनो, विचारधाराओ और युगबोध एव काव्य–सम्बन्धी अनुभवो से उनका उत्साही युवा मन चेतना–सम्पन्न होता गया। पारिवारिक

और सामाजिक विरोधो के बीच क्रान्तिकारी कदम उठाते हुए मुक्तिबोध ने जहॉ आर्थिक–वैयक्तिक सघर्ष और आत्म सघर्ष की यातना झेली वही अपने समय के अनेक प्रकार के साहित्यिक, राजनैतिक और दार्शनिक विचारो ओर आन्दोलनो के निकट भी वे आते रहे। 'सहार' और 'ध्वस' से होती हुई कविता को कवि किस तरह सृजन की अनवरत प्रक्रिया की ओर ले जाता है– यह एक दिलचस्प विषय है और इन सबके पीछे कवि की रचना–दृष्टि, उसके मूल्य चिन्तन उसके अनुभव व्यक्तित्व और पूरा युग पूरा परिवेश होता है। इसीलिए मुक्तिबोध आज भी भिन्न–भिन्न संदर्भो मे और अपने समग्र साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे, अपने से पूर्व की कविता, समकालीन कविता और आज की नयी कविता के परिप्रेक्ष्य मे पुनर्मूल्याकन की आवश्यकता महसूस कराते है। मुक्तिबोधिय कलात्मक साहित्य–चिन्तन, अधुनातन विचारधारणाओ से प्रभावित है। वस्तु–तत्व मे उतना मौलिक न होते हुए भी वह अपने प्रस्तुतीकरण की नवीनता और इससे भी अधिक अपने जीवनाग्रह के महत्व के कारण महत्वपूर्ण हो गया है। जीवन स्वानुभूत जीवन, कल्पना द्वारा पुनर्रचित मनोमय जीवन या सौन्दर्यानुभति अर्थात कलात्मक अनुभव, कलात्मक अनुभव के सन्दर्भ मे कलाकार की विशिष्टता, कलाकार के कलात्मक अनुभव, के सन्दर्भ मे कलाकार की विशिष्टता, कलाकार के कलात्मक अनुभव की चरम परिणति अर्थात कलाकृति, कलात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति का सघर्ष फिर उस अभिव्यक्ति के सघर्ष चरम परिणति अर्थात कलाकृति की सापेक्षता मे उसके सत्य की खोज–मुक्तिबोधीय चिन्तन के इन परस्परावलम्बित आयामो को आलोचनात्मक प्रक्रिया के सूक्ष्म ताने–बाने से ग्रहण करते हुये एक नयी व्यवस्था के रूप मे उनके कृतित्व के साक्ष्य के आधार पर ही ऑका जा सकता है। चूँकि वहॉ हमारा साक्षात्कार उनके प्रत्यक्ष प्रयोग की क्षमताओं से होता है।

वस्तुत मुक्तिबोध के कलात्मक साहित्य–चिन्तन मे काव्य–सम्बन्धी विवेचन प्रमुख रहा है। वे काव्य को एक सास्कृतिक प्रक्रिया मानते है और

काव्य–सौन्दर्य को जीवन–सौन्दर्य का पर्याय जिसमे वैयक्तिक–मौलिकता को वे कदाचित नही भुला पाये है। इसी सन्दर्भ मे उनकी आत्मपरक कविताओ और उनक कविताओ की प्रदीर्घता के मर्म को ठीक तरह से समझा जा सकता है। मुक्तिबोध कविता के अन्तर्तत्वो को विकास और प्रसार देने के पक्ष मे थे, चूकि कविता मे प्रस्तुत होने वाला यथार्थ न केवल गतिशील होता है वरन् परस्पर गुम्फित भी।

मुक्तिबोध की विचाराधाराओ मे व्यक्ति के वास्तविक जीवनाभुवो और तदनुसार उसकी क्रिया–प्रतिक्रियाओं मे मनोनीत प्रयोजनो के स्वाभाविक समावेश को प्राय महत्व प्राप्त हुआ है। निरपेक्ष और निरूद्देश्य सौन्दर्य को अपना समर्थन प्रदान न कर पाने के कारण ही उसका अर्थ खोजने के ओर भी वे कदाचित प्रवृत्त नही हुये है। वे रचनाकार को सन्देशवाहक भले ही न मानते हो, किन्तु उनका यह आग्रह अवश्य रहा है कि उसकी पक्षधरता या प्रतिबद्धता मनुष्यता की ऑच मे तपकर उदात्त आयाम प्राप्त कर सकती है। वे साहित्य के लिए किसी विषय को अस्पृश्य नही मानते है क्योकि उन्होने विषय को उतना महत्व नही दिया है जितना कि विषय के प्रति दृष्टिकोण और दृष्टिकोण की पृष्ठभूमिगत भूमिका को साहित्यकार के आत्मज सत्यो के प्रति आदर–भाव और विषय या वस्तु के चित्रण मे आत्मपरक ईमानदारी और वस्तुपरक सत्यपरायणता के निर्वाह को वे अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते है।

इस प्रकार वे इस निष्कर्ष पर पहुँच सके है कि लेखक के सवेदनात्मक उद्देश्यो को पहचान कर उसकी कलाकृति का विवेचन किया जाना चाहिए तथा उसके सम्वेदनात्मक उद्देश्यों और अन्तरानुभवो को व्यापकतर मानव–सत्ता के तथ्यो से जोडना चाहिए।

मुक्तिबोध का काव्य सत्चित्–आनन्द का काव्य न होकर सत्चित्–वेदना का काव्य है। उनक वेदना बडी व्यापक़ और साथ ही गहरी

है। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धो की वैज्ञानिक व्याख्या और उसकी काव्यमय अभिव्यक्ति ही उनकी कविताओ का अन्तर्मन है और चूँकि उन्होने केवल स्वानुभूत का चित्रण किया है, अत वैयक्तिक अनुभवो की प्रमाणिकता उनकी काव्य–सवेदना को प्रखर बना देती है। इसीजिल मुक्तिबोध के काव्य को मानवता का दस्तावेज कहा गया है जो आज के सामान्य मानव की असहायता, घुटन, छटपटाहट को उपस्थित कर उसके मुक्ति का मार्ग खोजता है वह निबल मानव के मुख को नव आशा से ज्योतित देखना चाहता है। इस स्थिति मे महाकवि बाण कृत 'कादम्बरी' मे उल्लिखित अधोलिखित पक्तियो का उल्लेख न्यायसगत होगा – 'अतिकष्टासु दशास्वपि जीवित निरपेक्षा न भवन्ति खलु प्राणिनाम् चित्तवृत्त्य इहि जगति।'' अर्थात अत्यन्त कष्टो को सहन करती हुई भी प्राणियो की चित्तवृत्तिया निश्चय ही इस जगत से जीवन के प्रति निरपेक्ष नही हुआ करती है।

नि सन्देह मुक्तिबोध की काव्य–चेतना का मूलाधार मानवीय–सवेदना को माना जा सकता है और वे जीवन–पर्यन्त एक ही समस्या को लेकर चिन्तित थे –

- ''मेरे सभ्य नगरो और ग्रामो मे
- सभी मानव
- सुखी, सुन्दर व शोषण–मुक्त कब होगे''

मुक्तिबोध के सम्बन्ध मे शमशेर बहादुर सिंह का मत अवलोकनीय है – ''मुक्तिबोध ने छायावाद की सीमा लाघकर प्रगतिवाद से मार्क्सीदर्शन ले, प्रयोगवाद के अधिकाश हथियार सभाल और उसकी स्वतत्रता महसूस कर, स्वतत्र कवि रूप से, सब वादों और पार्टियो से ऊपर उठकर, निराला की सुथरी और खुली मानवतावादी परम्परा को बहुत आगे बढाया।''

प्रथम अध्याय
मुक्तिबोध : व्यक्तित्व और कृतित्व

व्यक्तित्व

खिलजी वश काल मे मुक्तिबोध के किसी कुलकर्णी पूर्वज ने 'मुग्धबोध' या मुक्तिबोध नाम का कोई आध्यामित्क ग्रन्थ लिखा था, जिसके आधार पर इनके वश का नाम चल पडा। अग्रेजी शासनकाल मे मुक्तिबोध के परदादा जलगॉव से नौकरी करने के लिये ग्वालियर आये। वे शैव थे और आज तक मुक्तिबोध के परिवार मे शिव की पूजा होती है। दादा फारसी ज्ञान और पिता उर्दू ज्ञान के कारण प्रसिद्ध थे। मुक्तिबोध के पिता पुलिस इस्पेक्टर थे, जो राज भक्त, ईमानदार, न्यायप्रिय, पूजा–पाठी, बडे निर्भीक और मस्त व्यक्ति थे। मुक्तिबोध के जीवन मे पिता के इन सारे गुणो का प्रभाव पडा था। उनकी मॉ बुन्देलखण्ड के एक किसान परिवार की लडकी थी।

गजानन का जन्म तेरह नवम्बर 1917 को ग्वालियर के श्योरपुर नामक स्थान मे हुआ प्रारभिक शिक्षा उज्जैन मे हुई। गजानन अपने सहपाठी के साथ, जो गश्त ड्यूटी पर तैनात था, रात मे शहर घूमने निकल जाते थे। बीडी का चस्का शायद तभी से लगा। रात का सन्नाटा, पुलिस की सीटियॉ, एक रहस्यमय वातावरण, जुर्म अत्याचार, अग्रेजी शासन का आतक–सब कुछ मुक्तिबोध महसूस करते।

बीसवी सदी के तीसरे दशक के अन्तिम वर्ष राष्ट्रीय गतिविधियो के तेजी के वर्ष थे, जिनमे मुक्तिबोध का नवयुवक मन आगे बढकर शामिल हो गया, जिससे उसे बौद्धिक हलचलो, ज्ञान, नयी दृष्टि, युगबोध और काव्य सम्बन्धी अनुभव प्राप्त हुये। इसी बीच मुक्तिबोध के व्यक्तिगत जीवन मे एक भूचाल आया और उन्होंने पारिवारिक और सामाजिक विरोधो का सामना बडे साहस से करते हुये प्रेम विवाह किया। उसी वर्ष इन्दौर के होल्कर कालेज

कालेज से बी0ए0 करने के बाद अन्होने उज्जैन के मार्डन स्कूल मे अध्यापकी कर ली। यही पूर्व परिचित (प्रभाकर माचवे) से मुक्तिबोध की पुन भेट हुई, क्योकि माचवे माधव कालेज मे पहले अध्यापक थे। यही मुक्तिबोध को अनेक प्रकार के साहित्यिक, राजनीतिक और दार्शनिक विचारो के आदान–प्रदान का अवसर और वातावरण मिला। मुक्तिबोध की रचनाओ मे इसी समय से एक बुद्धिवादी अनास्था और सहज फक्कडपन और मुक्त छद का धारा प्रवाह प्रयोग मिलता है। यद्यपि इनकी शैली माखनलाल और महादेवी से मुक्त न थी। मुक्तिबोध रवीन्द्रनाथ टैगोर से प्रभावित थे।

सन् 1940 मे मुक्तिबोध शुजालपुर के शारदा शिक्षा सदन मे अध्यापक हो गये। यही वे गॉधी के रचनात्मक और जन जागरण के कार्यक्रम के सपर्क मे आये। उनका आदर्शवादी मन धीरे–धीरे भौतिकवाद की ओर झुकने लगा। उन्होने युग और एडलर को पढा था। इस तरह वे बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक उहापोह मे जीते थे। मन की सरलता और आत्मिक निष्ठा मे कौन अधिक था, कहन कठिन है। समस्याओ के राजनीतिक समाधानो के बारे मे वे एक मत नही थे।

1941 मे जब नेमिचन्द्र जैन आगरे से शुजालपुर आ गये, तो वातावरण एकदम बदल गया। वे प्रकाशचन्द्र गुप्त के प्रभाव से (मार्क्सवाद) के सपर्क मे आ चुके थे। इस तरह (मुक्तिबोध), (नेमिचन्द्र) और (माचवे) मे जब बहस छिडती तो समय का पता न चलता। मुक्तिबोध सब कुछ भूल जाते। इस तरह शुजालपुर के बौद्धिक वातावरण मे (मार्क्सवाद) छा गया। मुक्तिबोध इनमे सबसे अधिक उत्साही व्यक्ति थे। उनकी कविताओं मे इसका प्रभाव सबसे अधिक पाया जाता है। मुक्तिबोध के प्रिय साहित्यकारो मे बाल्जाक, फ्लावेयर, दस्तायवस्की और गोर्की थे। मुक्तिबोध की कवितायें इस समय भी कभी–कभी समझ मे नही आती, जिन्हे लेकर मित्रों मे विवाद होता पर उनका प्रभाव

अवश्य पडता। सन् 42, के आन्दोलन मे शारदा शिक्षा सदन बन्द हो जाने के कारण मुक्तिबोध उज्जैन चले गये।

शुजालपुर और उज्जैन मे ही 'तारसप्तक' की योजना बनी, जिसमें माचवे, नेमिचन्द्र, भारत भूषण, मुक्तिबोध, अज्ञेय, रामबिलास, गिरजाकुमार एक दूसरे के सपर्क मे आये। इस सग्रह मे मुक्तिबोध का स्थान बडा मौलिक, बौद्धिक और रोमानी है।

उज्जैन मे मुक्तिबोध ने मध्य भारत प्रगतिशील लेखक संघ की नींव डाली, जिसमे भाग लेने के लिये बाहर से लोगो को बुलाया जाता, जिनमें रामविलास और अमृतराय मुख्य होते। सन् 44, के अन्त में (मुक्तिबोध) ने इन्दौर मे फासिस्ट विरोधी लेखक कान्फ्रेन्स का आयोजन किया, जिसके अध्यक्ष राहुल जी थे। मुक्तिबोध ने स्वयं लेखको के दायित्व पर एक लेख पढा था। वे नये रचनाकारो का उत्साह बढाते थे। मजदूरो से सपर्क स्थापित करते थे, मित्रो और साहित्यिक बन्धुओ के सुख–दु ख मे बडी सक्रियता से भाग लेते थे।

सन् 45, मे मुक्तिबोध उज्जैन से बनारस गये और त्रिलोचन शास्त्री के साथ 'हस' पत्रिका के सम्पादन मे हाथ बटाने लगे। साठ रूपये में यहाँ सम्पादक से लेकर डिस्पैचर तक का काम करते थे। यहॉ वे सुखी नहीं थे अत (भारतभूषण) और नेमिचन्द्र ने उन्हे कलकत्ते बुला लिया पर निराश होकर मुक्तिबोध जबलपुर लौट गये। वहॉ 'हितकारिणी' हाईस्कूल में वे अध्यापक हो गये, और दैनिक 'जयहिन्द' मे भी काम करने लगे। साम्प्रदायिक दंगों के समय रात की ड्यूटी देकर कर्फ्यू के सन्नाटे मे घर लौटते। बड़ी मेहनत से वे अपनी कविताओ के टुकडों को हफ्तो, काटते–छाटते और अपने चिन्तन, कल्पना तथा ऊर्जा से समृद्ध करते।

जबलपुर से मुक्तिबोध नागपुर चले गये। यहॉ उन्होंने काफी अभावग्रस्त जीवन को भोगा, पारिवारिक सदस्यो मे वृद्धि, महॅगाई ओर बिना नौकरी। कु

दिनो के लिये उन्हे यहाँ रेडियो मे सपादको मिली पर तबादला हो जाने के कारण वे भोपाल नही गये। नागपुर से निकलने वाले 'नया खून' साप्ताहिक मे उन्होने कुछ कालम लिखे, जिसमे बडी निर्भीकता से मजदूरो की पक्षधरता को स्पष्ट किया गया।

इसी समय उनका महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'कामायनी एक पुनर्मूल्याकन' और 'एक लेखक की डायरी' का प्रकाशन हुआ, जिससे आलोचना के क्षेत्र मे मुक्तिबोध को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। मुक्तिबोध 'शुक्रवारी' मे तिलक की मूर्ति के पास ही गली मे रहते थे। उनका सारा समय मजदूरो के बीच और साहित्यिक, राजनीतिक बहसो तथा पत्रकारिता मे बीतता था। यही उनकी (नरेश मेहता) से घनिष्ठता हुई। दोनो मालवा के रहने वाले थे।

सन् 49, मे मुक्तिबोध इलाहाबाद आये थे। मित्रो के परामर्श से सन् 54 मे एम0ए0 किया और राजनन्दगॉव के दिग्विजय कालेज मे नौकरी मिली। उनकी परिस्थितियो मे थोडा सुधार हुआ। यही उन्होने 'ब्रह्म राक्षस' और 'अन्धेरे मे' आदि श्रेष्ठ कविताये लिखी। सन् 57, मे इलाहाबाद के लेखक सम्मेलन मे मुक्तिबोध पुन आये थे और यहाँ के सभी कवियो तथा काव्य–प्रेमियो को अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से आकृष्ट किया था।

7 फरवरी 64, को उनके ऊपर पक्षाघात का प्रहार हो गया। देश के गण्यमान्य साहित्यकारो के प्रयासों से मध्य प्रदेश सरकार (मुख्यमत्री मिश्र जी) द्वारा भोपाल के हमीदिया कालेज मे उन्हे भर्ती किया गया। पुन साहित्यकारो की प्रेरणा से और प्रधानमत्री शास्त्री जी के सहयोग से दिल्ली के मेडिकल इन्स्टीट्यूट मे उन्हे भर्ती किया गया। सब कुछ बेकार, बहुत देर हो गई थी।

कृतित्व –

'कामायनी एक पुर्नविचार' नई कविता का आत्मसंघर्ष एक साहित्यिक की डायरी' 'काठ–सपना' और चॉद का मुँह टेढा है' मुक्तिबोध की रचनाये है।

इनसे पूर्व 1943 मे तार–सप्तक का प्रकाशन अज्ञेय के सपादकत्व मे हुआ था उसके सात कवियो मे भी मुक्तिबोध का नाम शामिल है। 'तार–सप्तक' के प्रकाशन के समय ही मुक्तिबोध की कविताये समकालीन कवियो का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने लगी थी। उस समय भी मुक्तिबोध जीवन के सघर्षो से जूझ रहे थे, जिसका प्रभाव उनकी रचनाओ मे दृष्टिगोचर होता है और जिसकी चर्चा उन्होने 'तार–सप्तक मे व्यक्तिगत रूप से की है – 'उन दिनो भी एक मानसिक सघर्ष था गुप्त अशान्ति मन के अन्दर घर किये रहती है।

मुक्तिबोध की काव्य कृतियॉ 'तारसप्तक' मे सकलित कविताये और 'चॉद का मुॅह टेढा है' है। तारसप्तक मे मुक्तिबोध की सत्रह कविताये सकलित है – 'आत्मा के मित्र मेरे' 'दूर तारा' 'खोल ऑखे' 'अशक्त' मेरे अन्तर' 'मृत्यु और कवि' 'नूतन अह' 'विहार पूॅजीवादी समाज के प्रति' 'नाश देवता' 'सृजनक्षण' 'अन्तर्दर्शन' 'आत्म सवाद', 'व्यक्तिव और खण्डहर', 'मै उनका ही होता', 'हे महान' और 'एक आत्म व्यक्तित्व'। 'चॉद का मुॅह टेढा है' मे कवि की अट्ठाइस कविताये संकलित है, जिनमे 'भूल–गलती', ब्रह्म राक्षस' मुझे पुकारती हुई पुकार', 'चॉद का मुॅह टेढा है', लकडी का बना रावण' 'दिमागी गुहान्धकार' और 'औराग उटॉग' कल जो हमने चर्चा की थी, 'चबल की घाटी', 'अन्त करण का आयतन', ओ काव्यात्मन फणिधर और अन्धेरे मे' आदि। इनमे से अधिकाश कविताये लम्बी और कथात्मक है।

मुक्तिबोध का जीवन उन्मुक्तता और मस्ती का जीवन रहा है। जीवन की विभीषिकाओ से जुझते हुये भी एक सघर्षशील रचनाकार की रचनाओ मे जो काव्य–औदात्य देखा जाता है, वह मुक्तिबोध की कविताओ मे मिलता है। अपने जीवन के बारे मे मुक्तिबोध स्वय लिखते है – मालवे के औद्योगिक केन्द्र मे, जिसमे बडे शहरो के गुणो को छोडकर, उसकी सब विशेषतायें है, यह बन्दा रोज जिन्दा रहता है। नियमानुकूल बारह बजे दोपहर स्कूल जाता है,

लौटती बार अपने पैरो से अपनी सिगरेट पर ज्यादा भरोसा रखता हुआ घर की ओर चल पडता है। सॉझ सात बजे पान वाले पर नित्य मिलता है। उज्जैन के फ्रीगज मे कही भी इस व्यक्ति को मटरगश्ती करते हुये देखा जा सकता है।' मुक्तिबोध को द्वन्द्वो का कवि कहा जाता है। सारा जीवन वे परिस्थितियो का द्वन्द्व ही झेलते रहे। यह बात उनकी निम्नलिखित कविता से प्रमाणित होती है – स्वप्न के भीतर एक स्वप्न, विचार धारा के भीतर और एक अन्य सघन विचारधारा प्रच्छन्न। कथ्य के भीतर एक अनुराधी, विरूद्ध, विपरीत, नेपथ्य . सगीत ।। मस्तिष्क के भीतर एक मस्तिष्क, उसके भी अन्दर एक और कक्ष, कक्ष के भीतर एक गुप्त प्रकोष्ठ और कोठे सॉवले गुहान्धकार मे, मजबूत सदूक, दृढ, भारी भरकम और उस सन्दूक के भीतर कोई बन्द है, यक्ष, या कि औराग उटॉग, हाय ।

यह बात उनकी अधिकाश रचनाओं मे पाई जाती है। मुक्तिबोध की कविताये मानव–जीवन और उसके मन की पर्त–दर–पर्त को उघाडती–उधेडती चलती है। यही कारण है कि इन कविताओ मे तिलिस्मी रहस्यवाद का समावेश हो गया है।

मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का अध्ययन मुक्तिबोध ने गहराई से किया था और उससे वे प्रभावित भी थे, इसीलिये उज्जैन मे 'मध्य भारत प्रगतिशील लेखक सघ की स्थापना भी की थी, पर इसका यह अर्थ नही कि वे मार्क्सवाद का साहित्यिक अनुवाद अपनी कविताओ मे कर रहे थे। उनकी कविताओ मे उनका भोगा हुआ यथार्थ और उनकी जीवन के प्रति आस्था मुख्य है, राजनीतिक विचारधारा गौण। कोई भी रचनाकार विचारधारा मात्र से बडा नहीं बनता। अपने दृष्टिकोण, वैज्ञानिकता, मूर्तता और अधिक तेजस्विता लाने के लिये मुक्तिबोध ने मार्क्सवाद का अध्ययन किया था, ऐसा उन्होने अपने वक्तव्य मे स्वीकार किया है उनकी असुरक्षा और भयावह स्थितियो के मार्मिक चित्र प्राप्त होने लगते है – 'घनी रात', बादल रिम–झिम, दिशा मूक, निस्तब्ध

वनान्तर। व्यापक अन्यधकार मे सिकुडी खाई नर की बस्ती, भयकर। है निस्तब्ध गगन, रोती सी सरिता, धार चली घहराती, जीवन लीला को समाप्त कर मरण सेज पर है कोई नर।'

नई कविता भाव से अधिक विचार की कविता है, यद्यपि एक स्थिति आती है, जब विचार भाव बन जाता है, या भाव विचार। तथापि नई कविता हृदय से अधिक मस्तिष्क का स्पर्श करती है। कल्पना के लिये तो उसमे शिल्प के स्तर पर अधिक स्थान है। वास्तव मे आज का कवि इतना अधिक जीवनानुभवो से गुजरता है कि उसकी यह यात्रा कभी समाप्त नही होती और उसकी कविता मे भावना के लिये अधिक स्थान नही रहता। मुक्तिबोध जैसे कवि के साथ यह बात और अधिक लागू होती है। इसीलिये उनकी अधिकाश कविताये या तो लम्बी है या अधूरी है। इस सम्बन्ध मे कवि का स्वय कथन – 'वास्ततिकता का एक साक्षात्कार कवि को दूसरे साक्षात्कार तक पहुँचा देता है और यह प्रक्रिया कभी समाप्त नही होती, चलती रहती है।' नही होती, कभी भी खत्म कविता, नही होती। कहकर भी उन्होने इसी बात की ओर सकेत किया है।

जीवन का यथार्थ जितनी गहराई से मुक्तिबोध की रचनाओ मे व्यक्त हुआ है, समकालीन रचनाकारो मे उतनी गहराई से बहुत कम लोगो मे मिलता है। इसका कारण है कवि का व्यक्तिगत जीवन, जिसकी अभिव्यक्ति वह अपनी रचनाओ मे करता है। मुक्तिबोध अपने जीवन के भयावह यथार्थ को स्याह पहाड की सज्ञा देते है। आज के वैज्ञानिक और भौतिक युग मे कवि अपनी अभावग्रस्त स्थिति मे रहता हुआ हर वस्तु के प्रति एक असंतोष, और वितृष्णा का भाव रखता है – 'रवि का प्रकाश, शशि का विकास, पुसत्वहीन नर का विकास, ये सूर्य चन्द्र, नभ, वक्ष–लब्ध वे अमित वासना के शिकार, वे मंगन हीन, वे रसिकरूग्ण, पुंसत्व हीन, वेश्या विहार। हर रचनाकार की कविता का जन्म पीडा और सत्रास से होता है, इसलिये उसकी रचना मे जीवन का

अवसाद, निराशा और परिस्थितियो से जूझने का सकल्प मिलता है, तो यह कोई आश्चर्य की बात नही है। मुक्तिबोध की रचनाओ मे यह सत्य अधिक उजागर होकर आया है, इसीलिये वे अपनी कविताओ मे 'क्रान्ति या आन्दोलन की बात करते है। उनका पूरा का पूरा जीवन उनकी रचनाओ मे प्रतिबिम्बित हो उठा है। जीवन की यह लडाई कभी खत्म नही होती इसी लिये मुक्तिबोध कविताये न कभी खत्म होती है और न उनकी लडाई समाप्त होती है। जीवन–सग्राम को जीतने की कामना लगातार उनकी कविताओ मे मिलती है। इसलिये वे हर गली हर सडक पर झॉक–झॉक कर देखते है कि इस युद्ध को जीतने का कोई रास्ता निकल आये और उनकी आत्म–सभवा परम अभिव्यक्ति को साकार रूप मिल जाय।

अपनी इस लडाई मे वे इतिहास की ओर भी दृष्टिपात करते है और ताल्स्ताय, गॉधी और तिलक जैसे ऐतिहासिक चरित्रो के सघर्ष का साक्ष्य प्रस्तुत करते है। वे इतिहास का बौद्धिक विश्लेषण करते है। और उसकी वर्तमान के सदर्भ मे सार्थकता मूल्याकित करते है। उनकी कविताओ का अन्धकार, सूनापन, अकेलापन, भटकन खोज, कुहासा – उनके जीवन की असुरक्षा और पीडा का द्योतन करते है। इस तरह पूरा का पूरा आधुनिक जीवन उनकी रचनाओ मे साकार हो उठा है। आज का मनुष्य अपनी बाह्य परिसिथितियो से जूझता हुआ किस कदर मानसिक संत्रास मे जीता है और उसका हल खाजता है, इसकी चर्चा डॉ0 राम विलास शर्मा ने मुक्तिबोध के संदर्भ मे की है – 'मुक्तिबोध की अन्तमुख दशाये है अन्तर्चेतना मे डूबने मे उनके प्रयास। वेदशाये गहनतर होती है, बाहर की दुनियॉ मे मार खाकर अपने भीतर समाज और ब्रह्माड का रहस्य खोजने से आत्मग्रस्तता का एक रूप है रहस्यवाद, दूसरा है अस्तित्ववाद। आत्म ग्रस्तता के बावजूद ओर उसे साथ लिये हुये मुक्तिबोध के आत्मसंवेदन समाज के व्यापकतर छोर छूते है – "इसका अर्थ है, वह रहस्यवाद और अस्तित्ववाद से मार्क्सवाद का समन्वय

करने का प्रयत्न करते है। वास्तव मे डा0 शर्मा ने इस बात को उल्टे ढ ग से कह दिया है। मुक्तिबोध की रचना–भूमि भौतिकवाद है, जिसका भोग उन्होने जीवन मे किया था। रहस्यवाद या अस्तित्ववाद को एक शैली के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है, जिसका आश्रय कवि ने अपनी कविताओ की अभिव्यक्ति के लिये किया है। मुक्तिबोध का विश्वास रहस्यवाद या अस्तित्ववाद हद तक यह बात मुक्तिबोध की रचनाओ पर लागू हो सकती है। श्रीकान्त वर्मा मुक्तिबोध को अपने से जैसे किसी पहाड से जूझते रहने वाले कवि की सज्ञा देते है। उनके अनुसार 'मुक्तिबोध' की कविताये उनका इतिहास है। जिन्दगी के एक स्नायु को एक बार जीवन मे और दूसरी बार अपनी कविताओ मे मुक्तिबोध जिये है। मुक्तबोध अपनी कविताओ को अपनी जिन्दगी से अधिक सहेजते थे।

मुक्तिबोध रचनावली खण्ड एक खण्ड एक खण्ड दो मे उल्लिखित कविताओ के अध्ययन के बाद वर्तमान समय और समाज को समझने की एक स्पष्ट दृष्टि भी मिलती है। उनके मित्र और साहित्यकार नेमिचन्द्र जैन का यह विचार है कि यह जरूरी नही है कि किसी महान लेखक के सम्पूर्ण कृतित्व मे से एक साथ गुजरना हमेशा एक उत्तेजक अनुभव ही बने अथवा उसके फलस्वरूप उस लेखक के सम्बन्ध मे गुजरने वाले की प्रतिक्रिया पहले से बेहतर ही हो जाय, क्योकि सम्पूर्ण कृतित्व मे उपलब्धि के शिखर ही नही होते, सपाट मैदान और खन्दक–खाइयॉ भी होती है। हर लेखक के सर्जनात्मक जीवन मे, प्रारम्भिक अभ्यास की रचनाओ के अलावा भी, ऐसे दौर लगातार आते है जब वह अपने विचारो, भावो और अनुभवो के साथ, अपने माध्यम के साथ, एक तरह का अभ्यास ही कर रहा होता है जिसके बाद कभी–कभी सत्य से नया साक्षात्कार, कोई नयी दिशा और उसकी अभिव्यक्ति का कोई नया स्तर, रूप अथवा कोई नया मुहावरा हासिल हो जाता है। मगर यह भी उतना

मुमकिन है कि ऐसा सारा अभ्यास बेकार सिद्ध हो और अगले प्रयास के लिए तैयारी भर रह जाय।

जहॉ लेखक के अपने विकास मे ऐसे तमाम दौर जरूरी और महत्वपूर्ण होते है, वही एक पाठक, अधिक से अधिक सहानुभूति और समान सवेदनावाला पाठक भी ज्यादातर और मुख्यत रचनाकार के उपलब्धियो मे ही वास्ततिक दिलचस्पी ले पाता है। जिन्दगी की सच्चाई को देखने, पहचानने और फिर उसे कोई सृजनात्मक रूप दने की रचनाकार की पूरी प्रक्रिया पाठक के लिए हमेशा ही बहुत उत्तेजक सिद्ध नही हो सकती, बल्कि कई बार ऐसा भी हो सकता है कि श्रेष्ठ कृतियो के आधार पर रचनाकार की उपलब्धि के बारे मे हमारी जो धारणा है, वह उसकी रचना–प्रक्रिया को अधिक समीप से देखकर कुछ धुधली, उदासीन अथवा प्रतिकूल ही हो जाय।

मुक्तिबोध की **रचनावली** के सम्पादन की जिम्मेदारी लेते समय किसी हद तक ऐसी आशंका मेरे मन मे थी, इस आत्म–स्वीकार मै आज मुझे कोई सकोच नहीं है, क्योकि सम्पादन–कार्य के अनुभव ने उस आशका को गैर जरूरी सिद्ध कर दिया है। जैसे–तैसे मे उनकी सभी प्रकाशित और अप्रकाशित, पूर्ण अथवा अपूर्ण, आशका का स्थान एक कुतूहल एक अचरजभरे आकर्षण ने ले लिया। कम से कम अपने लिए तो मै यह निश्चित रूप से कह सकता हूँकि मुक्तिबोध की सारी रचनाओ से इस साक्षात्कार ने मेरे मन मे लेखक के रूप मे उनके प्रति आदर की भावना को और भी गहरा कर दिया है। यह इस अर्थ मे ही नही कि उनकी सजंनात्मक उपलब्धि के बारे मे मेरी राय पहले से कुछ अधिक स्पष्ट और अधिक पुष्ट हुई, बल्कि बहुत अधिक इस अर्थ में भी कि मैं उनके सृजनात्मक व्यक्तित्व को उसी सारी बेचैनी, उत्कटता और जटिलता को इतने समीप से देख सका, और लीक से हटकर अपना अलग रास्ता बनाने वाले एक मौलिक, ईमानदार और अत्यनत उर्वर रचनाशील

मानसे की तीखी छटपटाहट के अन्तरग सम्पर्क मे आ सका। मुक्तिबोध के लेखन मे मुझे उनकी अदम्य अटूट ऊर्जा और स्वर की निजी विशिष्टता विशेष के रूप से आकर्षित करती रही है। रचनावली के सम्पादन के सिलसिले मे उनकी इन खासियतो के स्रोत, उनकी अपनी लग बनावट और उसकी खूबियो को देखने, पहचानने और समझने का मौका मिला, जो केवल उनकी रचनाओ का पढने से शायद कभी नही मिलता। मेरे लिए यह बहुत कुछ एक अचरज–लोक मे साहसिक यात्रा का–सा, एडवेचर का–सा अनुभव सिद्ध हुआ।

मुक्तिबोध की रचनावली के प्रकाशन का विचार इसी वर्ष के शुरू मे मार्च अप्रैल मे कभी सामने आया। विचार को एक निश्चित योजना का रूप लेते मई का अन्त आ पहुँचा। तय यह हुआ कि मुक्तिबोध का सम्पूर्ण प्रकाशित–अप्रकाशित लेखन छह–सात खण्डो की रचनावली के रूप मे जिसका सम्पादन मै करूँ, उनके जन्मदिन 13 नवम्बर 1980 पर प्रकाशित किया जाय। इस जिम्मेदारी को स्वीकार करते समय मुझे इस बात का केवल एक हल्का–सा ही अहसास था कि न सिर्फ मुक्तिबोध की बहुत–सी रचनाएँ अभी अप्रकाशित है जिनके लिये मूल पाण्डुलिपियो से मिलाना अनिवार्य या जरूरी होगा। वह काम इतना बडा पेचीदा और समसाध्य होगा इसका उस समय कोई अनुमान न था। जैसा जरूरी और उपयुक्त था, शुरू मे ही यह भी निर्णय किया गया कि सारी सामग्री को यानी कविता, कहानी डायरी, साहित्यिक तथा राजनैतिक लेख और पत्र आदि को अलग–अलग कालक्रम से प्रस्तुत किया जाये। यह शर्त बाद मे कितनी दिक्कते पैदा करेगी। इसका भी उस समय कोई अन्दाज न था।

इस सिलसिले में दो–तीन बातो की तरफ इशारा किया जा सकता है। एक इस रचनावली को यथासम्भव सम्पूर्ण बनाने की पूरी कोशिश के बावजूद यह लगभग निशिचत है कि उनका कुछ लेखन अब भी पत्र–पत्रिकाओ मे दबा

रह गया है जिसकी कोई पाण्डुलिपि या नकल या कतरन फिलहाल उपलब्ध नही है, पर पत्र–पत्रिकाओ की व्यापक तलाश से उसका पता मिल सकता है।

दूसरे उनके फुटकर हस्तलिखिपत कागजो का एक बण्डल ऐसा है जिसको अभी तक पूरी तरह देखा नही जा सकता है। सम्भव है, इनमे प्रकाशित रचनाओ के विभिन्न अशो के अलग–अलग प्रारूप हो और यह भी हो सकता है कि कुछ नयी या कमोवेश पूरी या अधूरी रचनाएँ हो। कविताओ के मामले मे इसकी सम्भावना बहुत ज्यादा है। रचनावली के दूसरे खण्ड के अन्त मे कुछ कविताश दिये गये है। ये उनके ऐसे ही कुछ और या एक–दो नत्थी किये हुए कागजो मे लिखी मूल कविताओ के अंश है। उनमे से कई अपेक्षाकृत लम्बी है और सम्पूर्ण जैसी भी लगती है। कई कुछ पक्तियॉ मात्र है।

तीसरे उनकी रचनाओ के विभिन्न प्रारूपो की और भी विस्तार से जॉच की जानी चाहिए जिससे एक ओर तो अब तक प्राप्त रचनाओ के प्रामाणिक पाठ निश्चित रूप से निर्धारित हो सके। दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि कई प्रारूपो के सम्यक् सम्पादन द्वारा कई रचनाओ का एक अधिक सशक्त और सम्पूर्ण रूप तैयार हो सके। पाण्डुलिपियो मे अक्सर ऐसा पाया गया कि एक ही रचना को उन्होने कई बार लिखा है और इन विभिन्न प्रारूपो मे कुछ हिस्से सामान्य होने के बावजूद कुछ हिस्से एकदम अलग हो जाते है ओर एक ही कथ्य के अलग–अलग स्तरो को जाहिर करते है। कुछ अन्य रचनाओ मे यह भी अनुभव होता है कि विभिन्न प्रारूपो में अलग–अलग अश अपने आप मे अधिक सशक्त और प्रभावी है इदसलिए अगर सावधानी से उन अशो को जोडा जाय तो इसकी पूरी सम्भावना है कि उस रचना के मौजूदा रूप मे मुकाबले एक अपेक्षाकृत अधिक सुगठित और समर्थ रूप तैयार हो जाये। कविताओ के अलावा कई कहानियों और डायरीनुमा रचनाओ के बारे मे भी इस तरह का आभास हुआ।

दरअसल मुक्तिबोध की भावत्मक ऊर्जा अशेष और अटूट थी, जैसे कोई नैसर्गिक अन्तस्रोत हो जो कभी चुकता ही नही बल्कि लगातार अधिकाधिक वेग और तीव्रता के साथ उमडता चला आता है। इस आवेग के दबाव मे वह लगातार लिखते चले जाते थे ओर उनकी यह ऊर्जा अनेकानेक कल्पना–चित्रे, फैण्टेसियो के आकार ग्रहण कर लेती थी। इस कारण यह भी स्पष्ट नही होता था कि कोई रचना कब और कहॉ शुरू हुई ओर कैसे किस जगह समाप्त हुई। अपने अनुभव को किसी एक सुसयोजित निश्चित बिन्दु पर अथवा दो बिन्दुओ के बीच फैलाकर, रचना को समाप्त करना उनके लिए शायद कठिन होता था। इसीलिए उनकी कविताओ मे, यहॉ तक कि कहानियो ओर लेखो मे भी, बदलते हुए अनुभव भाव, विचार या उनके अलग–अलग स्तरो के साथ बदलती हुई लय का स्वर के उतार–चढाव का या यपगत विविधता तथा परिवर्तन का अहसास तो होता है। पर रचना के आदि या अन्त का अलग से आभास नही होता ।

इसके अतिरिक्त एक और परिस्थिति ने भी कुछ कठिनाई पैदा की है। और वह यह कि मुक्तिबोध अपनी रोजमर्र की जिन्दगी के सघर्ष मे इतनी बेरहमी से गिरफ्तार रहे कि थोडे से भौतिक तथा मानसिक अवकाश के साथ अपनी रचनाओ का माजने, व्यवस्थित करने अथवा उन पर सावधानी से एक और नजर डालकर उन्हे अन्तिम रूप देने का अवसर उन्हे बहुत कम ही मिला। ऐसा वे केवल अपनी कुछेक बडी रचनाओ मे या कि उनकी रचनाओ के अलग–अलग प्रारूपो मे उनकी काव्यानुभूति की अलग–अलग सतहे, अलग–अलग परते मौजूद है, और उनकी पाण्डुलिपियो का सहानुभूति ओर अन्तदृष्टि के साथ सम्पादन बहुत फलदायी हो सकता है। यह असम्भ्व नही कि भविष्य मे कभी यह काम अधिक अवकाश और साधनो के साथ किया जा सके।

बहरहाल, इस रचनावली मे समस्त प्रकाशित रचनाओ के अलावा यथासम्भव सभी अप्रकाशित रचनाएँ शामिल की गयी है। विभिन्न खण्डो मे सामग्री का विभाजन इस प्रकार है पहले दो खण्डो मे कविताएँ, तीसरे मे कहानियॉ चौथे मे डायरियॉ तथा कामायनी एक पुनर्विचार, पॉचवे खण्ड मे साहित्यिक निबन्ध और छठे मे राजनीतिक तथा विविध लेख और पत्र। इस प्रकार सर्जनात्मक लेखन पहले दिया गया और वैचारिक–आलोचनात्मक लेखन के बाद। सबसे अन्त मे उनका अनौपचारिक लेखन, यानी पत्र है।

मुक्तिबोध प्रथमत कवि थे और कविता मे ही उनकी सर्जनात्मक शक्ति मौलिकता और ऊर्जा का पूरा प्रकाश हुआ है। पाण्डुलिपियो मे पूर्ण प्राय पूर्ण अथवा अपूर्ण कविताओ और उनके विभिन्न प्रारूपो का बडा भारी समूह है। यहॉ प्रकाशित और अप्रकाशित पूर्ण और कुछ अपूर्ण कविताओ को दो खण्डो प्रस्तुत किया गया है। पहले खण्ड मे 1935 से लगाकर 1956 तक की कविताएँ है। एक तरह से कहा जा सकता है कि यह कवि–रूप मे मुक्तिबोध की तैयारी का काल है जिसमे वह अपना निजी मुहावरा खोज रहे थे, बना रहे थे और उसे मॉज रहे थे। इस काल को 1957 के अन्त या 1958 के मध्य तक बढाया जा सकता था, क्योकि 1958 के जून मे वह राजनॉदगॉव पहुँचे जहॉ उन्हे अपेक्षाकृत अधिक अवकाश मिला और वह अधिक एकाग्र मन से लेखन की ओर प्रवृत्त हो सके। इस दृष्टि से 19578 तक कविताएँ पहले खण्ड मे ही एक सथ देना शायद सगत होता। किन्तु 1957 मे उनकी रचनाएँ इतनी अधिक ओर लम्बी–लम्बी है कि उन्हे पहले खण्ड मे शामिल करने से किसी हद तक दोनो खण्डो के आकार मे सन्तुलन नही रहता। इसलिए अन्तत यह ठीक समझा गया कि 1956 तक की कविताएँ पहले खण्ड मे हो ओर 1957 से 1964 तक की दूसरे खण्ड मे। यह सही है कि मौजूदा विभाजन मे भी सन्तुलन बहुत नही रह सका है, यानी कि दूसरे खण्ड मे पहले की तुलना मे कविताएँ कम है पर पृष्ठ कहीं ज्यादा लम्बी–लम्बी है। इसलिए कुल मिलाकर

यह विभाजन सगत ही है और मोटे तौर पर अवश्य ही मुक्तिबोध की कविता के दो अलग–अलग चरणो को सूचित करेगा।

पहले खण्ड के शुरू मे 1935–39 मे लिखी हुई प्रारम्भिक कविताएँ है। ये उन कुछ थोडी–सी कविताओ मे है जो अलग–अलग कापियो मे लिखी हुई है और जिन पर लिखने की तारीखे भी दी हुई है। उनमे से अनेक उन्ही दिनो कर्मवीर, वाणी ओर वीणा आदि पत्रो में छपी थी। विशेषकर कर्मवारी मे उनकी कई रचनाएँ छपी, जिसके सम्पादक माखनलाल चतुर्वेदी नयी प्रतिभाओ को प्रोत्साहित और प्रकाशित करने के लिए विख्यात थे। मुक्तिबोध के उस दौर की कविताओ पर माखनलाल चतुर्वेदी की शैली और सवेदना की छाप भी स्पष्ट दिखायी पडती है। वह 1942–43 तक मालवा मे रहे और उनकी उस दौर की अनेक महत्वपूर्ण कविताएँ 'तारसप्तक' मे सकलित हुई थी। बाद मे वह मालवा छोडकर बगलौर, कलकत्ता, बनारस, इलाहाबाद, जबलपुर आदि स्थानो मे कुछ–कुछ समय के लिए रहे और एक तरह से कविताओ का एक और चरण इस अवधि मे पूरा हुआ।

1949 में नागपुर आने के साथ उन कविताओ का दौर शुरू हुआ जो बाद मे उनके एकदम निजी और विशिष्ट स्वर की पहचान बन गयी। अपने नागपुर काल मे उन्होने सबसे ज्यादा लिखा और यही कविता के प्रति उनका वह रूझान स्पष्ट और गहरा हो गया जिसके कारण लम्बी–लम्बी कविताए अधिकाधिक लिखी गयी। कविताओ के विभिन्न प्रारूपो की समस्या वास्तव मे यहीं से प्रारम्भ हुई। बेशक, इससे पहले की कविताओ के भी एकाधिक रूप मिलते है, पर न तो उनकी संख्या ज्यादा है और न उनमे इतनी जटिलता है कि कविता के मुख्य और अन्तिम रूप को अलग पहचानने मे कोई दिक्कत हो। किन्तु छठे दशक के प्रारम्भ से ही वे ऐसी कविताएँ लिखने लगे जो न तो एक बार में पूरी होती थी, न उनका कोई एक स्थिर रूप ही बन पाता था।

यहॉ एक और बात का उल्लेख आवश्यक है। उनकी अनेक कविताऍ जो दूसरे खण्ड म 1960 से 1962 के बीच रचना–काल के अन्तर्गत रखी गयी है, मूलत नागपुर मे ही 1953 ओर 1957 के बीच लिखी गयी थी। किन्तु उनमे लगातार बडे–बडे या साधारण परिवर्तन–सशोधन होते रहे और उनका अन्तिम रूप 1960 के बाद ही दिया गया जब मुक्तिबोध को अधिक अवकाश और कविताओ को मॉजने का अधिक अवसर मिला। यह बात विवादास्पद हो सकती है कि इन कविताओ को पहले काल–खण्ड मे रखना उचित होगा अथवा दूसरे काल–खण्ड मे। एक ओर तो यह तथ्य है कि कलेवर मे भले ही कुछ छोटे–मोटे या बडे परिवर्तन हुए हो, किन्तु उनकी मूल सवेदना तथा उनमे सयोजित अनुभव और उसके पीछे जीवन–दृष्टि मूलत 1953–57 के बीच की ही है दूसरी ओर यह कि कवि द्वारा अन्तिम रूप उन्हे 1960–62 मे ही दिया गया। इन्हे किस दौर की रचना माना जाय यह अपने आप मे एक स्वतन्त्र विवेचन का विषय हो सकता है। विशेषकर इसलिए कि 1953 से 57 के दौर मे मुक्तिबोध ने सबसे अधिक लिखा। इन वर्षो मे उनकी सर्जनात्मक ऊर्जा कविता, कहानी, डायरी, निबन्ध, राजनीतिक लेखन की ओर समान वेग, दबाव और आत्मविश्वास से उन्मुख हुई। साथ ही यही उनके जीवन मे तीव्र आर्थिक तथा सामाजिक सघर्ष का काल भी था। कवि के इस आन्तरिक तथा बाह्रय संघर्ष और उसकी सर्जनात्मक ऊर्जा के बीच सम्बन्ध की पडताल की दृष्टि से भी इस दौर के लेखन का स्वतन्त्र अध्ययन बहुत सार्थक ओर उत्तेजक हो सकता है।

रचनावली के लिए सम्पादन मे 1953–56 (नागपुर) तथा 1958–64 (राजनॉदगॉव) की कविताओ को प्रस्तुत करने मे कई प्रकार की उलझने सामने आयी जिनका कुछ उल्लेख दूसरे खण्ड की भूमिका के साथ हुआ और कुछ अलग–अलग कविताओ मे टिप्पणियों के साथ। यहॉ इस बात पर जोर देना जरूरी जान पडता है कि कविताओ के विभिन्न प्रारूपो मे से किसे अन्तिम

और प्रमाणिक माना जाय यह निर्णय बहुत आसान साबित नही हुआ। रचनावली मे यथासम्भव उसी पाठ को रखा गया है जो कवि द्वारा अन्तिम रूप से सशोधित प्रारूपो मे मिलता है। पाण्डुलिपियो से मिलाने पर पत्र–पत्रिकाओ अथवा उनके दो सकलनो मे प्रकाशित कविताओ मे बहुत अशुद्धियॉ मिली और यह जरूरी था कि पाठ को पाण्डुलिपि के अनुसार शुद्ध कर दिया जाये। दूसरी ओर, इस बीच वे कविताएँ उस रूप मे प्रचलित और स्वीकृत हो चुकी है, इसलिए उनका एक भिन्न पाठ प्रस्तुत करने मे एक तरह की झिझक भी मन मे होती थी। अन्तत यही उचित जान पडा कि कविताओ की पाण्डुलिपि के अनुसार सशोधन करके ही रचनावली मे दिया जाय।

रचनावली का तीसरा खण्ड पूरा कहानियो का है जिसमे 1936 से 1963 तक की रचनाएँ है। इससे जाहिर है कि कथा–लेखन मे मुक्ति बोध की गहरी रूचि थी और उसे वे अपनी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण माध्यम मानते रहे और उनका कथा–लेखन, कविता के सामानतर ही, अन्तिम दिनो तक चलता रहा। यह बात भी दिलचस्प है कि उनकी पहली कविता और कहानी 1935–36 मे लिखी हुई ही है। रचनावली मे पहली बार उनकी दो प्रारम्भिक सम्पूर्ण कहानियॉ प्रस्तुत की जा रही है। कविता की भाति कहानी मे भी मुक्तिबोध की अपनी एक अलग सवेदना और शैली है जो इन शुरू की कहानियो मे भी दिखायी पडती है उनमे चरित्रों के बाहरी आचरण और भीतरी प्रतिक्रियाओ का ब्यौरा बहुत है और कविता की भाति बाहरी से भीतरी और भीतरी से बाहरी दुनिया की ओर अतिक्रमण की कोशिश निरन्तर दिखायी पडती है। कविताओ की भाति ही, कहानियो का भी कोई बहुत निश्चित आदि या अन्त नही है। कथाशिल्प की ये विशेषताएँ उनकी प्रारम्भिक कहानियों मे ही दिखायी पड जाती हैं विता की भॉति ही, उन्होने एक ही कहानी को एकाधिक बार लिखा और उनके विभिन्न प्रारूप अक्सर, कुछ सामान्य स्थितियो अथवा वाक्यो के बावजूद स्वतन्त्र कहानी का रूप ले लेते

है। रचनावली मे इस तरह के कुछ प्रारूपो को स्वतन्त्र कहानियो के रूप मे दिया भी गया है।

कहानियो के सिलसिले मे दो–एक बातो का उल्लेख आवश्यक जान पडता है। सन् 1948–49 के आस–पास उन्होने ढाई सौ पृष्ठो का एक उपन्यास लिखा था जो वह इलाहाबाद मे एक प्रकाशक को दे गये, जिससे सम्पर्क श्री शमशेर बहादुर सिह के माध्यम से हुआ था। उसके उस समय लगभग 80 पृष्ठ कम्पोज हुए पर वह प्रकाशित या मुद्रित नही हो पाया। दुर्भाग्यवश फिर उसकी पाण्डुलिपि भी गुम हो गयी। बाद मे शमशेर जी ने उस पाण्डुलिपि का पता लगाने की कोशिश भी बहुत की पर मिली नही। रचनावली का कहानियोवाला तीसरा खण्ड पूरा छप जाने के बाद नितान्त सयोगवाश इलाहाबाद से प्रकाशित पत्रिका पक्षधर के 1975–76 के अक मे उस उपन्यास के एक अश के छपे होने की सूचना मिली। उसे प्राप्त करके रचनावली के अन्त मे दिया जा रहा है। पर वह अधूरा भी है और खण्डित भी। यह सचमुच एक दुर्भाग्य की ही बात है कि उनका वह शायद एकमात्र पूरा उपन्यास न तो प्रकाशित हो सका और न उसकी कोई पूरी पाण्डुलिपि मिली।

कुछ अन्य प्रकार की समस्या उनकी लम्बी कहानी 'विपात्र' को लेकर हुई जो उपन्यास के रूप मे भी प्रकाशित हुई है। कहानी और उपन्यास के रूप मे अलग–अलग छपे हुए इन दोनो पाठों का ध्यान से पढने पर यह अनुभव हुआ कि वे सम्भवत एक ही कथा के दो प्रारूप रहे है, सम्पूर्ण उपन्यास नही। रचनावली में उसे कहानी के रूप मे जोडा हुआ अश भी दिया गया है। इस तरह की कठिनाई उनकी कुछ अन्य कहानियो के मामले मे भी सामने आयी। रचनावली में एक सम्पूर्ण कहानी के रूप मे प्रकाशित रचना (चाबुक) को दो स्वतन्त्र कहानियो के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। दूसरी ओर एक ही कहानी के दो अलग–अलग टुकडे, एक प्रकाशित और एक अप्रकाशित दिये गये है जो दोनो अपूर्ण है, पर दोनो परस्पर सम्बद्ध भी है। साथ ही यह

भी असम्भव नही कि अन्य पत्रिकाओ की खोज–बीन करने पर कुछ और कहानियॉ मिल जाये।

मुक्तिबोध की रचनात्मक ऊर्जा का एक बहुत बडा अश आलोचनात्मक लेखन और साहित्य सम्बन्धी चिन्तन मे सक्रिय रहा। ऐसे लेखन मे एक साहित्यिक की डायरी मे कला के तीन क्षण जैसे सूक्ष्म मौलिक विश्लेषणपरक चिन्तन से लगाकर कामयानी के ऊपर एक स्वतन्त्र पुस्तक तथा अनेक बुजुर्ग और युवा सम–कालीनो की पुस्तकोकी समीक्षाएँ आदि सभी कुछ है। आलोचना और आलोचक के कर्तव्य, नयी कतिता के रूप, रचना–प्रक्रिया आदि सवालो पर उनका आवेगपूर्ण लेखन मिलता है। यह सारा लेखन एक अत्यन्त जागरूक और रचना–कर्म के प्रति बेहद सजग, सवेदनशील और गहरी अन्तदृष्टिवाले व्यक्ति का परिचय देता है। यह बात ध्यान देने योगय है कि उनका आलोचनात्मक लेखन आकार और परिमाण में उनकी कविताओ से अधिक नही तो बराबर अवश्य है। साहित्यालोचन सम्बन्धी लेखन रचनावली के दो खण्डो मे है–चौथे मे एक साहित्यिक की डायरी और कामायनी एक पुनर्विचार तथा पॉचवे मे प्रकाशित–अप्रकाशित फुटकर निबन्ध।

एक साहित्यिक की डायरी के अन्तर्गत मुक्तिबोध की जो रचनाएँ प्रकाशित हुई, वे कहानी और आलोचनात्मक बहस–मुबाहसे का एक मिला–जुला और अपने ढग का अनोखा रूप है। अपने व्यक्तित्व और वक्तव्य की विशेष जरूरत के अनुरूप मुक्तिबोध ने इस शैली को विकसित किया। पाडुलिपियो मे उसी शैली की कुछ अन्य रचनाएँ भी मिली जिन्हे रचनावली मे शामिल किया गया है। इसके अतिरिक्त 1936 की एक अत्यन्त निजी किस्म की डायरी और ऐसे अनेक अलग–अलग या नत्थी कागज भी मिले जिनमे डायरी–जैसी शैली मे कुछ अपूर्ण रचनाएँ है। ऐसी कई–एक डायरियॉ अथवा कई–एक टुकडे रचनावली मे दिये गये हैं। इस तरह की डायरी की शुरूआत मुक्तिबोध ने नागपुर में अपने पत्रकार जीवन के प्रारम मे की थी। बाद मे

वसुधा मे भी वे ऐसी डायरी लिखते रहे। थोडी खोज–बीन करने पर सम्भव है कि इस तरह के डायरीनुमा लेख कुछ और भी मिल जाये।

अलग–अलग स्वतन्त्र निबन्ध पॉचवे खण्ड मे है। उनका विस्तार जितना विविध और बहुस्तरीय है, उनमे प्रस्तुत और विकसित चिन्तन उतना ही मौलिक तथा अन्तर्दृष्टिपूर्ण। रचनावली मे उनके स्वतत्र लेखो को किसी व्यवस्थित काल–कम मे रखने मे बहुत कठिनाई हुई, क्योकि सम्भावित रचना–काल के भी ठीक–ठीक अन्दाज का आधार बहुत कमजोर था। उनके अनेक लेखो मे विचारो और वाक्यो की पुनरावृत्ति है, जो कुछ तो इस कारण पैदा हुई होगी कि मिलते–जुलते विषयो पर उन्होने एक से अधिक अवसर पर विभिन्न पत्रिकाओ के लिए लिखा होगा। इस पुनरावृत्ति का दूसरा कारण यह भी है कि पाडुलिपियॉ गडमड हुई है और एक लेख के अश दूसरे लेख से जुड गये है। रचनावली मे यथासम्भव इस दोहरावट को हटाने और लेखो के सही रूप प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है।

छठे दशक के मध्य मे मुक्तिबोध जबलपुर मे सारथी और नया खून जैसे साप्ताहिको से सकिय रूप से सम्बद्ध रहे। नया खून के तो वे सम्पादक भी थे। इनमे साहित्यिक लेखन के अलावा उन्होने राजनीतिक विषयो पर, अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य तथा देश की आर्थिक समस्याओ पर, लगातार, अक्सर हर सप्ताह, लिखा। यद्यपि उस जमाने के मध्य प्रदेश के नौजवान लेखको को उन लेखो की कुछ याद है, पर व्यापक हिन्दीभाषी पाठक समुदाय के लिए ये लेख एक नयी खोज के समान है और मुक्तिबोध के एक नये रूप का परिचय देते है। इन लेखो को पढकर इसमे कोई सन्देह नही रह जाता कि मुक्तिबोध जितने समर्थ कवि और आलोचक थे, उतने ही समर्थ पत्रकार भी थे। इन लेखो मे अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ की बडी सूक्ष्म और विशद जानकारी दिखायी पडती है और उनमे जो टिप्पणियॉ है वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक सुपठित और सुलझे हुए पर्यवेक्षक की दृष्टि के सूचक है।

दिलचस्प बात यह है कि ये लेख भी उसी दौर मे लिखे गये जब मुक्तिबोध अपने साहित्यिक सर्जनात्मक कार्य मे भी पूरी तन्मयता के साथ जुटे हुए थे। इसीलिए इस बात से बडा अचरज होता है कि उन दिनो की राजनीतिक घटनाओ की पृष्ठभूमि के अनेक तथ्यो तथा उनके निहित पक्षो की विस्तृत जानकारी उन्होने कब और कैसे हासिल की होगी। इन निबन्धो की भाषा भी मुक्तिबोध के अन्य गद्य की भाषा से एकदम भिन्न है और कई दृष्टियो से वह आज राजनीतिक विषयो पर हिन्दी की पत्र–पत्रिकाओ मे प्रकाशित होनेवाली टिप्पणियो से कही अधिक सूक्ष्म, समर्थ और सहज जान पडती है। इन लेखो के बारे मे एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि वे सभी 'यौगन्धरायण' अथवा 'अवन्तीलाल गुप्त' जैसे छद्मनामो से लिखे गये है रचनावली के छठे खण्ड मे ऐसी सभी उपलब्ध लेख दिये गये है। मगर यह सम्भव है कि इस तरह के कुछ अन्य लेख भी हो जिनका पता उस जमाने के मध्य–प्रदेश के अखबारो आदि की छान–बीन से शायद लग सके।

मुक्तिबोध के गैर–साहित्यिक लेखन की एक अन्य महत्वपूर्ण पुस्तक है भारत इतिहास और सस्कृति। यह एक पाठ्य–पुस्तक के रूप मे लिखी गयी थी। किन्तु इसकी निर्भीक और रूढिमुक्त मौलिक दृष्टि के कारण, और कुछ उस जमाने के प्रकाशको की आपसी होड के फलस्वरूप, इस पुस्तक को लेकर विरोध और आन्दोलन हुआ और उच्च न्यायालय के एक आदेशानुसार इस पर कुछ पाबन्दियॉ लगा दी गयी। पहले इस ग्रन्थ को भी रचनावली मे शामिल करने की योजना थी, किन्तु इस पाबन्दी को ध्यान मे रखते हुए यह विचार फिलहाल छोड दिया गया। सम्भवत भविष्य मे इसका प्रकाशन हो सके और फिर रचनावली के आगामी सस्करण मे उसे भी शामिल किया जा सके।

रचनावली की सामग्री का अन्तिम और कई दृष्टियो से विशिष्ट अश है मुक्तिबोध के पत्र। मुक्तिबोध बडे तत्पर और उत्साही पत्र–लेखक थे और

उन्होने निसदेह अपने अनेक बन्धुओ,, मित्रो तथा अन्य समकालीन युवा लेखको को पत्र लिखे होगे। दुर्भाग्यवश केवल कुछ ही उपलब्ध हो पाये। जिन लोगो को लिखे पत्र मिल सके वे है वीरेन्द्रकुमार जैन, शमशेरबहादुर सिह, प्रभाकर माचवे, श्रीकान्त वर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, प्रमोद वर्मा, विष्णु चन्द्र शर्मा, अग्नेश्का सोनो, मलय तथा जगदीश। इन पत्रो मे अधिकतर साहित्यिक सवालो को लेकर चर्चा है। इनके अतिरिक्त बहुसख्यक पत्र वे है जो उन्होने मुझै लिखे थे और मेरे पास सुरक्षित रह गये। ये पत्र अधिकाशत अग्रेजी मे है, यद्यपि थोडे से हिन्दी मे भी है जो कुछ वर्ष पूर्व आलोचना मे प्रकाशित हुए थे। मुझे लिखे गये पत्र अधिकतर उनके निजी जीवन और उनकी मानसिक उलझनो से सम्बन्धित है। निसदेह ये पत्र मुक्तिबोध के तीखे जीवन–सघर्ष और गहरी मानवीय आस्था को बडी आत्मीयता और करूणा के साथ प्रकाशित करते है और उनकी कष्टभरी जीवन–यात्रा के अनेक पडावो का कुछ अता–पता देते है। यद्यपि इसमे भी बीच के कुछ वषो के पत्र मिल नही सके, और सयोग्यवश हमारे बीच यह पत्र–व्यवहार वाद के वर्षों मे उतना नियमित और उत्कट नही रह पाया, फिर भी 1942 से लगाकर 1964 तक मुक्तिबोध के पूरे जीवन के कुछ सूत्रो को इन पत्रो के द्वारा पाया और समझा जा सकता है।

मुक्तिबोध उर्दू शब्दो को उनके मूल रूप मे ही व्यवहार मे लाते थे और अधिकाशत उन्होने नुकते का प्रयोग किया है। इसीलिए पाण्डुलिपि मे नुकते जहॉ नही भी थे वहॉ उन्हे लगा दिया गया है।

सामग्री के प्रस्तुतीकरण की एक अन्य, और कई दृष्टियो से सबसे बडी तथा परेशान करने वाली, समस्या रचनाओ के काल–क्रम की थी। सच पूछा जाय तो मुक्तिबोध की रचनाओं का काल–क्रम निर्धारित करना अपने–आप मे एक शोधकार्य हो सकता है। उनकी कुछ प्रारम्भिक रचनाओ को छोडकर बाकी कही भी लेखन की तारीख अथवा वर्ष आदि दिया हुआ नही है। इसलिए यह

निर्णय बडा भारी सिरदर्द बन गया कि रचनावली मे सभी रचनाएँ काल–क्रम से रखी जाये। शुरू मे ही एक बार तो यह लगा कि यह काम किसी तरह सम्भव नही है और इतने कम समय मे तो यह कोशिश ही बेकार है। दूसरी ओर, इस बात को नजरअन्दाज नही किया जा सकता था कि मुक्तिबोध–जैसे रचनाकार के बारे मे, जिसका अधिकाश साहित्य मरणोत्तर प्रकाशित हुआ, रचनाओ के काल–क्रम की जानकारी बहुत ही जरूरी है।

इसलिए अन्त मे यह फैसला किया गया कि यदि निश्चित तारीख अथवा वर्ष निर्धारित न भी हो सके तो कम से कम एक काल खण्ड के भीतर रचना को रख सकना भी कम उपयोगी नही होगा। इस दृष्टि से यह खोज प्रारम्भ की गयी कि रचना यदि कही किसी पत्रिका में प्रकाशित हुई हो तो उस पत्रिका के नाम तथा वर्ष, मास आदि का पता लगाया जाय। कुछ कोशिश करने से अनेक रचनाओं के बारे मे यह जानकारी मिल भी गयी। इसके द्वारा कम–से–कम इतना तो निश्चित हो ही सका कि वे रचनाएँ उस प्रकाशन–तिथि के पहले ही लिखी गयी थी।

रचना–काल को कुछ अधिक निश्चित करने मे एक तत्व से बडी अप्रत्याशित सहायता मिली। मुक्तिबोध ने अपनी बहुसख्यक रचनाओ को–जिनमे कहानियॉ कविताएँ, लेख, सभी कुछ शामिल है–दूतावासो से जारी किये जाने वाले सूचना बुलेटिनो की पीठ पर लिखा है। इन बुलेटिनो मे से अधिकाश पर तारीखे भी दी हुई है। जहॉ निश्चित तारीख न मिल सकी वहॉ उनमें लिखी घटना के आधार पर तारीख और वर्ष का अनुमान करना सम्भव हुआ। इस रचनावली में दिया गया सम्भावित रचना–काल अधिकाशत इसी आधार पर निर्धारित किया हुआ है।

अनेक रचनाओ के बारे मे रमेश मुक्तिबोध ने अपने पिता द्वारा व्यवहार मे लाये गये कागजो अथवा उनके हस्तलेख मे होने वाले परिवर्तनो के आधार पर भी सम्भावित रचना–काल सुझाया।

यह भी सम्भव था कि रचनाओ के अन्तर्साक्ष्य से–उनकी भाषा, बिम्बयोजना, विषयो के चुनाव आदि के आधार पर–भी रचना–काल का निर्धारण किसी हद तक किया जाता। किन्तु इसके लिए बहुत समय चाहिए और यह अन्तत शोध का विषय है। यह आशा की जा सकती है कि इस दिशा मे किसी विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग इस काम को हाथ मे लेना जरूरी समझेगा।

निश्चित तिथि अथवा वर्ष की जानकारी के अभाव मे, और केवल काल–खण्ड ही दे सकने की स्थिति मे, रचनाओ का क्रम निर्धारित करने मे एक बडी कठिनाई और भी थी। यह कठिनाई कुछ इसलिए भी बढी कि अनेक रचनाओ के बारे मे केवल इतना ही निर्धारित हो सका कि वे अमुक वर्ष के बाद लिखी गयी होगी। कुछ ऐसी रचनाएँ भी है जो एक लम्बे दौर मे लिखी जाती रही और उनका रचना–काल आठ–दस वर्ष या इससे भी अधिक फैला हुआ है। इन रचनाओ के मामले मे सवाल यह उठा कि उन्हे शुरू करने के वर्ष के अन्तर्गत रखा जाये अथवा समाप्ति के वर्ष के अन्तर्गत।

साधारणत जिस वर्ष में रचना समाप्त होती है उसी के अन्तर्गत उसे रखना उचित जान पडता है। किन्तु मुक्तिबोध की अनेक महत्वपूर्ण कविताएँ ऐसी है जिनका लगभग सम्पूर्ण रूप किसी एक वर्ष मे तैयार हो जाने के बाद भी सशोधन आठ–दस वर्ष तक होते रहे। इस प्रकार यद्यपि उन्हे अन्तिम सशोधित रूप बहुत बाद मे मिला, मगर अधिकाश सशोधन शाब्दिक है और रचना मे निबद्ध मूल अनुभव और उसका सर्जनात्मक रूपान्तरण पूर्ववर्ती काल का ही है। इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए रचनावली में यह पद्धति

अपनायी गयी कि जहॉ रचना–काल अनिश्चित रूप से दो या अधिक वर्षों तक फैला हो, वहॉ रचना को उसके प्रारम्भिक वर्ष के अन्तर्गत रखा गया, किन्तु जहॉ किसी–न–किसी प्रकार से अन्तिम सशोधन का वर्ष ज्ञात हो सका है, वहॉ उसे अन्तिम पूर्ण सशोधन के वर्ष की रचना मे रखा गया है।

मुक्तिबोध की रचनाओ का यह काल–क्रम, किसी हद तक कामचलाऊ होते हुए भी उनकी सृजनात्मक यात्रा को समझने मे सहायक होगा, ऐसी रचनावली के सम्पादक की आशा रही है। साथ ही यह भी असम्भव नही कि बाद मे कुछ अन्य उपलब्ध तथ्यो के आधार पर कम–से–कम कुछ रचनाओ का काल अधिक निश्चयपूर्वक तै किया जा सके।

मेरी बडी इच्छा थी कि मुक्तिबोध की सारी रचनाओ से इस बहुविध, एक साथ साक्षात्कार का अनुभव क्या और कैसे रहा इसकी कुछ विस्तार से बात की जाती। मगर सामग्री के सम्पादन और प्रूफ सशोधन का काम ही लगभग अन्तिम दिन तक चलता रहा और अपनी प्रतिक्रियाओ को ठीक–ठीक परिभाषित करने और सम्भव हो तो उनसे कोई निष्कर्ष निकालने के लिए कोई अवकाश या समय नही बचा। शायद रचनावली के दूसरे सस्करण मे या अन्यत्र कही इसका अवसर मिले।

यहॉ मै केवल एक–दो बातो का उल्लेख करना चाहता हूँ। मैने इस भूमिका के शुरू मे कहा था कि मुक्तिबोध के लेखन मे उनकी ऊर्जा और उनके अपने निजी स्वर ने मुझे विशेष रूप से आकर्षित किया है। शायद यह इस कारण हो कि मेरा अपना जिन्दगी और साहित्य का सस्कार मुक्तिबोध के सस्कार से अलग और भिन्न था और यह भिन्नता आकर्षित करती थी। सस्कार की इस भिन्नता के बावजूद हमारे बीच एक गहरी आत्मीयता का जो रिश्ता 1941–42 मे शुजालपुर के दिनों मे बना, वह कई मामलो मे जीवन की दिशाऍं बदल जाने के बावजूद, और भी गहरा होता गया। शायद यह दो

परस्पर भिन्न स्वभाव और सस्कारवाले व्यक्तियो के बीच एक–दूसरे की गहरी आन्तरिक जरूरतो को पूरा कर सकने का रिश्ता था। एक निर्मल निश्छल आत्मीयता मुक्तिबोध के स्वीभाव की लुभावनी खूबी थी। इसके साथ ही थी एक बेचैनी–अपने आपको जानने की, अपने आसपास की दुनिया और उसके लोगो को, उनके और अपने, उनके और दूसरो के सम्बन्धो को समझने की। दूसरे शब्दो मे, सच्चाई को, जिन्दगी के अर्थ को, किसी तरह हासिल कर लेने की तडप। सम्भवत यह खरी और मिलावटरहित निष्ठा और कभी न चुकने वाली ललक ही वे सूत्र थे जिन्होने हम दोनो को पास खीचा और अन्त तक एक–दूसरे से बॉधे रक्खा।

उनकी सारी रचनाओ को पढकर मेरे मन पर जिस चीज की सबसे गहरी छाप पडी, वह इसी तडप और बेचैनी की है जो जिन्दगी की असलियत को पहचानने के लिए उनके मन मे थी। मुझे लगता है कि उनका सारा लेखन इसी तलाश को जाहिर करता है–एक केन्द्रीय तलाश, जिन्दगी के अर्थ की अन्तर्विरोधो से भरी हुई जिन्दगी, बेरहम पर साथ–ही इतनी आत्मीय, इतनी उजाड, पठार जैसी, फिर भी इतनी रसवन्ती। मुक्तिबोध जीवन–भर की इसी 'मालव–निर्झर की झरझर कचन–रेखा' की तलाश करते रहे और जहॉ कही इसकी एक हल्की–सी भी झलक या गूॅज उन्हे मिली, उसका उन्होने स्वागत किया, या जहॉ कही भी किसी ॲधेरे मे कोई इस कचन–रेखा के खिलाफ साजिश करता हुआ उन्हे दीख पडा तो उसको उन्होने ललकारा, चाहे वह उनका कितना ही परिचित और प्रिय क्यो न हो।

मुझे एहसास हुआ कि आधुनिक हिन्दी कविता में ऐसा कोई और नाम नही जो अस्तित्व के बुनियादी सवालो से इस तरह से जूझा हो, जिसने शोषण, उत्पीडन क्रूरता, आतक और हिसा से भरी इस दुनिया मे इन्सान की हालत और इन सबका अतिक्रमण करने की उसकी दुर्दम लालसा या कोशिशो को पहचानने और बयान करने की ऐसी अटूट और लगातार कोशिश की हो।

उनके सारे लेखन का एक ही विषय है, मानव–आत्मा की यह तलाश और उसकी जय–यात्रा। इस 'पुकारती हुई पुकार' से अपने सच्च गहरे लगाव के कारण वे इस जय–यात्रा की सारी बाधाओ और उसके विरोधियो–दुश्मनो को भी बहुत साफ–साफ पहचान सके, उनसे नफरत कर सके और अपनी इस पहचान और नफरत को अपनी कविताओ मे इतने आवेग से पेश कर सके। मुझे लगता है कि इसी कारण उनकी किसी कविता का कोई शुरू या अन्त नही है। अक्सर यह भी लगता है कि एक कविता दूसरी से खस अलग भी नही है, जैसे सब एक ही ब्रह्माण्डीय सिम्फनी के अलग–अलग 'मूवमेन्टस' भर हो, उनकी सारी कविताएँ, कहानियाँ, यहाँ तक कि दूसरा लेखन भी, जैसे एक ही थीम के अलग–अलग 'बेरियेशन्स' हो।

यह शायद मुक्तिबोध की अद्वितीयता, मौलिकता, विशिष्टता और सीमा, सबकुछ एक साथ ही है। अस्तित्व की इस बुनियादी कशमकश मे जिनकी कोई दिलचस्पी नही, या जो इनके अलग–अलग स्तरो, सतहो और वर्ण–छटाओ के प्रति सवेदनशील नही, उन्हे मुक्तिबोध का लेखन एकरस लग सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध मे विषय की विविधता की बडी कमी है और वह एक ही अनुभव को दोहराते हुए जान पडते है। मगर मुक्तिबोध के लिए वह अनुभव किसी एक कविता मे समा सकने वाला छोटा–मोटा आवेग या विचार नही, बल्कि पूरी जिन्दगी का फलक है, जिससे बाहर कुछ नही है। मेरा अनुमान है कि यही उनके रचना–जगत की मौलिकता और अपने अलग निजी स्वर तथा उससे पैदा होने वाले काव्य–रूप का स्रोत है। जाहिर है कि इसकी और विस्तार से तथा अधिक ठोस ब्यौरो के साथ विश्लेषण की जरूरत है जो सम्भव नही है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अपने सरोकारो की इस अद्वितीयता और विराटता के कारण ही मुक्तिबोध हिन्दी मे इस दौर के सबसे अप्रतिम कवि है।

मुक्तिबोध रचनावली की प्रथम एवं द्वितीय खण्ड की रचनाएं क्रम

प्रारम्भिक रचनाएँ 1935–1939

मुक्तिबोध रचनावली की द्वितीय खण्ड की

रचनाएँ क्रम

कविताएँ (1957—1964)

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1 नयी कविता नयी दृष्टि' – डॉ0 रामकमल राय (हिन्दुस्तानी एकेडमी)

2 हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य – डॉ0 रामकमल राय

3- "अधेरे मे का महत्व – डॉ0 राजेन्द्र कुमार

4 मुक्तिबोध रचनावली – खण्ड एक पृष्ठ 15 – नेमिचन्द्र जैन

5 मुक्तिबोध रचनावली – खण्ड एक पृष्ठ 15 – नेमिचन्द्र जैन

6 मुक्तिबोध रचनावली – खण्ड एक पृष्ठ 18 – नेमिचन्द्र जैन

7 मुक्तिबोध रचनावली – खण्ड एक पृष्ठ 19 – नेमिचन्द्र जैन

8 मुक्तिबोध रचनावली – खण्ड एक पृष्ठ 20 – नेमिचन्द्र जैन

9 मुक्तिबोध रचनावली – खण्ड एक पृष्ठ 22 – नेमिचन्द्र जैन

10 मुक्तिबोध रचनावली – खण्ड एक पृष्ठ 23 – नेमिचन्द्र जैन

11 मुक्तिबोध रचनावली – खण्ड एक पृष्ठ 25 – नेमिचन्द्र जैन

12 मुक्तिबोध रचनावली – खण्ड एक पृष्ठ 26 – नेमिचन्द्र जैन

13 मुक्तिबोध रचनावली – खण्ड एक पृष्ठ 27 – नेमिचन्द्र जैन

14 मुक्तिबोध रचनावली – खण्ड एक पृष्ठ 28 – नेमिचन्द्र जैन

15 मुक्तिबोध रचनावली – खण्ड एक पृष्ठ 31 – नेमिचन्द्र जैन

16 मुक्तिबोध रचनावली – खण्ड एक पृष्ठ 33 – नेमिचन्द्र जैन

17 मुक्तिबोध रचनावली – खण्ड एक पृष्ठ 33 – नेमिचन्द्र जैन

18 मुक्तिबोध रचनावली – खण्ड एक पृष्ठ 34 – नेमिचन्द्र जैन

19 अधेरे में एक विश्लेषण – नंदकिशोर नवल

20 अधेरे मे – इतिहास सरचना और सवेदना – बच्चन सिह

21 मुक्तिबोध अधेरे मे – गिरीश रस्तोगी

22 आधुनिक साहित्य का इतिहास – श्री बच्चन सिह

23 आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियॉ – डॉ0 नगेन्द्र

24 हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास – डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी

25 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तिया – डॉ0 नामवर सिह

26 भारतीय काव्य सिद्धान्त – डॉ0 नगेन्द्र

27 मुक्तिबोध का साहित्यिक विवेक और उनकी कविताऍ –

डॉ0 लल्लन राय

28 आधुनिक कविता यात्रा – डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी

द्वितीय अध्याय
हिन्दी साहित्य के
काव्य आन्दोलन और कविता का सम्बन्ध

कविता क्या है ?

'काव्य–रचना का ससार उतना ही पुरातन है जितना कि इस सृष्टि का विस्तार अथवा मानव की निज पहचान'।[1] अर्थात् साहित्य की उत्पत्ति उसी समय से हो गयी थी या मानी जानी चाहिए जिस समय से मानव ने प्रकृति की वस्तुओ की समता देख 'ऐब्सट्रैक्शन' (अमूर्तन) की क्रिया आरम्भ कर दी थी क्योकि शब्दो की व्युत्पत्ति 'ऐब्सट्रैक्शन' (अमूर्तन) की क्रिया से ही शुरू हो जाती है। इस प्रकार सृष्टि एक रचना है और सृष्टि के अनुरूप होने के काव्य भी एक रचना।[2]

साधारण अर्थ मे तो 'भावप्रेरित–वाणी' के प्रथम स्फुरण के साथ ही कविता का और बुद्धि की प्रथम क्रिया के साथ ही काव्य का जन्म मानना चाहिए। [3] क्योकि सृष्टि की प्रत्येक घटना, परिवर्तन, विस्तार और आकर्षण का प्रभाव जितनी तीव्रता और गहराई से संवेदनशील मन पर पडता है साधारण मनुष्यो पर नहीं। 'इस रूप मे मनुष्य अपने कार्यों, विचारो और व्यापारो के साथ कही मिलाता और कही लडाता हुआ अन्त तक चलता रहता है'।[4] और 'कविता इसी असम्पूर्णता की अभिव्यक्ति का एक रूप है जो रूप की भाषा द्वारा हमारे मन मे जीवन को प्रकाशित करती हैं।[5] यही नही 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के सकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक–सामान्य भाव–भूमि पर ले जाती है, जहॉ जगत की नाना गतियो के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियो का सचार होता है, इस

भूमि पर पहुँचे हुये मनुष्य को कुछ काल के लिये अपना पता नही रहता, अर्थात् वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता मे लीन किये रहता है। और उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इसी कारण उत्तर रामचरित के आरभ मे भावभूति प्रार्थना करते है–'विन्देम् देवता वाचममृतामात्मन कुलाम'[7] काव्य के रूप मे मानव की आत्मा से सविलास निसृल वाणी का इससे अधिक पवित्र व यथार्थ वर्णन शायद ही किसी स्थान पर किया गया हो जिसके अनुसार–

1 अमृत स्वरूपा है।

2 आत्मा की कला है।

3 वाग्देवी रूपा है।[8]

ध्यातब्य है कि 'काव्य सजृन एक समय सापेक्ष धारणा है और कविता एक आदिम कला रूप है।[9] जिस प्रकार जगत अनेक रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है। इस अनेक भावो का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है जबकि इन सबका प्रकृत सामजस्य जगत के भिन्न–भिन्न रूपो, व्यापारों को सामने पाकर वह नर जीवन के आरम्भ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है उनका हमारे भावो के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। और इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष और गूढ से गूढ तथ्यो के भावो के विषय या आलम्बन बनाने के लिये इन्ही मूल रूपो मे और व्यापारों मे परिणत करना पडता है। क्योकि जब तक वे इन मूल मार्मिक रूपो से नहीं लाये जाते तब तक उन पर काव्य दृष्टि नही पडती।[11] कविता के सन्दर्भ मे दस धारणा के महत्व को समझने के लिये सम्बन्धित आधुनिक विचार धाराओ को समझना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक कविता के जटिल स्वरूप को समझना भी है। संस्कृत साहित्य से लेकर आज तक विद्वानो ने काव्य की अनेकानेक परिभाषाएँ दी है। महव्पर्णू परिभाषाओं मे

कुछ काव्य की वाह्य विशेषताओ के आधार पर काव्य का लक्षण प्रकट करती है तथा कुछ काव्य की आन्तरिक विशेषताओ पर प्रकाश डालती है। काव्यकृति के विभिन्न अवयव और कृति की निर्मात्री प्रक्रिया यद्यपि दोनो सश्लिष्ट है तथापि उसके विभिन्न अगो के महत्व का निर्णय एव विवेचना की सरलता के निमित्त सपूर्ण काव्य कृति का एक अत्यन्त स्थूल विभाजन सभव है। 'हर कला कृति मे उसके दो पक्ष सर्वथा स्पष्ट होते है–

अनुभूति अथवा भावपक्ष एव अभिव्यजना अथवा कलापक्ष'[12]।

'हर कलाकृति के दोनो पक्ष यद्यपि अन्योन्याश्रित है तथा एक दूसरे से इतने सम्बद्ध है कि एक के अभाव मे दूसरे की स्थिति असभव है परन्तु साथ ही विश्लेषण के एक निमित्त होते हुए भी विभाज्य है।[13] उपर्युक्त कथन का तात्पर्य केवल इतना ही है कि काव्य का अन्तर और वाह्य दोनो एक अविभाज्य इकाई है। परन्तु इसका यह आशय नही है किसी भी काव्य कृति के रूपाकार का महत्व उसके वस्तुतत्व की अपेक्षा न्यून होता है। वस्तुत रूप आकार के विहीन कला का अस्तित्व ही असम्भव है।

पाश्चात्य लक्षणो मे सर्वप्रथम परिभाषा मिलती है 'कवि का कार्य कला काव्य है'–पोइट्री आर्ट वर्क आफ पोयट 14 इस परिभाषा मे त्रुटिया तो है ही साथ ही काव्य को निश्चित रूप से कला मानकर उसे परिभाषित किया गया है। जबकि 'कार्य' तथा 'कला' शब्द कविता के कलापक्ष की ओर ही सकेत करते है।

कॉलरिज सर्वोत्तम शब्दो मे सर्वोत्तम क्रम को कविता मानते है 'पोइट्री इज द वेस्ट वर्डस इन देअर वेस्ट आर्डर' 15 किन्तु यह परिभाषा अपने आप मे अत्यन्त भ्रमक है। सर्वोत्तम शब्द कौन से है तथा उनका सर्वोत्तम क्रम कौन सा होग, परिभाषा पहले इस स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखती है।[16]

डाक्टर जान्सन ने काव्य का डाक्टर जान्सन ने काव्य का प्रथम स्वरूप स्पष्ट करते हुए कविता की परिभाषा उसे कला मानकर दी है—काव्य वह कला है जो कल्पना की सहायता से मुक्ति के द्वारा सत्य को आनन्द से समन्वित करती है—'पोइट्री इज द आर्ट आफ यूनिटिग प्लीजर विद वाइ कालिग इमेजिनेशन टू द हेल्प आफ रीजन'[17]

चूँकि सृष्टि एक रचना है और सृष्टि के अनुरूप होने से काव्य भी एक रचना है। सृष्टि एक मौलिक निर्माण है, काव्य भी। रचना का मूल प्रतिभा कहा जाता है। प्रतिभा का उद्भव सचार की किसी शिक्षा पद्धति द्वारा नही हो सकता इसलिए प्रतिभा को प्रकृति प्रदत्त माना गया है। सृष्टि की प्रत्येक घटना परिवर्तन, विस्तार और आकर्षण का प्रभाव जितनी तीव्रता और गहराई से सम्वेदनशील मन पर पडता है साधारण मनुष्यो पर नही। अत वस्तु के वाह्य रूप और आकार के साथ ही उसमे निहित सत्य और अन्त सौन्दर्य का उद्घाटन करने वाले को कलाकार नाम दिया जाता है। वह कला की सृष्टि करता है, रचना करता है, इसलिए रचयिता है। रचना मे निहित सत्य और सौन्दर्य उसकी आत्मा से सम्बद्ध है जबकि उसका वाह्य रूप अथवा आकार प्रकार रचना के शिल्प पक्ष को उद्घाटित करता है इस प्रकार कलाकार अपनी रचना मे एक नया रूप खडा कर सत्य और सौन्दर्य का उद्घाटन करता है। साधारण लोग जिस निहित सौन्दर्य और सत्य कि कल्पना तक नही कर पाते रचना मे इसी सौन्दर्य के दर्शन कर वे प्रभावित होते है।

काव्य या साहित्य मूलत एक सृष्टि है, जिसका साधन होती है भाषा। सृष्टि और साहित्य के जन्म की प्रक्रिया बहुत कुछ अंशो मे समान है। इस सृष्टि की रचना के आधारभूत कुछ तत्व है, जिसके सगठन से सृष्टि की रचना हुई है। आकाश मेघ, नक्षत्र, समुद्र, नदी, कछार वन पर्वत, निर्झर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाडी, फूल, पशु पक्षी और मनुष्य ऐसे न जाने कितने रूप सृष्टि के अंग है। कविता जीवन और जगत की इन सब स्थितियो का चित्रण है। जो

सर्जना से पूर्व अव्यक्त होती है तथा अभिव्यक्त होकर जगत के भिन्न रूपो और व्यापारो मे सामजस्य स्थापित करती है, वैसे ही वाणी या भाषा भी।

काव्य सृजन की शक्ति जन्मजात मानी गई है। राजेश्वर तथा अन्य विद्वानो ने यद्यपि एक कारण अभ्यास भी माना है तथापि प्रतिभा न होने पर कविता सिखाई नही जा सकती है। यह भी राजेश्वर तथा वामन आदि विद्वानो की मान्यता है। मम्मट ने इसी शक्ति को काव्य का हेतु माना है उदाहरण समाधिरान्तर प्रयत्नो बाहयरत्वभ्यास।[18] यह सृजन क्षण प्रतिभा वास्तव मे नैसर्गिक ही है। रूद्रट जन्मातर सस्कार को प्रतिभा नाम देते है। यह प्रज्ञा आयासलब्ध तो हो ही नही सकती, प्रयत्न और परिशीलन से उसका परिमार्जन भले हो। हेमचन्द्र ने भी स्पष्ट लिखा है 'काव्य रचना का कारण केवल प्रतिभा ही है।' व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके सस्कारक है काव्य के कारण नही। उदाहरण प्रति वैभव कवीना काव्य कारण कारणम्[19]

भामह का तो यहॉ तक कहना है कि मन्दबुद्धि भी गुरूपदेश से शास्त्राध्ययन मे समर्थ हो सकता है पर काव्य तो कभी–कभी प्रतिभाशाली के ही भाग्य में होता है। उदाहरण "गुरूपदेशादध्यतु शास्त्र जडधियो अव्यलम्"[20] । इस सम्बन्ध मे आचार्य दडी का मत थोडा भिन्न है। उनका विचार है कि यद्यपि 'काव्य निर्माण का प्रबल कारण पूर्व जन्मार्जित प्रतिभा ही है, किन्तु प्रतिभा के अभाव मे भी श्रुत अथवा व्युत्पत्ति विधायक शास्त्र के श्रवण–मनन से तथा अभ्यास से उपासना की जाने पर सरस्वती किसी–किसी पर कृपा करती है। इस कथन का आशय यही लिखा जा सकता है कि सुख, प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास से अकुरित हो उठती है।[21]

इस प्रकार काव्य निर्माण का कारण प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास है। प्रतिभा से साहित्य सृष्टि होती है व्युत्पत्ति उसको विभूषित करती है, और अभ्यास उसकी वृद्धि। जिस प्रकार मिट्टी और जल से युक्त बीज, लता का

कारण होता है वैसे ही व्युत्पत्ति और अभ्यास के सहित प्रतिभा ही कविता–लता के बीज और विकास का कारण है। उदाहरण "प्रतिभव श्रुताभ्याससहिता कविता प्रति"। प्रतिभा, व्युतपत्ति और अभ्यास के अतिरिक्त भी कविता के कुछ कारण है और वे है मन की कुछ सूक्ष्म वृत्तियॉ जो काव्य रचना की प्रेरणा हर कलाकार को देती है, प्रमुख रूप से ये चार वृत्तियॉ है–क/आत्माभिव्यक्ति ख/सौन्दर्य प्रियता ग/स्वाभावित आकर्षण और चमत्कार प्रियता। इसमे आत्माभिव्यजना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

पाश्चात्य साहित्य मे काव्य की गणना कलाओ मे की गई। इसका कारण यह है कि काव्य मे अनूभूति, कल्पना अलकार योजना सभी को आवश्यक मानने के बाद भी पाश्चात्य आलोचको की दृष्टि काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष पर ही अधिक रही है। हमारे यहॉ काव्य को कला कभी नही माना गया। काव्य को कला न मानने का प्रमुख करण सम्भवत भारतीय दृष्टि का रस सिद्धान्तवादी होना है। भारतीय आचार्यों ने काव्य की आत्मा को ही प्रधानता देते हुए उसके वाह्य स्वरूप को चमत्कार पूर्ण एव मनोरजनकारी ठहराया है और इस प्रकार काव्य को दो पक्षों मे विभक्त कर दिया है। इस दृष्टि से काव्य का कलापक्ष अन्य कलाओं की विशेषताओ से तुलना की अपेक्षा रखता है। वस्तुत काव्य और कला दो भिन्नरूप है। विवेचन के अनुसार काव्य विद्या, कला उपविद्या है। अर्थात् कला विज्ञान से अधिक सम्बन्ध रखती है। इसकी रेखाये निश्चित सिद्धान्त तक पहुॅचा देती हैं। सम्भवत इसीलिए काव्य समस्यापूर्ति इत्यादि भी छदशास्त्र और पिगल के नियमो के द्वारा बनने के कारण उपविद्या कला के अन्तर्गत मानी गई है।

निष्कर्षत. काव्य की विस्तृत और सज्जा के लिए जो उपकरण प्रयोग मे लाए जाते है, वे सब कला के अग है। इस दृष्टि से वे सब तत्व जो काव्य का कला सवर्द्धन करते है काव्य के शिल्प कहे जाते है।

मानते है। उनका विचार है प्राय कलात्मक अनुभव के ग्रहीता को यह प्रतीत होता है कि वह उस बात को पहले से जनता था पर अभिव्यक्त कर सकने मे असमर्थ था।

क्रोचे प्रत्येक कला को अभिव्यक्त मानते है। उनके अनुसार कला अभिव्यजनाओ की अभिव्यजना नही अपितु सवेदनो की अभिव्यजना है उनके अनुसार कला यथार्थ मे आन्तरिक ही होती है। वह स्वय प्रकाशमय ज्ञान की आध्यात्मिक क्रिया है। सफल अभिव्यक्ति को ही कला मानते हुए वे लिखते है–"हम सौन्दर्य को सफल अभिव्यक्ति कहकर पारिभाषित कर सकते है। बल्कि उसे केवल अभिव्यक्ति कहना ही उचित होगा क्योकि अभिव्यक्ति ही नही है।" कला को आत्माभिव्यक्ति मानने वाला सिद्धान्त काफी विवादास्पद बना रहा है वस्तुत यह सिद्धान्त काव्य के साधारणीकरण से सम्बन्ध रखता है। सौन्दर्यनुभूति और रस निष्पत्ति का कारण भी यही माना गया है। शुक्ल जी के अनुसार पाठक या श्रोता के मन मे जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है वह जैसे काव्य मे वर्णित आश्रय पाठक श्रोता के मन मे जो व्यक्ति विशेष या वस्तु आती है वह जैसे काव्य मे वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही पाठक या श्रोता का भी आलम्बन हो जाती है। अर्थात् साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है प्रकारान्तर से क्रोचे का सिद्धान्त भी रसनिष्पत्ति के ही अन्तर्गत आता है। साधारणीकरण मे व्यक्त आश्रय का जो भाव है वह हमारा अपना भाव हो जाता है। वे क्रोचे के भौतिक जगत के अतिरिक्त किसी अन्य जगत की वस्तुएँ या अनुभूतियॉ नही होती है। वे ठोस भौतिक जगत की अनुभूतियो के समान ही होती है फिर भी उनमे यह विशेषता रहती है कि उनका विशेष तत्व तिरोहित हो जाता है। कला भावनाओ को दूसरो पर प्रतिष्ठित करने का साधन है, इस मम के पोषको मे चार्ल्स विलियम और क्लाइव बेल का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। किन्तु भावो की प्रेषणीयता का यह सिद्धान्त अभिव्यक्तिवाद का ही अग है, जिसका सम्बन्ध

साधारणीकरण से भी है, अत इसे अलग से महत्व न देकर इतना भर स्पष्ट कर देना उचित है कि कवि के रचना कौशल का एक मात्र कारण आत्माभिव्यक्ति ही है। इस तथ्य के समर्थन मे प्रोफेसर एवरक्राम्बी का मत है कि कलाकार अपने अनुभवो के क्षणो को ठीक उसी रूप मे दूसरो के मन पर उतारना चाहता है और उसके इस प्रयास मे ही शिल्प कौशल अथवा कला का जन्म होता है। इन शब्दो से प्रकट है कि अभिव्यक्ति के साथ ही कला दूसरो पर अपनी भावनाओ को प्रतिष्ठित करने का साधन भी है। स्पष्टत यह परिभाषा समन्वयात्मक है जो कला को अभिव्यक्ति और प्रभाव दोनो मानती है।

सौन्दर्य के व्यक्तिकरण का जिन लोगो ने कला माना है उसमे रवीन्द्र, ब्लैक तथा स्पेन्सर आदि का नाम आता है। रवीन्द्र के अनुसार जो सत् है, सुन्दर है, वही कला है। किन्तु सौन्दर्य का एक गुण आनन्द भी है उसका इस परिभाषा मे कोई उल्लेख नही है, जिस कलाकृति द्वारा मन मे आनन्द की अनुभूति होती है वह सौन्दर्य है। सौन्दर्य एक भावना है जिसे हम चेतन तक लाकर सजोते हैं।

कलाकार रंग, मृत्तिका आदि के माध्यम से अपनी सौन्दर्य सवेदनाओ को अभिव्यक्ति देता है, उसमे प्राण प्रतिष्ठा करता हैं, दूसरे शब्दो मे वह अचेतन मे अनुभूत सौन्दर्य भावना को मूर्त रूप देने के अनेकानेक माध्यम खोजता है और इस प्रकार अपने अनुभव किये गये सवेदनो को पदार्थनिष्ठ कर मुक्त हो जाता है दूसरी ओर भावुक दर्शक या पाठक जब कलाकृतियो का आस्वादन करता है तो अपने मनोनुकूल भावो एव चित्रो को पदार्थनिष्ठ देखकर आनन्दित होता है उसके अन्तर से इन कलाकृतियो का तादात्म्य स्थापित हो जाने पर वह कला को सौन्दर्य की संज्ञा देने लगता है। इस प्रकार कला की सिद्धि के दो अंग हो जाते है, सृष्टि और प्रसार। कला की सृष्टि का सम्बन्ध कलाकार से है जबकि उसका प्रसार पाठक, दर्शक और श्रोताओं से सम्बन्धित

है। इस विश्लेषण से यह बात स्पष्ठ हो जाती है कि कला का उद्देश्य सौन्दर्य सृष्टि है। सौन्दर्य का मानदण्ड अधिकतर व्यक्तिगत होता है।

काव्य के शिल्प से साधारणतया जो अर्थ ग्रहण किया जाता है वह काव्य की सम्पूर्ण विधाओ के भीतर अभिव्यजना का ढग विशेष तथा वह अनुक्रम है, जो रचना के प्रारम्भ से रचना के अन्त तक कुछ विशिष्ट तत्वो के माध्यम से शिल्पमूर्त किया गया है काव्य के रूप तथा वस्तु दोनो तत्वो मे निहित होने का कारण 'शिल्प' शब्द को अधिक व्यापक अर्थों मे ग्रहण किया जाता है। काव्य–कृति के निर्माण मे जिन उपादानो द्वारा काव्य का ढाचा तैयार किया जाता है वे सब काव्य के शिल्पगत कहे जाते है। निश्चय ही जिस प्रकार ईश्वर की सृष्टि या रचना का क्या प्रयोजन है, यह बताना कठिन है, पर सृष्टि बराबर चलती रहती है, उसी प्रकार यह काव्य–रचना एक सृजनात्मक आवश्यकता है जिसको पूरा किये बिना सर्जनकारी प्रतिभा से युक्त, व्यक्ति नही रह सकता। यहां पर एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि 'काव्य या कलात्मक सृष्टि की प्रेरणा कवि को कहॉ से मिलती ह ? इस प्रश्न पर मुण्डे–मुण्डे मतिर्भिन्न वाली कहावत चरितार्थ होती है, जैसे डा0 भगीरथ मिश्र का मानना है कि किसी प्रकार का अभाव या हीनता इस सृष्टि की प्रेरक है।[22]

परन्तु यह व्यापक–सिद्धान्त के रूप मे मान्य नही हो सकता, नही तो सभी हीन या अभावग्रस्त व्यक्ति कलाकार या कवि होते। यह अवश्य ही मान्य है कि कलात्मक चेतना होने पर उसका अधिक उपयोग हीन या अभावग्रस्त शक्ति द्वारा होता है क्योकि वह अभाव और हीनता की पूर्ति के लिए दूसरे क्षेत्र मे अपने आत्मा को उत्कृष्ट रूप में प्रकट करना चाहता है। जो हीन नही है उन्होने भी तो काव्य की सृष्टि की है यदि उनमें उसकी प्रतिभा या चेतना विद्यमान है। हम यह मान सकते है कि काव्यात्मक चेतना या प्रतिभा होने पर अभाव या हीनता उसे उत्तेजित अवश्य करती है जो कलाकार को

एकान्त–सेवन,समाज की विषमताओ के दृश्य, आदर्श–चरित्र के सम्पर्क और आत्म–प्रकाशन की प्रवृत्ति से भी मिलती है।

इस प्रकार काव्य का प्रमुख कार्य हमारे आन्तरिक जीवन की अभिव्यक्ति है। वाह्य जगत का वर्णन और चित्रण भी कवि ऐसा ही करता है जैसा कि उसका प्रभाव और प्रतिबिम्ब उसके मन पर पड़ता हैं। [२३]

परन्तु यह आत्माभिव्यक्ति आत्मविज्ञप्ति नही है। यह सच है कि साहित्यकार आत्म प्रकाशन की अदभुत क्षमता और सामर्थ्य रखता है फिर भी आत्मविज्ञिप्ति उसका ध्येय न होते हुए भी वह आत्माभिव्यक्ति के लिये तीव्र आकुलता का अनुभव करता है। इस आकुल आत्माभिव्यक्ति मे वह लोक भावना को ही अभिव्यक्ति देना चाहता है। वास्तव मे कलाकार की सृजन प्रक्रिया मे 'अयथार्थ' उसकी उस प्रतिभा के द्वारा ही निर्भर होता है जिसके बल पर वह अपनी अपूर्णता और अतृप्ति को एक ऐसे रूपाकार मे बदलता है जो उसे सृष्टि का ही सुख नही, सवाद का सुख देता है। अगर उसके द्वारा रचित रूपाकार आत्मबद्धता की सीमाओ में कैद होता है, तो अव्वल उसकी सामाजिक स्वीकृति का कोई सवाल नही उठाता, दूसरे वह स्वय भी तब कलाकार न होकर अन्तत मनस्तापी व्यक्ति भी अपनी हरकतो, अपनी वाणी और अपने मौन के द्वारा अपनी मर्जी की एक दुनिया रखता है पर इसमे यथार्थ को पूरी तरह झुठला देने की दुर्निवार इच्छा का योग होता है जिसके चलते वह न केवल अपनी रचना मे किसी को भी शामिल नही कर पाता बल्कि दूसरे भी उसे अपसामान्य 'एबनार्मल' व्यक्ति की तरह देखते है [24]

इस दृष्टि से देखा जाये तो यथार्थ संसार की चुनौती मे रचा गया–कला का संसार न तो कोरा यथार्थ है और न ही उसी अर्थ मे अयथार्थ इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए और फ्रायड के कला सम्बन्धी दृष्टिकोण की प्रासगिकता उजागर करते हुए डा0 गंगाधर झां ने लिखा है– पहले कदम पर

यथार्थ की उपेक्षा करके कलाकार मनस्तापी के समान व्यवहार करता है। यथार्थ को नामजूर करके एक अपना ससार रचकर वह मनोविक्षिप्त के पथ का अनुसरण करता है फिर भी इन दोनो की नियति मे कैद होने से वह इसीलिये बच जाता है कि जहा भी वह गया है वहॉ से बाहर आने का रास्ता वह कभी नही भूलता। उसका असन्तोष चूकि सबका असन्तोष है इसलिए निचाट अकेलेपन की काली गुफा उसे निगल नही पाती।

डॉ0 झॉ के इस कथन के वह अश बेहत महत्वपूर्ण है। जहॉ उन्होने कहा है कि जहॉ वह गया है वहॉ से वापस आने का रास्ता भी वह कभी नही भूलता। यह वाक्य कलाकार की सचेतना को रेखाकित करता है और उसका सृजन प्रक्रिया के सन्दर्भ मे उसके जागरूक विवेक के योगदान को भी।

कविता के ऊपर विशेष रूप से विचार करते हुए भारतीय काव्य शास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने कवि को सृष्टिकर्ता के ही रूप मे देखा और इसलिए काव्य ससार को अलौकिक तथा विलक्षण कहा, पर डा0 नामवर सिह भारतीय काव्य परपरा के इस विलक्षणत्व से अपनी युगीन मानसिकता का तालमेल नही बैठा पाते और इसलिए वे कहते है– यह आकस्मिक नही है कि सस्कृत काव्य–शास्त्र में काव्य को अपने आप में पूर्ण मानकर केवल 'चर्वण और आस्वाद' का विषय माना गया। काव्य की दुनिया से बाहर निकलकर वास्तविक जगत के साथ उस दुनिया की तुलना का प्रयास किसी आचार्य ने नही किया। इस प्रकार चाहु तो इसे शुद्ध कविता का शास्त्र कह सकते है। [26]

डा0 नामवर सिह जी जैसे आधुनिक युग के विचारकों ने कविता की शुद्धता की उस व्याख्या से अपनी असहमति प्रकट की है जिसमे व्यक्त जगत के वास्तविक अनुभवो के आधारों को तिलांजलि देकर ही कविता का आस्वाद किया जा सके। प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव मे सस्कृत के काव्य शास्त्र मे व्यक्त जगत की अवमानना है या कविता की विशिष्टता के रेखाकन का आग्रह

? क्या भाषा द्वारा रची जाने वाली कोई भी दुनिया इस अर्थ मे, इस दुनिया से विच्छन्न हो सकती है कि इस दुनिया से उसकी सवेदनात्मक सगति कायम की जा सके। वास्तव मे ऐसा नही है। यह शब्द की साधारण उपयोगिता लालित्य से जोडने वाली कला का वैशिष्ट्य है जो उसे एक विशिष्ट सरचानात्मक मूल्य प्रदान करता है।

कविता के शब्द एक दूसरे से मिल जाने के बाद जिस जादुई शक्ति से भर जाते है। वही जादुई शक्ति अपने गहरे अर्थ मे लोकचित्त का संस्कारक भी बनती है। डा0 नामवर सिह शुद्ध कविता या निरपेक्ष रूप से 'स्वायत्त' रचना का प्रश्न कविता के स्वभाव के ऊपर सन्देह करते हुए नही बल्कि अपने–अपने युगीन अनुभवो के कारण उठाते है। शुद्ध साहित्यिक मूल्यो की स्थिति भ्रामक है कविता के स्वत सम्पूर्ण ससार की सत्ता–कहकर डा0 नामवर सिह उस वैचारिक टकराहट के ससार मे लौटते है, जहॉ कविता की स्वत सम्पूर्णता की एक युगीन अर्थवत्ता मौजूद है। कहा जा सकता है कि कवि की कल्पना को लगाम देने की इस कोशिश के चलते प्राचीन काव्यशास्त्र के उस दृष्टिकोण को उन्होने थोडा धुधला बनाया है और उतने ही धुंधलेपन के साथ उन विचारो को भी देखा है। जिनमे आज की बदली हुई परिस्थिति मे कविता की सवायत्ता की मॉग दुहराई जा रही है। तत्पश्चात यह भी सच है कि बहुत सारी दूसरी परिस्थिति के चलते नामवर सिह ने यह भी महसूस किया है कि कविता के सन्दर्भ में नही बल्कि कवि के सामाजिक दायित्व बोध के सन्दर्भ मे व्यापक अर्थो मे उसकी प्रतिबद्धता को लेकर इस प्रश्न पर विचार किया जाना जरूरी है।

अत जब डा0 नामवर सिह 'शुद्ध कविता' जैसी किसी स्थिति का जिक्र करते हैं तो इसका यही अर्थ ग्रहण करना उचित जान पडता है कि वे कविता की कलात्मकता की एक खास स्थिर परिभाषा के विरूद्ध अपना वैचारिक रोष प्रकट कर रहे हैं और हिन्दी के सन्दर्भ को ध्यान में रखे तो यह स्पष्ट होते

? क्या भाषा द्वारा रची जाने वाली कोई भी दुनिया इस अर्थ मे, इस दुनिया से विच्छन्न हो सकती है कि इस दुनिया से उसकी सवेदनात्मक सगति कायम की जा सके। वास्तव मे ऐसा नही है। यह शब्द की साधारण उपयोगिता लालित्य से जोडने वाली कला का वैशिष्ट्य है जो उसे एक विशिष्ट सरचानात्मक मूल्य प्रदान करता है।

कविता के शब्द एक दूसरे से मिल जाने के बाद जिस जादुई शक्ति से भर जाते है। वही जादुई शक्ति अपने गहरे अर्थ मे लोकचित्त का सस्कारक भी बनती है। डा0 नामवर सिह शुद्ध कविता या निरपेक्ष रूप से 'स्वायत्त' रचना का प्रश्न कविता के स्वभाव के ऊपर सन्देह करते हुए नही बल्कि अपने–अपने युगीन अनुभवो के कारण उठाते है। शुद्ध साहित्यिक मूल्यो की स्थिति भ्रामक है कविता के स्वत सम्पूर्ण ससार की सत्ता–कहकर डा0 नामवर सिह उस वैचारिक टकराहट के संसार मे लौटते है, जहॉ कविता की स्वत सम्पूर्णता की एक युगीन अर्थवत्ता मौजूद है। कहा जा सकता है कि कवि की कल्पना को लगाम देने की इस कोशिश के चलते प्राचीन काव्यशास्त्र के उस दृष्टिकोण को उन्होंने थोडा धुधला बनाया है और उतने हीं धुधलेपन के साथ उन विचारो को भी देखा है। जिनमे आज की बदली हुई परिस्थिति में कविता की सवायत्ता की मॉग दुहराई जा रही है। तत्पश्चात यह भी सच है कि बहुत सारी दूसरी परिस्थति के चलते नामवर सिह ने यह भी महसूस किया है कि कविता के सन्दर्भ मे नही बल्कि कवि के सामाजिक दायित्व बोध के सन्दर्भ मे व्यापक अर्थो मे उसकी प्रतिबद्धता को लेकर इस प्रश्न पर विचार किया जाना जरूरी है।

अत जब डा0 नामवर सिंह 'शुद्ध कविता' जैसी किसी स्थिति का जिक्र करते है तो इसका यही अर्थ ग्रहण करना उचित जान पड़ता है कि वे कविता की कलात्मकता की एक खास स्थिर परिभाषा के विरूद्ध अपना वैचारिक रोष प्रकट कर रहे है और हिन्दी के सन्दर्भ को ध्यान में रखे तो यह स्पष्ट होते

देर न लगेगी कि समकालीन रचनात्मक प्रयत्नो के ससार कविता और कला की स्वत सम्पूर्णता तथा कविता और कला की सामाजिक जिम्मेदारी का प्रश्न आधुनिक युग मे दूसरी बार शिद्दत से उठाया जा रहा है।

प्रस्थान बिन्दु की तरह इस प्रश्न से शुरूआत की जा सकती है कि क्या आज हिन्दी प्रवेश की, और इस अर्थ मे सारे भारतवर्ष का रचनाकार, परिवेश मे मौजूदा विकराल समस्याओ के बिल्कुल बेखबर रह सकता है? इसका सीधा और सरल उत्तर तो यही होगा कि नही। लेकिन जब इसके साथ जुडा दूसरा प्रश्न हमारे सम्मुख आता है कि उसके परिवेश के साथ सलग्न होने की गतिप्रकृति क्या होगी ? तब यह प्रश्न थोडा जटिल हो जाता है। यह इसलिये हो जाता है कि कविता की प्रकृति, उसके रचनाकार के अनुभव की सीमाये उसके सृजन को ऑच आने वाली रचनाकालीन मन स्थिति, उसके एकदम निजी जीवन के प्रसगो की अद्वितीयता आदि बहुत सी बातें इस प्रश्न के साथ शमिल हो जाती है।

क्या यह लेखक का अपने माध्यम के साथ एक निरा भावनात्मक या सौन्दर्यपरक लगाव मात्र है ? क्या इसके पीछे कला और कविता की चिक्कन त्वचा को खरोच न लगने देने का अभिप्राय है? या इसलिए कि इसका सम्बन्ध लेखक की कल्पना से और रूपाकार के लिये जाने वाले उसके अपने एकदम निजी सघर्ष है जो बेशक उसने समाज के सदस्य के रूप मे किया है– पर एक व्यक्ति रूप मे ही, समूह के बावजूद अपने को जानते हुए। दरअसल व्यक्ति की सामाजिकता के तात्विक और मूल्य परक दोनो ही आधार उसके व्यक्ति होने से सम्बन्धित है। इस तथ्य की रचना करते हुए निर्मल वर्मा ने लिखा है–

एक समाज के भीतर व्यक्ति के होने का अर्थ ही यह है कि समाज के बाहर भी व्यक्ति के होने का एक अर्थ है। व्यक्ति एक सामाजिक तथ्य है,

सिर्फ इसलिये कि वह सामाजिक तथ्य होने मात्र से इन्कार कर सकता है। मनुष्य–समाज का निर्माण ही इसीलिये सम्भव होता है कि इस बात के चुनाव की सम्भावना बनी रहती है कि सामाजिक तथ्य नही होने की स्वतन्त्रता उसे हासिल है। अन्यथा वह समाज प्राणियो का झुन्ड या भौतिक वस्तुओ का समूह मात्र होता है। [27]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति की सामाजिकता उसके व्यक्ति होने के निषेध का पर्याय तो नही हो सकती है और एक लेखक या कलाकार का सघर्ष इसी अर्थ मे खास व्यक्ति का सघर्ष होता है, जो खास देशकाल मे वह कर रहा है। इस सघर्ष का सम्बन्ध चूँकि लेखक की चेतना मे ऐसे हिस्से से है जिसके बारे मे हमारी जानकारी उस सघर्ष घटित हो चुकने और उसकी परिणति किसी व्यक्त कलारूप मे हो चुकने मे होती है इसलिए कि माध्यम की प्रकृति का प्रश्न उठता है। वैसे भी जब किसी कलाकार की आपत्ति यह होती है कि वह किसी अनुभव या स्थिति या परिस्थिति के भॉति प्रतिक्रिया को इस माध्यम के द्वारा व्यक्त करने मे असमर्थ है तो इसका मतलब ही यह होता है उसके हिसाब से यह उस समय मान्य आधारो के कारण या बहुत काल से चली आती हुई परम्परा से विकसित माध्यम के भीतर वह किन्ही विशिष्ट अनुभवो को व्यक्त कर सके। स्थिति ठीक इसके विपरीत हो सकती है, जबकि एक खास अनुभव के कहने या रचने के लिये लेखक माध्यम के साथ गहरे द्वन्द्व का रिश्ता बनाता है और उसे बदलता है।

कविता के सन्दर्भ मे अगर बात को समझने की कोशिश करे तो पायेगे कि 'कविता' तात्विक अर्थ मे शब्दो के अलावा किसी दूसरी चीज से नही बनी है पर अपने स्वभाव में वह 'शब्दो' से निर्मित अन्य दूसरे अनुशासनों से अत्यन्त भिन्न है। अपने समीपवर्ती माध्यम गद्य से भी उसका एक अलग वैशिष्ट्य शब्द की इन विभिन्न विधाओं का अलग बने रहना स्वयं कलाकारो और उनके पारखियो या ग्राहको को जरूरी लगता है।[28]

प्रस्तुत वक्तव्य मे कविता के सम्बन्ध मे शब्दो के महत्व को, भावो की तुलना मे कही अधिक ऑका गया है। अर्थात् वह भावो का माध्यम भर नही है शब्द वे अपने मे जज्ब दुनिया को अपनी चमक और जटिलताओ से भर देते है। कविता मे शब्दो का उपयोग किसी दूसरी चीज के लिए नही होता है बल्कि एक सरचना मे वे इतने स्वतन्त्र होते है कि उनके पाठ से लगभग उसी तरह का अनुभव होता है जैसे किसी कलाकार का चित्र देख कर होता है, जहॉ रग, समग्र सरचना के अविभाज्य अग होते है और दर्शक के मनोभावो को सरल रैखित गति की ही सृष्टि नही करते।

वस्तुत माध्यम के प्रश्न को, केवल इस सन्दर्भ मे उठाना अपर्याप्त है कि एक स्थिति और परम्परबद्ध आग्रह मात्र है। शब्द का उपयोग करने वाला कोई भी माध्यम चाहे वह कविता हो या अपेक्षाकृत खुले स्वभाव का गद्य– निरे सौन्दर्य शास्त्रीय आधार पर जॉचा या परखा नही जा सकता। शब्द जो कि प्राप्त रचना मे मौजूद है प्राप्त रचना से बाहर भी न केवल मौजूद है बल्कि अनेक कवियो के साथ सक्रिय विभिन्न सृजनकालीन समय मे कवि और लेखक दोनो की दुनिया मे जब भी आते है, तब बिल्कुल प्रक्रिया की बात जब उठायी जाती है तब उसके पीछे केवल परम्परा की सुरक्षा का भाव ही काम नही कर रहा होता बल्कि युग–विशेष, वर्ग–विशेष, और व्यक्ति–विशेष के कविता सम्बन्धी आग्रह भी काम कर रहे होते है।

कविता की स्वत. सम्पूर्णता दुनिया और शुद्ध साहित्यिक मूल्यो की बात मध्य युग मे नही उठ सकती थी– इस अर्थ मे नही उठ सकती थी कि उस विचार को ललकार कर खारिज किया जाय। तब कविता की प्रकृति ही नही बल्कि समाज मे उसकी जरूरत जैसी बाते तक बहस के बाहर थी। कविता की प्रकृति या उसके सामाजिक दायित्व के प्रश्नों पर प्रकट रूप से चिन्ता न करते हुए भी, हिन्दी के मध्य युग के कवियों ने गहरे अर्थ में सामाजिक कविता ही लिखी थी– और ऐसी कविता भी जो खुलकर धर्म, दर्शन, विचार–पद्धति के

साथ अपना रिश्ता बनाती थी। कविता के लिये उन्होने जिस 'भाषा' का चुनाव किया था वही तब पडितो को मान्य थी लेकिन अन्तत उनका कवि कर्म सार्थक हुआ था, इसका प्रमाण न केवल उनकी कविता है बल्कि हिन्दी की आज तक की सार्थक कविता भी। जो अपनी सृजनात्मक परम्परा के मूल्यो के कारण ही विकसित हो सकी और सम्भवत अपनी परम्परा मे अपने युग के विशिष्ट अनुभवो को जोडकर उसे समृद्ध भी करती रही है।

इसलिए आज की परिस्थितियो मे जब लेखक या कवि माध्यम या विधा के स्वभाव की बात उठाता है तो पहले उसके सन्दर्भ को स्पष्ट करना जरूरी हो जाता है लेकिन यह सन्दर्भ भी बहुत दो–टूक शैली मे स्वष्ट नही किया जा सकता।

यही कारण है कि निर्मल वर्मा जी जब लेखक के शब्दो के ऊपर विचार करते है तो केवल उसकी शैली के ऊपर ही नहीं या अभिव्यक्ति के साधन के ऊपर नही बल्कि उसकी सृजनात्मक यात्रा के ऊपर उनका विचार केन्द्रित रहता है बहुत साफ और तीखे शब्दो मे वह कहते है कि समाज मे कविता का काम करने वाले को अपने काम के प्रति जागरूक सतर्क और आलोचनाशील होना चाहिए। विधा के प्रति उसका सरोकार उसकी प्राथमिक और बुनियादी नैतिकता है।

लेखक या कवि के निर्माण के बारे मे कहते है– कि यह आलोचना कोई बाहर की चीज न होकर खुद लेखक के सृजनात्मक 'एडवेंचर' से जुडी है–स्वय लिखने के कार्य मे अन्तर्निहित है। इसीलिये विचारों सिद्धान्तो और दर्शन से अलग से अलग लेखक की आलोचना उसकी कल्पना के बीचो–बीच केन्द्रित है। लेखक का शब्द न मंत्र, है न माध्यम, न ही तर्क संगत विचार–पद्धति, वह सिर्फ है– और उसका होना ही तीव्र ढंग से आलोचनात्मक हो जाता है। शक किसी विचार–पद्धति, वह सिर्फ है– और उसका होना ही

तीव्र ढग से आलोचनात्मक हो जाता है। शक किसी विचार का वाहक नही जब शक अपने पीछे देखता है जो खुद विचार बन जाता है। हम विचार बौद्धिकता तथा कल्पना के सृजन के साथ ही नत्थी करने मे इतने अभ्यस्त हो चुके है कि यह सोचना असम्भव लगता है कि शक से जुडकर हर कल्पना वैचारिक, हर सृजन प्रक्रिया आलोचनात्मक हो सकती है शब्द का यह चयन मनमाना रहस्यमय अलौकिक नही है। इस चयन के पीछे लेखक का समूचा नैतिक सघर्ष छिपा रहता है बल्कि यूँ कहे कि अगर लेखक की प्रतिबद्धता जैसी कोई चीज है, तो वह लेखक और शब्द के बीच सघर्ष मे ही प्रतिध्वनित हो सकती है, [29]

आशय बहुत स्पष्ट है कि विचारधारा के अनुपात रूप मे ही आलोचनात्मक विवेक की सक्रियता का प्रमाणपत्र होने की कोशिश लेखक और शब्द के रिश्ते को सरलीकृत करती है। रमेशचन्द्र शाह ने भी अपनी सहमति प्रकट करते हुए लिखा है कि– विचारो की तानाशाही के इस युग में खासकर हिन्दी कविता के इस दौर मे– जब कविता तक को विचार मे रिड्यूस कर देने का मिलवटी पुण्यात्मापन हर दिशा से उमड पड रहा है, यह न केवल महज विरोध के न्याय से, बल्कि न्याय के भी नाम से सर्वथा स्वाभाविक और उचित है कि ऐसा विचार भी सामने आये, जो इस परिस्थिति का प्रतिकार स्वय उसे उलट कर करे, यानि विचार को भी शब्द के स्तर पर कविता के स्तर पर अन्वेषित करने और प्रमाण देने की कोशिश करे। [30]

रमेश चन्द्र शाह के इस कथन मे उस सन्दर्भ को सुधारने की कोशिश की है, जो निर्मल वर्मा को शब्द मे निहित, स्वतत्र वैचारिकता को रेखाकित करने के लिये विवश कर रहा है। सन्दर्भ हिन्दी का समकालीन रचना ससार है, जहॉ कि शब्द की स्वतन्त्र हैसियत का अनदेखा करके उसके साथ जुडे लेखक के अन्दरूनी सघर्ष को दर–किनार करके विचार को–और वह भी

स्थापित विचार धारा मात्र को शब्द के ऊपर लादने की कोशिश की जा रही है।

पहला प्रश्न तो यही उठता है कि जिस अपर पक्ष की कल्पना के कारण यह बाते कही जा रही है, क्या वह अपर पक्ष अपने आप मे सचमुच मे ऐसी स्थिति पैदा कर रहा है जिसे विचारो की तानाशाही की तरह देखा जा सके? क्या यह सन्दर्भ इस विशिष्ट भारतीय या हिन्दी की समकालीन बहसो से परे होकर मौजूदा ससार की राजनीति गति से भी जुडता है। वैसे हिन्दी की समकालीन सृजनात्मकता के ससार मे विचारो की तानाशाही की जगह पर विचार–शून्यता ही ज्यादा है। ऐसी स्थिति को रेखाकित करते हुए अशोक वाजपेयी ने हिन्दी में मौजूद विचार शून्य, बौद्धिकता शून्य वातावरण को लेकर गभीर चिन्ता प्रकट की थी–

कविता मे विचारो का आत्यतिक महत्व नही है। सवाल यह है कि क्या ये विचार कुछ प्रासगिक उजागर करते है अगर नही तो वे हस्तक्षेप होकर रह जा सकते है। लेकिन यह भी सच है कि बिना विचारो के यानि किन्ही विचारो मे बिना जड़ जमाये, कविता निरी ऐन्द्रिक फुरफुरी या तुच्छ खिलवाड भर रह सकती है। विचारहीन कविता कभी भी मनुष्य की हालत की कोई सार्थक पहचान या कोई समझ उत्तेजित नही कर सकती है। यह इसलिए भी कि शुद्ध सवेदनात्मक स्तर पर फिर सवेदना कितनी भी पैनी और धारदार क्यो न हो,आज के मनुष्य और उसकी जिन्दगी की जटिलताओ तनावो और अन्तविरोधो को समझ पाना बल्कि ठीक से पहचान भी पाना असम्भव है। अगर समकालीन दुनिया और सच्चाई का उनकी पूरी जटिलता के साथ साक्षात्कार साहित्य की मूल प्रतिज्ञा है तो यह साक्षात्कार बिना विचारों मे उलझे या उन्हे जब्त किये, न तो पूरा हो सकता है और न ही गहरा और प्रासगिक। सवेदना की यो भी सीमाऐ है हर समय में, लेकिन आज जटिल होती जाती सभ्यता मे तो वे एकदम स्पष्ट और प्रखर है। [31]

इससे यह स्पष्ट है कि ज्यो–त्यो हमारी वृत्तियो पर सभ्यता के नए–नए आवरण चढते जायेगे त्यो–त्यो एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढती जायेगी दूसरी ओर कवि धर्म कठिन होता जाएगा।[32] क्योकि सभ्यता वृद्धि के साथ–साथ मनुष्यो के व्यापार बहुरूपी और जटिल होते गए तथा उसके मूलरूप बहुत कुछ आच्छन्न होते गये। भावो के आदिम और सीधे लक्ष्यो के अतिरिक्त और–और लक्ष्यो की स्थापना होती गयी। वासना–जन्य मूल व्यापारो के सिवा वृद्धि द्वारा निश्चित व्यापारो का विधान बढता गया। इस प्रकार बहुत से ऐसे व्यापारो से मनुष्य घिरता गया जिनके साथ उसके भावो का सीधा लगाव नही है।[33]

अभिप्राय यह कि कविता का कर्म अपनी सारी बौद्धिक तैयारी के बावजूद निरा बौद्धिक कर्म नही है क्योकि कवि की दृष्टि या उसकी कल्पना के द्वारा देखे जाने वाले दृश्य किसी खास समय की जबडबन्दी मे नही रहते। समय के प्रति कवि की सचेतना का अर्थ केवल इतना ही नही होता कि वह मौजूदा दृश्य को केवल उतनाभर देखे, जिसे कुछ बेहद जरूरी माना जा रहा है। कोई भी धारणा किसी भी लेखक को सिर्फ ऐसा सकेत ही दे सकती है,अन्तत यात्रा तो उस लेखक को ही करनी पडती है और उसके सामने इस तरह के एक नही कई सकेत होते है। जो उसकी सृजानात्मकता को स्पर्श किये बिना भी गुजर जाते हैं। या उसकी सृजनात्मकता मे घुलकर उसकी रचना को अधिक महत्पूर्ण भी बना सकते है।

इसलिए यह निश्चित रूप से केवल कवि के ऊपर निर्भर है कि उसकी जिज्ञासाऐ केवल सामाजिक समीकरणो पर टिकी जिज्ञासाऐ नही होती, उसके लिए चिन्ता का विषय सिर्फ मनुष्य नही होता। उसकी कल्पना और उसके स्पप्न मे बनने वाली दुनिया मे तार्किक सगति कभी प्रमुख नही रही। एक कलाकर के अन्दरूनी संघर्ष के साथ जुड कर ही निर्मल वर्मा कहते है।

अन्तत कला की प्रासगिकता की समस्या ऐतिहासिक समय पर निर्भर नही करती, वह उन प्रश्नो से सम्बन्ध रखती है, जो समाज सस्कृति, इतिहास और परम्परा से जुडकर भी कही सतह के नीचे समूचे मनुष्य की नियति को छूते है जिन्हे न विज्ञान विश्लेषित कर सकता है न कोई राजनैतिक सिद्धान्त अपने मे समेट सकता है।[34]

प्रस्तुत पक्तियो मे न हो इतिहास की उपेक्षा है और न ही विज्ञान अथवा दर्शन की अपितु इसके विपरीत, इसमे, मानवीय सृजनात्मकता के एक विशिष्ट स्वरूप की पक्ष धरता है। यह विशिष्ट स्वरूप है कला अथवा कविता जिसके प्रश्न जाने कितने युगो से दुहराये जा रहे है। ये प्रश्न इतिहास के बाहर के नही पर इन प्रश्नों की आत्यतिक सार्थकता निरपेक्ष रूप से उसके इतिहास होने मे नही बल्कि मावनी होने मे है।

क्योकि एक नागरिक एक बौद्धिक सवेदनशील व्यक्ति की हैसियत से उसे बहुत सारे रास्तो की जानकारी है पर एक कलाकार की हैसियत से उसके पास एक छोटी सी लालटेन है और अधेरे भरा रास्ता। उसके बारे मे मुक्तिबोध कहते है– चलने वाला पहले से नहीं जानता कि क्या उद्घाटित होगा। उसे अपनी पीली मद्धिम लालटेन का ही सहारा है। इस पथ पर चलने का अर्थ ही पथ का उद्घाटित होना है और वह भी धीरे–धीरे क्रमश वह यह भी नही बता सकता कि रास्ता किस ओर घूमेगा, या उसे किन घटनाओ या वास्तविकताओ का सामना करना पडेगा। कवि के लिए इस पथ पर आगे बढते जाने का काम महत्वपूर्ण है। वह उसका साहस है वह उसकी खोज हैं। .. रचना प्रक्रिया वस्तुत एक स्वायत प्रक्रिया है और वह किन्ही मूल उद्देश्यों और अनुरोधों के सहारे चलती है। वह उद्वेग और अनुरोध ही वह लालटेन है जिसको हाथ मे लेकर उसे आगे चलना होता है और यह पथ क्या है, वस्तुत. वाह्य ससार का आभ्यंतरीकृत रूप हैं।[35]

उद्वेग और अनुरोध की लालटेन और बाहरी ससार के आभ्यतरीकृत रूप का रास्ता सचमुच लेखक की प्रतिबद्धता, इतनी सरल और इतनी जटिल व्याख्या मुक्तिबोध ही दे सकते थे। स्वय उनकी कविता, उनकी इस धारणा का मार्मिक और अविस्मरणीय दस्तावेज है। वैसे भी एक रचनाकार के लिये मनुष्य के स्वभाव का सन्दर्भ वह प्राथमिक सन्दर्भ है जहॉ से वह बुराई के साथ किये जाने वाले सघर्ष की अपनी भूमिका को पहचानता है। इस पहचान की यात्रा लम्बी जटिल, और आत्मपरिशोधक यात्रा होती है। इतिहास परम्परा, विचारधाराये मौजूदा समय और दूसरे तमाम अनुशासनो के अन्तर्गत किये जा सकने वाले कामो को लेखक अनदेखा कर सकता। वह इनसे चाहे अनचाहे सबन्धित रहता है इसलिये कलाकार इनमे से किसी पर ग्रहण और त्याग की भाषा मे नही सोचता— पर उसकी कला मे ही इन सबकी सार्थक स्वीकृति हो सकती है।

रचना प्रक्रिया के मूल उपादानो की चर्चा करते हुए मुक्तिबोध ने सवदेनात्मक उद्देश्य कल्पना भावना और बुद्धितत्व को सर्वमान्य माना है। इसके साथ ही कलाकार का जीवनानुभव जो उसके अन्तर्जगत का अभिन्न अग है, उसका अपना सवेदनात्मक इतिहास आदि भी रचना प्रक्रिया के ही उपादान है। यही नही, वाह्रय से प्राप्त ज्ञानविधि और भाव—परम्परा कलाकार के अन्तर्जगत मे स्थान ग्रहण कर उसके व्यक्तित्व की आन्तरिक आवश्यकताओ की पूर्ति करती हुई अन्तर्व्यक्तित्व द्वारा सशोधित—सपादित होती हुई उसकी अपनी ज्ञान विधि तथा भाव परम्परा बन जाती है ये सभी उसके अन्तर्व्यक्तित्व मे घुलमिल कर उसके निजी हो जाते है। उनकी कविता का मूल्याकन करते समय इस तथ्य को ध्यान मे रखना होगा। उन्होने कहा है कि वह आलोचना जो रचना—प्रक्रिया को देखे बिना की जाती है आलोचना अहकार से निष्फल होती है।[36]

रचना प्रक्रिया को मुक्तिबोध ने एक खोज और ग्रहण के रूप मे स्वीकार किया है। इनका मत है कि सृजन की एकातिकता मे भी सहचरत्व होता है। सग होता है। इस सग या महत्व के बिना सृजन सम्भव नही है इसमे सन्देह नही कि काव्य–सृजन के क्षणो मे कवि अकेला होता है, वह वह काव्य–रचना एकात मे करता है, समाज के प्रति उसकी प्रतिक्रियाये भी उनके साथ होती है। एक साहित्यिक की डायरी मे 'तीसरा क्षण' लेख मे मुक्तिबोध ने अपनी रचना प्रक्रिया को प्रकारान्तर से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कला के तीन क्षणो का उल्लेख करते हुए वह कहते है कि कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते–दुखते हुये मूल्यो से पृथक हो जाना या एक फैटेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैटेसी अपनी ऑखों के सामने खडी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैटेसी के शब्दबद्ध होने के प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की पूरी पूर्णावस्था की गतिमानता शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है। प्रवाह मे वह फैटेसी अवनवर रूप से विकसित–परिवर्तित होती हुई आगे बढती हुई जाती है। इस प्रकार वह फैटेसी अपने मूल रूप को बहुत कुछ त्यागती हुई नवीन रूप धारण करती है ...फैटेसी को शब्दबद्ध करने की प्रक्रिया के दौरान जो–जो सृजन होता है–जिसके कारण कृति क्रमश. विकसित होती जाती है वही कला का तीसरा और अन्तिम क्षण है। [37]

कला के तीन क्षणों को अपनी डायरी मे विस्तार के साथ मुक्तिबोध ने स्पष्ट किया है कि इसके बिना वे कला को असम्भव मानते है। रचना प्रक्रिया सन्दर्भ में अपने अन्य निबन्धों मे उन्होने एक प्रकार से उक्त कथन की विस्तृत व्याख्या दी है। मुक्तिबोध के अनुसार फैंटेसी अनुभव प्रसूत होती है, उसकी प्रति कृति नहीं। उसी प्रकार कलाकृति फैंटेसी प्रसूत होती है उसकी प्रति कृति नहीं।

प्रथम क्षण को वे अनुभव का क्षण मानते है उसके बगैर आवेग और आगे की गति सम्भव नही है।

मानसिक प्रक्रिया को आत्माभिव्यक्ति की ओर ले जाने को पहला अजर्दस्त धक्का देने का काम प्रथम क्षण ही करता है तथा गति की दिशा भी निर्धारित करता है वह उनको एक आकार प्रदान करता है। यह अनुभव अन्य मनस्तत्वो के जुड कर मनस्पटल पर स्वय को प्रक्षेपित कर बदल जाता है। कोई विशिष्ट या गहरा अनुभव कलाकार का आन्तरिक बनने, उसके व्यक्तित्व का अग बनने की प्रक्रिया मे अपने मूल स्वरूप को जोड देता है। यह इसलिये होता है कि अन्तस्थ अन्यान्य अनुभवो के मध्य उसकी जॉच परख, उसकी काट–छॉट, उसका सशोधन और उसका सम्पादन होता है। इस प्रक्रिया मे एक समय ऐसा आता है जब अनुभव सवदेना का रूप ग्रहण करते है। सवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदना के रूप मे मूल भावना का निर्माण करते है। मुक्तिबोध निर्वेयक्तिक या तटस्थता की स्थिति को ही फैटेसी या कला का दूसरा क्षण मानते है। जो फैटेसी अनुभव की व्यक्तिगत पीडा से पृथक होकर अर्थात् उनसे तटस्थ होकर अनुभव के भीतर की ही सवेदनाओ के द्वारा उत्सर्जित और प्रक्षेपित होगी वह एक अर्थ मे वैयक्तिक होते हुए भी दूसरे अर्थ मे नितान्त वैयक्तिक होगी। [38]

उस फैटेसी मे अब तक भावात्मक उद्देश्य की सगति आ जायेगी इस उद्देश्य के माध्यम से ही फैटेंसी को रूप रग मिलेगा। लेकिन इसके बावजूद भी वह फैटेंसी यथार्थ मे भोगे हुए वास्तविक अनुभव की प्रतिकृति नही हो सकती फैटेसी मे संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदनाए निहित होती है जो सृजन का कार्य–कारण बनती है और रचना प्रक्रिया को आगे बढाती है मुक्तिबोध इसे स्पष्ट करते है। कला के दूसरे क्षेत्र मे उपस्थित फैटेसी की इकाई मे सवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवदेना कुछ इस प्रकार समाये रहते है कि लेखक उन्हें शब्दबद्ध करने के लिये तत्पर हो उठता है। [39]

यहॉ से कला का तीसरा क्षण आरम्भ होता है। इस क्षण को वह एक नये सघर्ष की शुरूआत मानते है। लेखक ज्यौ ही फैटेसी शब्दो मे व्यक्त करने लगता है उसका रग घुलने लगता है। वह प्रवाहित होने लगती है। फैटेसी का शब्दबद्ध करने की प्रक्रिया मे अनेक तत्व उसमे मिल जाते है। यह तत्व उसे निरन्तर ससोधित करते रहते है। इस फैटेसी मे एक भावात्मक उद्देश्य सन्निहित रहता है।

फैटेसी के भीतर की दशा और उद्देश्य को उसका मर्म प्राण मानते हुए मुक्तिबोध का मत है कि दिशा और उद्देश्य के मर्मप्राण को धारण कर फैटेसी गतिहीन नही रह सकती। फैटेसी गतिहीन स्थिर चित्र नही है उद्देश्य और उद्देश्य की दिशा के कारण ही वह गतिमय है। फैटेसी डायनेमिक होती है, कला के प्रथम क्षण के अन्तिम सिरे पर उत्पन्न होते ही उसकी गतिमानता शुरू हो जाती है। फैटेसी जो शुरू मे एक आभास रूप होती है वह तुरन्त ही अनेक चित्रो की सुसगत पात बनने लगती है। एक–एक मर्म के आसपास ये चित्र सगठित होकर प्रवाहमान होते है– 40 शब्दबद्ध होने की प्रक्रियाये फैटेसी मे परिवर्तित होने लगती है, मुक्तिबोध इसका कारण बताते हुए लिखते है कि चूँकि फैटेसी के मर्म को शब्दबद्ध करते समय अनेक अनुभव चित्रो का भाव सपादन करना पडता है जिसमे कि केवल मर्म के अनूकूल और उसको पुष्ट करने वाले स्वर भाव तथा चित्र ही कविता मे आ सके इस बीच यदि अन्य अनुकूल मार्मिक अनुभव तैर आये तो उसे भी फैटेसी के मर्म उद्देश्य दिशा मे प्रतिपादित कर दिया जाये अर्थात् भाषा प्रवाहित कर दिया जाय [41]

कला के तीसरे क्षण मे सब कुछ इतना बदल जाता है कि लेखक उसे नयी रोशनी मे देखता है। मुक्तिबोध के अनुसार कला का तीसरा क्षण, कला का अत्यन्त महत्वपूर्ण क्षण है यहीं से फैंटेंसी साहित्यिक कला की अभिव्यक्ति का रूप धारण करने लगती है।

कला के तीसरे क्षण मे सृजन–प्रक्रिया तीव्र हो जाती है। प्रकार कलाकर को शब्द–साधना द्वारा नये–नये स्वप्न प्राप्त होने लगते है। पुरानी फैटेसी अब अधिक सम्पन्न समृद्ध और सार्वजनिक हो जाती है यह सार्वजनिक अभिव्यक्ति प्रयत्न के दौरान शब्दो के अर्थ–स्पदनो द्वारा पैदा होती है। अर्थस्पन्दो के पीछे सार्वजनिक सामाजिक अनुभवो की परम्परा होती है। इसलिये अर्थ परम्पराए न केवल मूल फैटेसी को काट देती है। तराशती है रग उडा देती है, वरन उसके साथ ही वे नया रग चढा देती है नये भावो और प्रवाहो से उसे सपन्न करती है उसके अर्थ क्षेत्र का विस्तार कर देती है।[42]

इस अभिव्यक्ति–प्रयत्न की प्रक्रिया मे ही कवि को नये साक्षात्कार होने लगते है। मूल फैटेसी के मूल मर्म की अभिव्यक्ति पर उस सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विस्तार या प्रसार होने लगता है। उसे नये–नये साक्षात्कार होते है और एक नये साक्षात्कार दूसरे साक्षात्कार तक पहुँचाता है। इस तरह यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

प्रक्रिया के पीछे भाषा की साधना शक्ति होती है। भाषा फैटेसी को काटती–छाँटती है तथा इसके विपरीत फैटेसी भाषा को सम्पन्न तथा समृद्ध बनाती है। मुक्तिबोध मानते है कि जो कवि भाषा का निर्माण करता है, विकास करता है, वह निसन्देह महान कवि है। [43]

कला के तीसरे क्षण मे भाषा तथा भाव के बीच मूल द्वन्द्व होता है इस द्वन्द्व और सघर्ष दोनो को बदलते रहते इनमे सशोधन भी होता रहता है इस द्वन्द्व को मुक्तिबोध सृजनशील मानते हुए कहते है भाषा एक परम्परा के रूप मे फैटेसी के मूल रंग करे विस्तृत कर देती है, किन्तु काव्य ही फैंटेसी को अपने मूल रगो के निर्वाह के लिये अपने मूल रगो की अभिव्यक्ति के लिए भाषा पर दबाव लाती है। उसमे शब्दो और मुहावरों में नयी अभिव्यक्ति भर देती है कला के तीसरे क्षण मे यह महत्वपूर्ण द्वन्द्व 45 रचना प्रक्रिया का सबसे

महत्पूर्ण क्षण, यह तीसरा क्षण ही है। इस क्षण मे सारे अनुभव को 'पर्सपैक्टिव' मिलता है, मनोमय रूप तत्वो की कॉट–छॉट होती है उसकी वृद्धि होती है और भाव का निर्माण होता है।

मुक्तिबोध ने अपने नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र नामक पुस्तक मे काव्य की रचना प्रक्रिया शीर्षक लेख मे डायरी के द्वितीय क्षण अर्थात् फैटेसी तक की स्थिति को कला के प्रथम क्षण के अन्तर्गत समाहित करते हुए उसे सौन्दर्य की प्रतीत का क्षण माना है जो सामान्य जन के लिये भी सुलभ होता है कला के द्वितीय क्षण को वे अभिव्यक्ति का क्षण मानते है जो सिर्फ कलाकार को ही प्राप्त होता है।

मुक्तिबोध का मानना है सौन्दर्यानुभूति के क्षणो मे ही कला का प्रसव होता है किन्ही अन्तर्वाहन आवेगो से मन का द्रवण होकर जब वह उत्कर्ष प्राप्त करता है तब यह कहा जायेगा कि वह सौन्दर्यानुभव का क्षण है सौन्दर्यानुभव के क्षणो मे जिस प्रकार उसका मन द्रवित होकर आत्म प्रकटीकरण करना चाहेगा, करेगा। उसका काम तो सिर्फ आत्म प्रकटीकरण और सुन्दर आकृतियों का निर्माण करना है [45] और इस सबके लिए महत्पूर्ण आवश्यकता होती है ईमानदारी की। व्यक्तिगत ईमानदारी का अर्थ है– जिस अनुपात मे जिस मात्रा मे जो भावना या विचार उठा है उसको उसी मात्रा मे प्रस्तुत करना, जो भाव यह विचार जिस स्वरूप को लेकर प्रस्तुत हुआ है उसको उसी स्वरूप मे प्रस्तुत करना लेखक का धर्म है [46]

चूॅकि ज्ञान के क्षेत्र मे ही भावना विचरण करती है, इसीलिए ज्ञान को अधिकाधिक मार्मिक, यथार्थ मूलक और विकसित करने का जो सघर्ष है वह वस्तुत. कलाकार का सच्चा सघर्ष होता है। यदि कवि या कलाकार यह संघर्ष त्याग देता है तो वह सचमुच ईमानदार नही है। सच तो यह है कि व्यक्तिगत ईमानदारी के भीतर ही एक बहुत बडा संघर्ष होता है [47] यह भी सच है कि

लेखक की बुद्धि उसके हृदय को भी सम्पादित और सशोधित करती है वह बहुत से स्वानुभूत विषयो को वही के वही खत्म कर देता है अथवा यदा कदाचित, उन्हे व्यक्त करने का प्रयत्न भी करता है तो भी वह उन्हे तोड–मरोड देता है कुहरिल के स्पष्ट धुँधले सत्यो की खोज मे वह मन मे उगे हुए और उठे हुए वास्तविक तथ्यो का गला घोट देता है अथवा उन्हे विकृत बना देता है। इस प्रकार उन तथ्यो का सब एडीटिग करके वह अपनी कलात्मक अभिरूचि का परिचय देता है।[48] लेकिन इसका अर्थ यह नही कि उसके पास तथ्य का अभाव है या विषय की कमी और अभिव्यक्ति का नाकाफीपन है। वरन् बुनियादी बात यह कि उसके पास तत्वो की अत्यन्त सकुल प्रचुरता, विषयो का बाहुल्य और अभिव्यक्ति–शैलीयो का आधिक्य है इतना कि उसे यह समझ मे नही आता है कि वह काव्याभिव्यक्ति के लिए किसको चुने, किसको छोड दे।

क्योकि एक कलाकार केवल रचना मर्म के कारण ही अपने, आपसे कोई देवता या सन्त या वाछनीय कलाकार नही हो जाता। वह कहॉ तक किस सीमा तक वाछनीय कलाकार है, यह उसकी कलाकृति के अपने रूप–स्वरूप उस कलाकृति के मूल प्रेरणा पर उस कलाकार के व्यक्तित्व पर जो से कलाकृति मे प्रकट हुआ है तथा उस कलाकृति मे जो जीवन मर्म प्रकट किये गये है यदि वे प्रकट किये गये है तो इन सब पर और उनमे प्रभावो के स्वरूप पर इन सब परस्पर सन्निहित बातो पर, एक साथ निर्भर करेंगा।[49] ऐसी स्थिति मे हम कह सकते हैं कि कला, चाहे वह यथार्थवादी कला ही क्यो न हो,एक आत्मपरक प्रयास है, यह उसकी विशेषता है और बहुत बडी विशेषता। वास्तव मे कला न केवल एक आत्म परक प्रयास है, वरन् उसकी अपनी एक सापेक्ष स्वतत्रता है– वह एक व्यक्ति–सापेक्ष है, जीवन सापेक्ष है वर्ग–सापेक्ष है और युग सापेक्ष है। वह स्वतत्र भी है।

कला ही कलाकार की स्वतन्त्रता का अर्थ है कि कलाकार मन चाहे जैसे भावो को मनचाही जैसी रूप–शैली मे प्रकट कर सकता है। कलाकार की स्वतन्त्रता समाज सापेक्ष और समाज–स्थिति सापेक्ष है। मुक्तिबोध कहते है यह निर्विवाद है लेकिन यह स्वतत्रता कहने भर की बात है। कलाकार को तो केवल यह देखना है– यदि वह मानव–धर्म और मानव न्याय बुद्धि की भावना रखता है (सब कलाकार ऐसा नही करते) कि वह सर्वोच्च मानव–मुक्ति के लक्ष्य की स्थिति कहॉ पाता है और कहॉ नही पाता अर्थात् जिस प्रकार की भावदृष्टियो मे वह अपनी अनुकूलता पाता है और किस प्रकार की भाववृत्तियो मे नही। दूसेर शब्दो मे किस प्रकार के सोशल सैक्शन्स उसके अनुकूल और किस प्रकार के नही। [50]

नि सन्देह मूलभूत अन्तिर्विरोधो से ग्रस्त समाजो मे, लेखक वर्ग मे भी कलाकार वर्ग मे भी, सोशल सैक्सन्स अर्थात् सामाजिक निर्बन्धो के प्रति भिन्न–भिन्न दृष्टिया होती है, तथा न केवल वे दृष्टियॉ भिन्न–भिन्न होती है वरन् परस्पर विरोधी भी हो सकती है। ऐसी स्थिति मे, कोई एक भाव दृष्टि अथवा कुछ समानता मूलक भावदृष्टियो का समूह, सामाजिक प्रभाव तथा प्रतिष्ठा सम्पन्न उच्च पदासीन वर्गो द्वारा मान्यता प्राप्त हो जाते है। शेष दृष्टि या दृष्टिया मलिन भाव की सूचक, निम्न भाव की सूचक, निम्न पदासीन तथा रिक्त और अर्थहीन करार हो जाती है। ऐसे बिन्दुओ को दृष्टिगत कर मुक्तिबोध प्रश्न पूछते है क्या यह सत्य नही कि जीवन मे प्राप्त विशेष अनुभवो और विशेष भाव–प्रेरणाओ को ही लेखक प्रकट करता है तथा इन अनुभवो और भाव–प्रेरणाओ को वह व्यक्त नही करना चाहता या उन्हे व्यक्त करने की व्याकुलता उसमे उत्पन्न नही होती। [51] यह सत्य है कि मनुष्य स्वभावत. जो सुकर है जो सुगम है उसी को ही अपनाता है जो कठिन है जो श्रम–साध्य है उसे वाह्यत मूल्य प्रदान करते हुए भी अपनाता नही है। उसकी यह आदत अपने जीवन ही के मूल्यवान तत्वो को अभिव्यक्ति प्रदान नही करने देती।

परिणामत स्वय के ही कुछ आवृत और पुनरावृत्त भावो और अभिव्यक्ति पद्धति को भले ही उसके जीवन मे वस्तुत विशेष स्थान न रखते हो दुहराता रहता है, उन्ही की जुगाली करता रहता है ऐसी स्थिति मे यह कहना कि कलाकृति मे कवि–कलाकार आत्मोद्‌घाटन करता है अत्यन्त सकुचित और वायवी अर्थ ही मे सही हो सकता है [52]

क्योकि कलाकार चाहे कितना महान क्यो न हो जीवन–जगत की तुलना मे उसका अन्तर छोटा ही है। इसलिए, वह जीवन–जगत के बिम्बो प्रेरणापूर्ण दृश्यो, भाव–विचार धाराओ के सार तथ्यो को पीता रहता है या पीते रहना चाहिए। इस प्रकार की प्रवृत्ति यदि उसमे है तो वह वाह्य–अनुरोधो को और आग्रहो को अपने सवेदनशील विवेक द्वारा ग्रहण कर उन्हे अपने ढग से आत्मसात् करता रहता है। रचनाकार–कलाकार भले ही इस तथ्य को अस्वीकार कर दे कि वाह्य–अनुरोधो या आग्रहो को कदापि नही मानता, किन्तु यह सच है कि वह अपने ढग से उन्हे किसी न किसी रूप मे स्वीकार करता रहता है। जहॉ भी और जिसमे भी उसे सत्याश दिखायी देता है उस–सत्यांश को वह सोख लेता है।

मुक्तिबोध का मानना है– किसी भी कलाकृति मे लेखक की जीवन–दृष्टि अवश्य प्रकट होती है। [53] और उस युग मे उस काल–विशेष मे, जबकि मानव समस्याये अधिकाधिक एकत्रित और विकसित होती जाती है यह स्वाभाविक ही है कि लेखक कलाकार उनसे प्रभावित हो और उन्हे अपनी कलात्मक चेतना के विषय बनायें। अगर वह किसी कारण से–जैसे राजनीतिक कारणों से उन समस्याओं के स्वाभाविक तर्क सगत समाधानो को स्वभावत और पूर्णत प्रकट नही कर पाता अथवा उन समस्याओ की वास्तविक रूपाकृतियो को स्वभावत. और पूर्णत. प्रकट करना अपने लिये खतरनाक समझता है तो वैसी स्थिति मे वह उन्हीं समस्याओ के प्रतिविम्बन को बदलकर सिर्फ इशारेबाजी से उन्हें बताता–समझाता हुआ आगे बढ जाता है। दूसरे

शब्दो मे किसी न किसी प्रकार से वह उन्हे प्रत्यक्षत या परोक्षत सूचित अवश्य कर देता है और उसके आधार पर एक मानव–कथा या साकेतिक मनोवृतान्त उपस्थित कर देता है। [54]

ध्यान देने योग्य बात है कि कलाकार को उसके जीवन के स्पर्श से बचाया नही जा सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि कलाकार को ऐसी भूमिका प्रदान की जाये वह उन मनोवृत्तियो के पजे मे न आये। [55] यह भी सच है कि यदि कवि, कलाकार, किसी शास्त्रीय पुस्तक के पास न भी पहुँचे तब भी मनुष्य होने के नाते वह समस्याओ के प्रति सवदेनशील अवश्य होता है। यदि वह उन समस्याओ के प्रति सवेदनशील है तो वह उनका चित्रण इस प्रकार क्यों नही कर पाता कि जिससे वह एक मानव समस्या के रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत हो? [56] निश्चय ही इसमें कवि–धर्म जाग्रत के भाव लक्षित है वह भी ईमानदारी के साथ। यह व्यापाक मानव जीवन तक पहुँचने के लिए पहला कदम, पहली सीढी है। व्यक्ति समस्या को मानव सम्पन्नता बनाकर तभी प्रस्तुत किया जा सकता है जब हम उस समस्या से पूर्ण तटस्थ हो और फिर उसमे भीगे, रमे और इस प्रकार उस सारे ताने–बाने को देखें जिससे मानव–जीवन बना हुआ है अपनी स्थिति मे और अपने विकास मे।

संक्षेप मे हमे केवल तथाकथित बनने वाले ज्ञान के क्षणो के बाहर जाना होगा और भाव का आधार बनने वाले ज्ञान का विस्तार करना होगा। केवल एक क्षण के उत्कर्ष का चित्रण करने के बजाय हमे लम्बी नजर फेकनी होगी और वह सारा ताना–बाना अकित करना होगा जिससे वह समस्या एक विशेष काल और परिस्थिति मे, रग और रूप में विकसित और ग्रन्थिल हुई है।

मुक्तिबोध का मानना है कि कविता एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है सृजन प्रक्रिया के दौरान एक विलक्षण बात प्रस्तुत होती है। एक तो यह कि विशिष्ट जब सामान्य मे घुलता है तब उस विशिष्ट के कारण कवि की आत्मकबद्ध

दशा का जो सवेदात्मक पुज है वह तो स्थायी रहता है किन्तु उस बद्धता के घेरे की दीवारे नष्ट हो जाती है। [57]

इस प्रकार कवि–मन सवेदनात्मक पुज धारण करते हुए भी– जो पुज उसकी आत्मबद्ध स्थिति मे उदबुद्ध हुये थे– सामान्य भूमि पर आकर जीवन–मूल्यो और जीवन–दृष्टियो तथा अनुभवो से मिलकर अपने मे व्यापक महत्व और प्रकाश से युक्त कर लेते है। अतएव उन सवेदना पुजो मे दर्शक मन को एक अद्वितीय आनन्द प्राप्त होता है। विशिष्ट को सामान्य करने के हेतु कवि मन वेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित होकर निरन्तर भाव सशोधन और भाव सपादन करता रहता है जो कवि की आन्तरिक क्रिया का एक अग है,

सच तो यह है कवि सृजन प्रक्रिया के दौरान मे निराला जीवन जीता है उसे उस जीवन को ईमानदारी से आग्रह पूर्वक ध्यान लीन होकर जीना चाहिए। नही तो बीच–बीच मे सांस उखड जायेगी और उसके फलस्वरूप काव्य मे खोट पैदा होगी।[58] यह बात भी ध्यातव्य है कि वाह्य का आभ्यन्तरीकरण मात्र मानव जन्य नही, वरन् कर्म जन्य भी है। जो हो कला आभ्यन्तर के बाह्यीकरण का एक सत्य है जिससे सामजस्य या द्वन्द्व अथवा दोनो के मिश्र–रूप उपस्थित होते है। वह इस अर्थ मे भी सास्कृतिक प्रक्रिया है कि लेखक, शिक्षा, सस्कार और परपरा से क्षालित और पमिमार्जित जो भाव समुदाय है उन्हे निज विशिष्ठ–अनुभव से ऊपर उठाकर, सर्व–सामान्य–भूमि पर स्थापित करते हुए सर्वविशिष्ट बना रहा है।

मुक्तिबोध कहते हैं कि यह सब सही है किन्तु इस अर्थ मे वह सांस्कृतिक प्रक्रिया नही है कि लेखक काव्य मे नेतृत्व प्रदान करता है। वह सामान्य मानव के रूप मे सामान्य किन्तु प्रधान भावनाये प्रकट करता है वे भावनाये जो उसकी स्थिति को सूचित करती है। ...और इस प्रकार की भावनाये यदि सौन्दर्य पूर्ण होकर कलात्मक स्वरूप धारण कर काव्य में प्रस्तुत

होती है बशर्त कि भावना रूप मे प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट होने वाले जीवन–मूल्य उचित हो और यथार्थ की सम्वेदनात्मक व्याख्या सही हो तो नि सन्देह वह कविता या काव्य पाठक को मानव–यथार्थ मे अन्तर्दृष्टि प्रदान करेगा, सम्वेदानात्मक जीवन–मूल्य प्रदान करेगा, उसकी सवेदनाओ को उद्‌बुद्ध करके उसे अधिक सवेदनक्षम बनायेगा। [59]

यहॉ एक मार्मिक प्रश्न उठता है कि यह सामान्य क्या है? इसका उत्तर देते हुए मुक्तिबोध कहते है वे जीवन–मूल्य है वे जीवन दृष्टिया है जो कवि ने अपने वाह्य विस्तृत जीवन मे पाई है। [60] वस्तुत सृजन प्रक्रिया के अन्तर्गत विशिष्ट को सामान्य बनाने की यह क्रिया तभी शुरू हो जाती है जब कवि कला के प्रथम नेत्रो के सामने तरगायित और उद्‌घाटित हो उठता है। आगे चलकर समरूप अनुभवो के मिलते हुए,वह मनोमय तत्व जब जीवन–मूल्यो और जीवन–दृष्टियो से अपना संगम करता है तब वह और भी सामान्य हो उठता है। इसलिए मुक्तिबोध को सम्भवत यह कहना पडता है कि कविता मे कवि का आत्मोद्‌घाटन उतना विश्वसनीय नही है जितनी कि उसकी सामान्य भूमि। [61] यही कारण है कि कविता की कला अन्य साहित्यिक कलाओ की तुलना मे अधिक अमूर्त और अधिक सामान्यीकृत होती है। [62]

मुक्तिबोध कलाकृति विषयक स्थापनाओ की प्रकृति को सक्षेप मे, इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है:–

1 कलाकृति के मूल तत्व वास्तविक जीवन के अनुरूप तत्वो मे से उद्‌गत होते है। और वे उसकी सारभूत विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करते है।

2 कलाकृति मे चित्रित जीवन, सारत वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करते हुए भी स्वरूपतः उससे भिन्न होता है–वस्तुत वह कलाकार की विधायक कल्पना पुनरचित जीवन होता है।

3 कलाकृति मे, कल्पना की सृजानात्मक भूमिका के कारण ही , वास्तविक जीवन और पुनर्रचित जीवन की गुणात्मक अन्तर उत्पन्न हो जाता है। यह सृजनात्मक भूमिका और गुणात्मक अन्तर कला की स्वायत्ता को रेखाकित करते है।

4 कलाकार की विधायक कल्पना द्वारा पुनर्रचित जीवन और वास्तविक जीवन के बीच जो अलगाव होता है, उनकी जो पृथक–पृथक स्थिति होती है, उस अलगाव और पृथक स्थिति के कारण ही कला के भीतर के सारे मूर्त विधान के बावजूद उस कला मे मूलबद्ध रूप से एक अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण उत्पन्न हो जाता है यह अमूर्तीकरण इसलिये उत्पन्न होता है कि जीवन की पुनर्रचना, जिये और भोगे गये जीवन से सारत एक होते हुए भी उससे कुछ अधिक होती है यह बात महत्व की है जीवन की यह पुरर्नरचन, जिस वास्तविक जीवन से सारत एक है और जिसका वह प्रतिनिधित्व करती है, वह पुनर्रचना जिये और भोगे गये या जिये और भोगे जाने वाले जीवन की वास्तविकताओ के साथ ही तत्समान सारी वास्तविकताओ और तत्सदृश्य सारी सम्भावनाओ का प्रतिनिधित्व करता इसीलिए उसमे सारभूत 'विशिष्ट' विकसित और परिणत होकर सामान्य बन जाता है– प्रतिनिधिक हो जाता है। विशिष्ट और सामान्य के द्वन्द्व की उन्नतर एकीभूत स्थिति मे ही कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना होती है–कलाकृति बनती है।[63]

लेकिन आज विचारणीय सवाल यह है कि लोकप्रिय कविता का स्वरूप क्या है ? कविता की तात्कालिक लोकप्रियता और लोकप्रिय कविता में फर्क करना जरूरी है। तात्कालिक और व्यावसायिक लोकप्रियता पा जाने वाली हर लोकप्रिय कविता नहीं होती। कवि सम्मेलनों और व्यावसायिक पत्रिकाओं के सहारे बाजारू लोकप्रियता प्राप्त करने वाली रोमानी और हास्य–व्यग्य की हर कविता लोकप्रिय कविता नहीं की जा सकती। मध्यकाल के अनेक सन्तो की

रहस्यवादी और आध्यात्मिक कविताये आम जनता मे लोकप्रिय है लम्बे काल से पाठ्यक्रम मे रहने के कारण रीतिकाल के बिहारी जैसे कवियो की कविताये भी पढे लिखे लोगो के बीच लोकप्रिय है, लेकिन इन सबको लोकप्रिय कविता नही कहा जा सकता। लोकप्रिय कविता, कविता की एक विशिष्ट धारणा है। उसका एक विशेष चरित्र होता है। अपने समय के समाज और जनता की इच्छाओ, भावनाओ, जीवन उद्देश्यो, जीवन स्थितियो और संघर्षो की अभिव्यक्ति करने वाली कविता ही लोकप्रिय कविता होती है। लोकप्रिय कविता मे जनता की सघर्ष शीलता के साथ–साथ उसकी सृजनशीलता की भी अभिव्यक्ति होती है। लोकप्रिय कविता कला हीन नही होती, लेकिन केवल कला की आराधना उसका उद्देश्य नही होता। वह जनता के जीवन की कविता होती है और जनता के लिये कविता होती है। लोकप्रिय कविता अपने समय के समाज और जनता की आवाज होती है, एक ऐसी आवाज, जिसे जनता सुन सके और समझ भी सके।

लोकप्रिय कविता यथार्थवादी कविता होती है। ऐसी कविता दृष्टिकोण और शिल्प दोनो ही स्तरो पर यथार्थवादी होती है। यथार्थवाद जीवन की विकासशीलता मे आस्था रखने वाली रचना दृष्टि का सिद्धान्त है वह केवल अभिव्यजना–पद्धति ही नही है। रचना का स्वरूप सामाजिक यथार्थ और रचना के भीतर के यथार्थ के सम्बन्ध से निर्धारित होता है कि यह ठीक है कि रचना के भीतर का यथार्थ सामाजिक यथार्थ का प्रतिबिम्ब होता है, लेकिन दोनो एक ही नही होते। प्रतिबिम्ब की रचनात्मक प्रक्रिया मे मूलवस्तु मे बहुत कुछ जुड जाता है और उनमे से बहुत छूट भी जाता है। रचनाकार अपने दृष्टिकोण और सृजनात्मक कल्पना के सहारे सामाजिक यथार्थ पुनर्रचित करके रचना मे व्यक्त करता है, इसीलिए उसमें बाहर के यथार्थ के साथ–साथ रचानाकार का निजी दृष्टिकोण, रचनात्मक उद्देश्य और व्यक्तित्व भी प्रकट होता है एक रचनाकार का सामाजिक यथार्थ को देखने का दृष्टिकोण मूलवस्तु का गुणधर्म

बनकर रचना मे प्रकट होता है। यथार्थवादी रचनादृष्टि के अनुसार निर्मित कृति मे व्यक्त यथार्थ और उसके मूलाधार यथार्थ के बीच प्रत्यक्ष और सीधा सम्बन्ध होता है लेकिन जहॉ रचना मे विचार को वस्तु से और भाषा को यथार्थ से एकदम स्वतन्त्र माना जाता है। वहॉ यथार्थवाद की कोई सम्भावना नही होती। ऐसी रचना दृष्टि से निर्मित कविता कभी लोकप्रिय नही होती।

अत लोकप्रिय कविता के विकास के लिए लोकप्रियता और यथार्थवाद की एकता आवश्यक है। इस शताब्दी के महान जनवादी रचनाकार 'ब्रेख्त ने लोकप्रियता' और यथार्थवाद की धारणाओ की जो व्याख्या की है, उस पर ध्यान देना जरूरी है।

ब्रेख्त के अनुसार लोकप्रिय वह है जो व्यापक जनता के लिये बोधगम्य हो, जो जनता के अभिव्यक्ति रूपो को अपनाये और उन्हे समृद्ध बनाये जो जनता के दृष्टिकोण को स्वीकारे और सुधारे जो जनता के सर्वाधिक प्रगतिशील हिस्से की नेतृत्वकारी शक्ति का चित्रण करे, जो प्रगतिशील परम्पराओ की तलाश करे और उन्हे समृद्ध करे, जो वर्तमान शासक–वर्ग के बदले राष्ट्र और समाज का नेतृत्व करने के लिये संघर्षशील जनता तक पहुॅच सके। ब्रेख्त ने यथार्थवाद की जो व्याख्या की है वह उनकी लोकप्रियता की धारणा से अविभाज्य रूप से सम्बद्ध है। ब्रेख्त के अनुसार–"यथार्थवाद का उद्देश्य है समाज की कार्य–कारण–प्रक्रिया की जटिलताओ की खोज करना समाज मे शासक वर्ग की हावी विचारधारा को बेनकाब करना, वर्तमान समय मे मानव समाज जिन भीषण कठिनाइयों से गुजर रहा है उनसे मुक्ति के सर्वाधिक व्यापक उपाय पेश करने वाले सर्वहारा–वर्ग के दृष्टिकोण से रचना करना, विकासशील तत्वो को महत्व देना सम्भावनाओ को मूर्तरूप देना और ठोस वस्तु स्थिति से सम्भावित सामान्य निष्कर्ष निकालना।" ब्रेख्त की लोकप्रियता और यथार्थवाद की धारणाओं की सच्ची एकता के आधार पर विकसित रचना–दृष्टि से ही लोकप्रिय कविता का विकास हो सकता है।

यथार्थवादी रचना दृष्टि का निरन्तर विकास करते हुए अपनी रचनाओ मे लोकप्रियता और कलात्मकता के बीच सृजनात्मक एकता लाने का काम आसान नही है। इसके लिये जनता और रचना से गहरी प्रतिबद्धता, दोनो ककी विकासशीलता मे गहरी आस्था और दोनो की विकास–प्रक्रिया की सही समझदारी जरूरी है। मुक्तिबोध ने कविता को जनचरित्री कहा है। कविता और जनता के चरित्र की बुनियादी एकता को समझने वाले रचनाकार ही लोकप्रिय कविता का विकास कर सकते है। जनता और कविता के चरित्र की बुनियादी एकता को समझने के लिऐ रचनाकारो को जनता से सच्ची सहानुभूति स्थापित करना जरूरी है।

सक्षेपत कविता के मूल बिन्दुओ को निम्न रूप से निर्दिष्ट किया जा सकता है–

1 अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम होना चाहिए।

2 भावना और कल्पना की प्रधानता होनी चाहिए।

3 सरसता और रमणीयता की पूर्ण प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

4. कम से कम शब्दो मे अधिक से अधिक भाव और चित्रो को स्पष्ठ करने की क्षमता होनी चाहिए। अर्थात् कि बहुना प्रलापिता।

5 प्रतीकात्मकता, रूपकात्मकता और अन्योक्तिपरकता

6 भाषा भावपूर्ण, चित्रात्मक और ध्वनिमूलक होनी चाहिए क्योंकि अभिव्यक्ति मे एक विचित्र प्रवेश तथा मार्मिकता होती है।

7 उसमे किसी प्रकार की कथात्मकता नहीं पायी जानी चाहिए। विचार द्रष्टव्य ध्वनिक्रम के–नहि कवेरिति–वृत्तमात्र निर्वाहणात्मपद लाभ.।

8 बुद्धितत्व के साथ हृदय तत्व का सामंजस्य होना चाहिए।

कविता से सम्बन्धित उपरोक्त बिन्दुओ को चित्रित करने के पश्चात् इस मार्मिक स्थल पर इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कविता क्या नही है? कविता के गुरूतर दायित्व को और अधिक स्पष्ट रूप से चित्रित करते हुए डा0 जगदीश गुप्त ने नयी कविता स्वरूप और समस्याओ मे लिखा है– काव्यो को नियोजित करने वाले तत्वो तथा नियोजन कर्ता कवि के विचारो मे परिस्थिति भेद से अन्तर भले ही आ जाये परन्तु किसी भी दशा मे अव्यवस्थित एव असयोजित कथन को कविता नही कहा जा सकता। क्योकि कविता ऐसे स्वातत्र्य पर विश्वास नही करती जो दायित्वहीन हो इस दायित्वहीनता के लिये उसे न वह युग क्षमा करेगा जिसके अनुरूप अपने को ढालते हुए वह यथार्थ को व्यक्त करना चाहता है और न ही आगामी युग। [64] कविता की चिरजीविता के बारे मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है– चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा। काव्य तो मानव–जीवन की असफलता और निराशा की दशा मे आशा का सचार करता है तथा मरणशील व्यक्तियो को भी अमर बनाकर सुरक्षित रखता है। वास्तविक जीवन और जगत की भूमि पर ही काव्य के काल्पनिक जीवन का प्रसार और विकास होता है। वह हमारे जीवन को नित–नूतन प्रेरणाऐं देता रहता है जिसका हमारे जीवन मे शाश्वत महत्व है। इस प्रकार काव्य समस्त मानवता की सम्पत्ति है जिसकी अन्त प्रकृति मे मनुष्यता को जागृत रखने के असीमित गुण विद्यमान है। [65]

इस सम्बन्ध मे ठीक ऐसे ही विचार ही दृष्टिकोण मुक्तिबोध के भी उल्लेखनीय है–

आधुनिक काव्य काल बहुत दिनो तक रहेगा क्योकि वह मानव जीवन के ऐसे–ऐसे अमर तत्वो से सजीवित हो उठा है जो हमें निरन्तर उसके प्रति सत्य–निष्ठ और श्रद्धायुक्त बनाए रखता है। हम जीवन के प्रति अधिकाधिकय प्रमाणित होत जा रहे है, हमारी कल्पना हमे नील–गगन के अथाह–शून्य मे भटकती नही वरन् जीवन को उसके यथार्थ रूप से ग्रहण कराते हुए उस ओर उठा ले जाती है। [66]

द्वितीय अध्याय

सन्दर्भ ग्रन्थ

(अ) कविता क्या है ?

1 कविता और हिन्दी कविता–नरेश–पेज–15

2 बृहदारण्यकोपनिषद–1/2/1

3 विचार और विवेचन–डा0 नगेन्द्र–17

4 चिन्तामणि– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–93

5 आधुनिक हिन्दी कविता मे शिल्प–कैलाश बाजपेयी–3

6 चिन्तामणि–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–93

7 उत्तर रामचरित–भवभूति–भूमिका

8 भारतीय काव्य–सिद्धान्त–डा0 नगेन्द्र–30

9 प्रतिबद्धता और मुक्तिबोध का काव्य–प्रभात त्रिपाठी–भूमिका

10 चिन्तामणि–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–93

11 चिन्तामणि–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–94

12 आधुनिक हिन्दी–काव्य. रूप और सरचना–निर्मला जैन–15

13 आधुनिक हिन्दी–काव्य रूप और संरचना–निर्मला जैन–12

14 इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका–वायलूम 9–144

15 बायोग्राफिया लिटरेरिया 1857– एस0टी0 कॉलरिज

16 काव्य–शास्त्र–डा0 भगीरथ मिश्र–12

17 लिव्स आफ इग्लिश पोयट्स–डा0 जॉनसन

18 काव्य–मीमासा–चतुर्थ अध्याय–राजशेखर

19 काव्यानुशासन–प्रथम अध्याय–हेमचन्द्र

20 काव्यालकार–प्रथम अध्याय–हेमचन्द्र

21 काव्यादर्श–दण्डी

22 काव्य के स्वरूप सिद्धान्त और समस्याओ का प्रामाणिक विवेचन–डा0 भगीरथ मिश्र–29

23 चिन्तामणि–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–173

24 प्रतिबद्धता और मुक्तिबोध का काव्य–प्रभात त्रिपाठी–48

25 अविचारित रमणीय का मनोविज्ञान मूल्य और मुक्ति–डा0 गगाधर झॉ

26 कविता के नये प्रतिमान–डा0 नामवर सिह–227

27 कला का जोखिम, कला और समाज–निर्मल वर्मा–27

28 शब्द और स्मृति–निर्मल वर्मा– 46,47

29 शब्द और स्मृति–निर्मल वर्मा 52

30 वागर्थ–रमेशचन्द्र शाह–144

31 फिलहाल–अशोक बाजपेयी–1970–140

32 चिन्तामणि–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–94

33 चिन्तामणि–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–94

34 कला का जोखिम–निर्मल वर्मा–45

35. नयी कविता का आत्मसंघर्ष–मुक्तिबोध रचनावली–खण्ड पॉच–332

36 नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र–मुक्तिबोध–52

37 एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–17

38 एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–17

39 एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–19

40 एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–20

41 एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–21

42 एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–24

43 एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–28

44 एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–25

45 नयी कविता की प्रकृति–मुक्तिबोध रचनावली पॉच–325

46 कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी एक–मुक्तिबोध रचनावली चार–106

47 कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी दो–मुक्तिबोध रचनावली चार–112

48 कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी:तीन–मुक्तिबोध रचनावली चार–121

49 रचनाकार का मानवतावाद–मुक्तिबोध रचनावली–349

50 रचनाकार का मानवतावाद–मुक्तिबोध रचनावली पॉच–332

52 रचनाकार का मानवतावाद–मुक्तिबोध रचनावली पॉच–345

53 नयी कविता की प्रकृति–मुक्तिबोध रचनावली पॉच–321

54 हिन्दी काव्य की नयी धारा–मुक्तिबोध रचनावली पॉच 316

55 नयी कविता की प्रकृति—मुक्तिबोध रचनावली पॉच—325

56 नयी कविता की प्रकृति—मुक्तिबोध रचनावली पॉच—323

57 नयी कविता का आत्मसघर्ष—मुक्तिबोध रचनावली पॉच—330

58 नयी कविता का आत्मसघर्ष—मुक्तिबोध रचनावली पॉच—105

59 समीक्षा की समस्याये—मुक्तिबोध रचनावली पॉच—135

60 नयी कविता का आत्मसघर्ष—मुक्तिबोध रचनावली पॉच—330

61 नयी कविता का आत्मसघर्ष—मुक्तिबोध रचनावली पॉच—331

62 नयी कविता का आत्मसघर्ष—मुक्तिबोध रचनावली पॉच—160

63 नयी कविता स्वरूप और समस्याये—डा0 जगदीश गुप्त—109

64 चिन्तामणि—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—123

65 आधुनिक हिन्दी कविता मे यथार्थ—मुक्तिबोध रचनावली पॉच—277

66 'नयी कविता नयी दृष्टि' – डॉ0 रामकमल राय (हिन्दुस्तानी एकेडमी)

67 हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य – डॉ0 रामकमल राय

तृतीय अध्याय

अ- मुक्तिबोध का काव्य और परिवेश

सामाजिक परिवेशः–

हम सामान्यतया जिसे परिवेश मानते है वह प्राय परिसर के अर्थ मे प्रयुक्त होता है अर्थात् किसी स्थान विशेष की भू–भौतिक स्थितियॉं। इस प्रकार 'परिवेश मे भू–भौतिक रूप को प्रतिक्रिया परिवेश और उस परिवेश मे रहने वालो की आर्थिक स्थिति के आधार पर उसका सामाजिक परिवेश बनता है। 1' 'परिवेश की चेतना और रचना की भाषा' नामक निबनध मे अज्ञेय जी ने लिखा है– 'परिवेश के बारे मे अध्यापकीय दृष्टि से सोचने लगे तो विचार के लिए तुरत एक ढाचा मिल जाता है। एक तरफ तो परिवेश का विभाजन कर दीजिए– प्राकृतिक परिवेश सामाजिक परिवेश सास्कृतिक परिवेश आधुनिक जीवन और उसकी जटिलता, साहित्यिक और भाषिक परिवेश इत्यादि फिर दूसरी तरफ प्राचीन भारतीय दृष्टि का उल्लेख कर दीजिये या उसमें और तथाकथित आधुनिक पश्चिमी दृष्टि में भेद स्पष्ट कर दीजिये। 2

ध्यान देने योग्य बात है कि ब्रिटिश शासन पूर्व भारत की सामाजिक व्यवस्था को सुचारूपूर्ण और अनुशासित बनाने में जाति, ग्रामीण, समुदाय और संयुक्त परिवार का महत्वपूर्ण योगदान था। जिसमे अनुशासित एव आत्मनिर्भर रह कर मनुष्य अपना विकास करता था। किन्तु वर्ण की प्रभावशाली अवधारणा ने जाति के गतिशील पक्षों को गौण बना दिया और अब काले–गोरे की पहचान ही विभाजन का आधार बना ब्रिटिश शासक पुरानी अर्थव्यवस्था को बदल कर ही मुनाफा कमा सकते थे इसलिए सबसे पहले उन्होंने पुरानी आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था को छिन्न–भिन्न करके नवीन आर्थिक आदर्शों की स्थापना की। एक विशाल भू–भाग को उस जमींदार के

सुपुर्द कर दिया जिससे अधिक से अधिक मुनाफा मिल सके। 4 इस तत्र प्रकार अग्रेजी हुकूमत के आने पर नई अर्थव्यवस्था, नया सविधान, नई शिक्षा और नये प्रकार का शासन तत्र भारत मे आया। इस नये परिवर्तन के परिणाम स्वरूप अनेक नये–नये सामाजिक वर्गों का प्रादुर्भाव हुआ।5 इनमे जमीदार वर्ग अनिवासी जमीदार, कास्तकार, उच्च, मध्यम, उच्च तथा निम्न वर्ग का किसान वर्ग व्यापारी वर्ग और साहूकार आदि प्रमुख थे। अग्रेज अपने साथ नयी औद्योगिक और उससे संचार साधनो मे होने वाली क्रान्ति से अग्रेजो ने देश का एकीकरण अवश्य किया किन्तु 'ब्रिटिश औद्योगिक सभ्यता ने भारतीय समाज को समान रूप से प्रभावित नही किया जो जाति आर्थिक रूप से सम्पन्न थी वह शीघ्र ही आधुनिक सभ्यता से प्रभावित हुई और यह परिवर्तन निरन्तर चलता रहा। 7

पश्चिमीकरण के कारण जाति स्थानीय और उदाग साचे से मुक्त अवश्य हुई तथा उद्योगो मे नौकरी हेतु आये मनुष्यो के परपरित बन्धन ढीले पड गये किन्तु जाति पुरी तरह से टूटी नही केवल उसका रूप बदल गया जिसका प्रभाव ग्राम – समुदाय पर भी पडा – 'वास्तव मे आज के गॉव कलहहीन, श्रृंगारिकतापूर्ण लघुगण तंगो से दूर है वे उच्च जातियो और अछूतो के बीच जमीदारो और काश्ताकारो, के बीच, दकियानूसो और प्रगतिशीलो के बीच और अन्त में विभिन्न प्रतिद्वन्द्वि गुटो के बीच सघर्ष की रगभूमि बने हुए है। 6 'पश्चिमीकरण से पुराने ढॉचे मे परिवर्तन और राष्ट्रीय चेतना मे वृद्धि के साथ–साथ राजनैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र मे साम्प्रदायिकता, जातिवाद, तीव्रतर भाषा या चेतना और प्रादेशिकता को पनपने का अवसर मिला। 8

उन्नीसवी सदी के सातवे दशक तक भारतीयो के बीच एक पश्चिमीकृत बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हो चुका था, और इस वर्ग के नेता ही नये और आधुनिक भारत के आलोकदाता बनें इस वर्ग पर पुरानी भारतीय संस्कृति का ऊर्जादायक प्रभाव पड़ा। 8 इस प्रभाव ने भारत के राष्ट्रीय

आत्म–परिचय और विकास के हेतु कार्य करने गूढ शक्ति प्रदान की। राष्ट्रीय चेतना की जागृति के साथ ही प्रादेशिकता साम्प्रदायिकता और जातिवाद का भी उदय हुआ जिसने उदयोन्मुख भारत के लिए गम्भीर समस्याऐ पैदा कर दी। 10 'स्वतत्रता के बाद भारत सरकार ने देश मे औद्योगिकीकरण के लिए पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था को चुना परिणामत इस व्यवस्था से परपरित सामाजिक सम्बन्धो और संस्थानो के क्षेत्र मे परिवर्तन आया है। लेकिन इस व्यवस्था मे व्यक्ति को उस सतोष से वचित किया जा रहा है जो उसे सकीर्ण होने के बावजूद सयुक्त परिवार जाति और ग्रामीण समुदाय आदि के बीच मिलता था। 11

वस्तुत यह अर्थव्यवस्था पुराने मूल्यों को एकदम खत्म कर पाने मे असमर्थ है। अपने पिछडेपन और दुर्बलता के कारण वह पश्चिम की भाति सामाजिक व्यवस्था नही ला पाई है। उद्योगो के विकास के साथ–साथ नगरो और उपनगरो मे द्विवर्गीय रूप सामने आया है। एक है– उच्च एवं उच्च मध्यम वर्ग तथा दूसरा है– निम्न मध्यम वर्ग तथा मजदूर वर्ग। जो गन्दी बस्तियो मे रहने के लिए विवश है। भारतीय समाज के क्रमिक विकास से मुक्तिबोध पूर्णत परिचित थे।5 प्राचीन समाज की आत्मनिर्भरता, धर्म द्वारा अनुशासित जीवन और संयुक्त परिवार मे व्यक्ति के विकास के इतिहास को जानकर ही मुक्तिबोध ने वर्तमान समाज की समस्याओ पर विचार किया है। प्राचीन मूल्य और मान्यताए आज क्यों अनुपयुक्त हो गई है? उनका स्थान नये मूल्य मान्यताये आज क्यो नही ले पा रही हैं? समाज मे गतिरोध के क्या कारण है? उनका विकल्प क्या है, ? इन प्रश्नों पर मुक्तिबोध ने गम्भीर चिन्तन किया है।

'प्राचीन भारत पर अनेक आक्रमण होते रहे, लेकिन उनका सीधा प्रभाव भारतीय जनता के आर्थिक जीवन पर नहीं पडा क्योकि आत्मनिर्भर ग्राम– समुदाय के कारण राजनैतिक हलचल से भारतीय किसान अलग रहा। मुक्तिबोध इस तथ्य को रेखांकित करते हुए कहते हैं– भारत मे शक आये,

हूण आये, तुर्क आये और हमारा देहाती किसान राजनीति से मूलबद्ध रूप से विमुख होकर वही हल चलाता रहा। "कोउ नृप होय हमहि का हानी" वाली कहावत ही सिर्फ कहावत ही नही सामन्त व्यवस्था के अन्तर्गत जनता की विशुद्ध वास्तविकता है वह जनता तो तब बगावत करती जब उसकी आर्थिक जिन्दगी पर कोई आक्रमण करता अथवा जानबूझकर उसके गॉव जलाये जाते। 12

'एशिया के सामन्तवाद की सबसे बडी विशेषता उसकी ग्राम व्यवस्था जो आदिम साम्यवादी पंचायती व्यवस्था के (अपने अनुकूल) भग्नावशिष्ट रूपो को लेकर चली। 13 इस आर्थिक जिन्दगी पर अग्रेजो की औद्योगिकी नीति ने आक्रमण किया। प्राचीन आत्मनिर्भर ढॉचे को तहस–नहस करके उन्होने जिस औद्योगिक सीयता को प्रतिष्ठापित किया वह पूरी तरह विकसित न हो सकी। फलत. भारतीय समाज मे पुराने सामन्तीय मूल्यो के साथ नये मूल्य भी चलने लगे। औद्योगिक सभ्यता के अनन्तर पूँजी का प्रभाव बढने लगा, भारतीय परिवार इससे अछूते नहीं रहे। नवीन परिस्थितियो के कारण सयुक्त परिवारो का ह्रास होने लगा और मनुष्य उस शान्ति तथा सतोष से वंचित होता गया जो सकीर्णताओ के बावजूद उसे संयुक्त परिवारों से मिलता था। परिवार मे धन की महत्ता बढी मनुष्य का मूल्य उसकी अर्थोपार्जन शक्ति से ऑका जाने लगा। मुक्तिबोध ने 'नये की जन्म कुडली 'दो' डायरी मे लिखा है– 'धन अर्थ सासारिक सफलता और उससे मिली हुई कीर्ति की तानाशाही परिवार मे जितनी चलती है, उतनी बाहर नही। मानवता की हरदम दुहाइ देते हुए भी पर में जितना अहवाद और व्यक्तिवाद तथा वैचारिक दासता चलती है उसकी कोई हद नही।" 14

इस अवरूद्ध परिवेश का प्रभाव मनुष्य की मन· स्थिति और उसकी प्रवृत्तियो पर पडना स्वाभाविक ही था परिवार का वह संकीर्ण परिवेश आदर्शवादी युवा वर्ग के मन में निराशा विक्षोभ की सृष्टि करने वाला था।

'युवा वर्ग मे जो अनेक विकृतिया देखने को मिलती है मुक्तिबोध उनका सम्बन्ध परिवार के घुटनपूर्ण वातावरण से जोडते है। 15

भारतीय समाज के बारे मे मुक्तिबोध की चिन्ता यह थी कि हमारे यहाॅ पुराने और नये को लेकर एक अवसरवादी दृष्टि अपनायी गयी है। पुराने को छोडने और नए को ग्रहण करने के लिए कोई स्पष्ट सघर्ष हमारे यहाॅ नही हुआ। परम्परा से अनुशासित हमारा जीवन आज अत प्रवृत्तियो सचालित है। नए मूल्य बौद्धिक स्तर पर है वे जीवन के अनुशासन मे सहायक नही बन पाये। परिणामस्वरूप एक सास्कृतिक शून्य की स्थिति पैदा हो गयी है। मुक्तिबोध के शब्दो मे– "धर्मभावना गयी, लेकिन वैज्ञानिक बुद्धि नही आयी, धर्म ने हमारे जीवन के प्रत्येक पख को अनुशासित किया था। वैज्ञानिक मानवीय दर्शन ने वैज्ञानिक मानवीय दृष्टि ने धर्म का स्थान नही लिया। इसलिए केवल हम अपनी अन्त प्रवृत्तियो के यत्र से चालित हो उठे। उस व्यापक उच्चतर सर्वतोमुखी, मानवीय अनुशासन की हार्दिक सिद्धि के बिना हम 'नया–मूल्य नया इन्सान परिभाषाहीन और निराकार हो गये वे दृढ और व्यापक मानसिक सत्ता के अनुशासन का रूप धारण न कर सके। 16

मुक्तिबोध मानव जीवन मे आयी यॉत्रिकता का कारण मशीनीकरण को नही बल्कि पूॅजीवादी अर्थव्यवस्था को मानते है। प्रतियोगिता के सिद्धान्त पर आधारित इस व्यवस्था में सभी मनुष्यो का समुचित विकास नहीं हो सकता। उनके अनुसार "यह समाज व्यवस्था और शासन" व्यक्ति को केवल अपने मत प्रकट करने की ओर एक हद तक अपने मतो के अनुसार कार्य करन की स्वतत्रता देती है। किन्तु व्यक्ति के जीवन विकास कर उत्तरदायित्व समाज व्यवस्था अपने ऊपर नही लेती। 'यह प्रत्येक व्यक्ति का कार्य है कि अपने जीवन–विकास और आत्म–विकास का कार्य करे। 17 एक बडा वर्ग विविध रीतियों से आर्थिक शक्ति प्राप्त करने में जुट जाता है। जिसके फलस्वरूप समाज में अवसरवाद और भ्रष्टाचार का प्रादुर्भाव होता है और भारतीय समाज इस रोग से बुरी तरह ग्रसित है। मुक्तिबोध की इस

अवसरवादी प्रवृत्ति के प्रति गहरी पकड थी क्योकि मध्यम वर्ग मे यह रोग विष–बेलि के समान फैल चुका है। विपात्र का कथावाचक कहता है–

'वास्तविकता यह है कि अलग–अलग लोग अलग–अलग ढग से पूँछ हिलाते है। मेरा भी पूँछ हिलाने का अपना तरीका है। मै अपने पजे को पहले मालिक की गोद मे रख दूँगा और फिर दॉत निकालकर मालिक के मुँह की तरफ देखते हुए पूँछ हिलाऊँगा। दूसरे कुत्ते दरवाजे मे खडे होकर पूँछ हिलाते है। कुछ कुत्ते पास आने की लगन बताते हुए बीच–बीच मे भौकते है, गुर्राते है और पूँछ हिलाते रहते है। 18 व्यवस्था द्वारा प्रदत्त वैयक्तिक विकास करने की प्रवृत्ति मनुष्य को स्वार्थी बनाती जा रही है। स्वार्थ सिद्धि के लिए मनुष्य पूँछ हिला सकता है तो अवरोधक का बडा से बडा अहित भी कर सकता है। इसी स्थिति का एक दूसरा पहलू व्यक्ति के विचार और परिवेशगत अन्तर्विरोधो मे देखा जा सकता है। व्यक्ति की सारी सिद्धान्त– निष्ठा सत्य के प्रति समर्पण और सामाजिक प्रतिबद्धता आदि उसके निजी हानि–लाभ के एक मामूली से गणित के सामने निरर्थक साबित हो जाते है।

मुक्तिबोध के साहित्य– विवेक और उनकी कविताओ को समझने–समझाने के क्रम मे जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दा उमड कर सामने आता है वह है उनका सामाजिक सरोकार अपने सामाजिक सरोकारों की दृष्टि से मार्क्सवादी वैज्ञानिक समाज दर्शन के प्रति उनमे दृढ आस्था मिलती है। 'साहित्य एक सामाजिक कार्य' और साहित्य का सामाजिक कार्यः– ये दोनो तथ्य साहित्य की सत्ता और उसके अस्तित्व को समाजाश्रित सिद्ध करते है अत. साहित्य के विवेचन–विश्लेषण की समझ के लिए उसके मूलाधार समाज की सही समझ अपेक्षित है। इस समाज की समझा के लिए मुक्तिबोध ने वैज्ञानिक समाज दर्शन के रूप मे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से आलोक ग्रहण किया है। द्वन्दात्मक भौतिकवाद मानवी–सामाजिक विकास की एक ऐसी वैज्ञानिक प्रक्रिया प्रस्तुत करता है, जिसमें कार्य–कारण अन्त. सम्बद्धता

निश्चित क्रियाओ और अन्त क्रियाओ को जन्म देकर विकास की प्रक्रिया को गतिशील करती है। यह विकास कुछ निश्चित नियमो के अधीन घटित होता है। इनमे प्रति–पक्षो की एकता और उनका सघर्ष अन्तर्विरोधो और उनके विभिन्न रूपो की क्रिया–प्रतिक्रिया, निषेध का निषेध, और द्वान्द्वात्मक निषेध मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक रूपान्तरण आदि कुछ ऐसी तकनीकी अवधारणाये आती है जिनके सामाजिक निहितार्थों की सवेदनात्मक ज्ञान के स्पर पर सही समझ मुक्तिबोध की कविताओ के विवेचन–विश्लेषण के लिए अपेक्षित है।

मुक्तिबोध का मूल सरोकर सामाजिक था। सामाजिक जीवन के अपने अभिलाषित लक्ष्यादर्शों की सिद्धि के लिए ही उन्होंने मार्क्सवादी दर्शन का सहारा लिया है इसके प्रकाश मे अपने संवेदनात्मक ज्ञान को अनुभव जगत की जॉच परख करते हुए उन्होने ज्ञानात्मक सवेदन (बोध) का रूप दिया है। और इस सज्ञान को उन्होने कविता मे उतारने का कलात्मक वाणी प्रदान करने का प्रयास किया है। यहॉ यह अक्षेप किया जा सकता है कि जिस कविता को पढने के लिए किन्ही दार्शनिक सूत्रो की जानकारी अपेक्षित हो उसे पढा ही कयो जाएं? या हम अपनी कलात्मक अभिरूचि को तुष्ट करने के लिए कविता पढते है। दार्शनिक मान्यताओ या अपेक्षाओ की पुष्टि के लिए नही। इस प्रकार के आक्षेप नितान्त भ्रामक है। कला या धर्म, नीतिशास्त्र आदि। इनमें केवल अभिव्यक्ति के माध्यम का अतर है। वैसे इनका सारतत्व एक ही है अत· साहित्य या कविता को इनसे अलग–थलग करके न कभी विवेचति–विश्लेषित किया गया है, न ही किया जा सकता है। इस सदर्भ मे दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि मार्क्सवादी दर्शन अपनी पूर्ववर्ती दार्शनिक प्रणालियों से पर्याप्त भिन्न है वह जीवन और जगत की व्याख्या मात्र से संतुष्ट न हो कर उसे भी बदलने के प्रश्नों से पहली बार टकराया है। एक मार्क्सवादी कलाकार के रूप में मुक्तिबोध मानवी–सामाजिक स्थिति को केवल अभिव्यक्ति का विषय ही नही बनाते

उसे बदलने की अनिवार्यता पर जोर भी देते है जीवन और कविता या कला के पारस्परिक सम्बन्धो का उद्घाटन करने के लिए मुक्तिबोध ने काव्य की रचना– प्रक्रिया पर अत्यन्त सार्थक ढग से विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनकी यह स्पष्ट मान्यता रही है कि किसी कवि की रचना–प्रक्रिया को समझे बिना उनकी कविता का सही मूल्याकन असम्भव है।

इस सदर्भ मे यह स्मरणीय है कि मुक्तिबोध रचना–प्रक्रिया को जीवन–प्रक्रिया के रूप मे एक सामाजिक प्रक्रिया स्वीकार करते हुए उसे सास्कृतिक और मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया भी मानते है। इसलिए उनके सामान्य सर्वमान्य तत्वो मे समानता होते हुए भी एक युग की एक युगीन भावधारा की ओर प्रत्येक कवि की रचना–प्रक्रिया मे पर्याप्त अतर भी दिखाई देता है। मुक्तिबोध के यहॉ अन्तरात्मा जन–अनुभव–मिश्रित आत्मचेतना है, जो जनचेतना से पूर्णत सम्पृक्त है। इस सम्पृक्ति के कारण ही वे अपने स्व के व्यक्तिगत दायरे का अतिक्रमण कर वर्गापसारण की ओर उन्मुख होते है–

गम्भीर तुम्हारे वक्षस्थल मे/अनुभव हिम कन्या/
गंगा यमुना के जल की/ पावन शक्तिमान लहरे पी लेने दो/
ओ मित्र तुम्हारे वक्षस्थल के भीतर के/अन्तस्तल का पूरा विप्लव जी लेने दो/उस विप्लव के निष्कर्षों के/धागो से अब/
अपनी विदीर्ण जीवन चादर सी लेने दो।

यहॉ कवि ने मानवी–सामाजिक–विकास–धारा को जन–अनुभव–प्रसूत हिमकन्या रूपी गगा–यमुना के माध्यम से संकेतित किया है। इस धारा की पवित्र और शक्तिशाली लहरो के पान और उसके विप्लव निष्कर्षों के धागे से अपनी विदीर्ण जीवन चादर सीने की कामना, केवल जन अनुभवो को अपना अनुभव बनाना ही नहीं, वरन् आत्मानुभवो को जन अनुभव मे रूपान्तरित करना भी है। वर्गापसारण की यही प्रक्रिया है जिसके अभाव मे वर्गच्युत होकर 'ब्रहम–राक्षस' बन जाने की सभावना बनी रहती है। मुक्तिबोध

ने वर्गच्युत या अपने वर्ग से गिरने और वर्गापसारण के मध्य अतर किया है। अपने वर्ग से गिरने को उन्होने अभिशाप माना है, जब व्यक्ति कही का नही रह जाता है। लेकिन वर्गापसारण मे वह एक वर्ग से हटकर दूसरे वर्ग के साथ तदाकार हो जाता है। यह तदाकारता तब तक सभव नही है जब तक दूसरे वर्ग के अनुभवो को पूरी तरह जी नहीं लिया जाता इसीलिए कवि जन जीवन के सर्वहारा वर्ग के वक्षस्थल मे अनुभव– प्रसूत (अनुभवहित–कन्या) गगा–यमुना की पावन और शक्तिशाली लहरो को पीने तथा उनके विप्लवी स्वभाव को जीने की कामना करता है। यह उसकी आत्म–मुक्ति का अपने 'स्व' से अपनी वर्गीय चेतना से मुक्ति का, एक मात्र मार्ग है। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के निरर्थक को हटा कर सर्वहारा द्वारा अपनी विक्षुब्ध जिन्दगी की वैज्ञानिक प्रयोगशाला मे तैयार किया गया 'पावन–प्रकाश' का 'प्राण–बल्ब' का साहनुभूतिशील बौद्धिक वर्ग का अपना अस्तित्व सर्वहारा के कारण ही है।

"ओ अक्षयवट, यदि तुम न रहे होते/मेरी इन गलियो मे/

तो अधकार के सिन्धु तले/पानी के काले थर के नीचे कीचड मे।/

अज्ञान ह्वेल की प्रदीर्घ भीषण ठठरी सा/मै कही पडा होता सूने मे/ किसी चोर की गठरी सा/रह अन्धकार के भूसे सा/निशि वृषभ–गले"।

यहॉ अक्षय वट सर्वहारा की चेतना या विचारधारा है, जिससे परिचय के अभाव मे मध्यवर्गीय बौद्धिक व्यक्ति की स्थिति को कवि ने अतयन्त सार्थक उपमानो के द्वारा स्पष्ट किया है। पूँजीवादी व्यावसायिक सभ्यता मे बुद्धिवादी व्यक्ति के लिए कीचड मे दबी अज्ञान ह्वेल की ठहरी सूने में पडी हुइे चोर की गठरी निशि वृषभ गले मे पडा हुआ अंधकार का भूसा जेसे उपमान अत्यन्त व्यंजक है। ध्यानपूर्वक देखा जाए तो पूँजीवादी व्यवस्था मे सामान्य जन के बाद यदि सबसे दुर्गति भुगतने वाला कोई वर्ग है तो वह बौद्धिक वर्ग ही है। क्योंकि पूँजीवादी उत्पादन के क्षेत्र का व्यावसायीकरण

करता है। इस व्यावसायिकता से बचकर अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व की रक्षा का एक मात्र साधन मुक्तिबोध की दृष्टि से साधारण के साथ एकमेक होना ही है। अभिज्ञान की इस दशा मे आकर वे स्वय अनुभव करते है–

"झूठे अवलम्बन की शहनाई मूक हुई/

भावुक निर्भरता का सम्बल दो टूक हुआ/देखा–सहसा मै बदल गया/

भूरे नि सग रास्ते पर/मै अपने को ही सहल गया/"

यहॉ वर्गापसारण की पूर्ण सिद्धि हुई है, जहॉ पहुॅच कर कवि आत्मव्यथा को जनव्यथा के साथ एकमेक कर दोनो के सामान्य कारणो की जानकारी की ओर उन्मुख होता है। चारो ओर व्याप्त अन्याय, दुख, हताशा, लक्ष्यहीनता, स्वार्थ, घृणा आदि के कारणो पर वह विचार करता है और पाता है कि वह कारण सामाजिक जगल का घूग्घू है। घूग्घू का सगठन रात का तम्बू है। वह स्पष्ट रूप से देख रहा है कि मानव के इस तुलसी वन को जला कर स्वार्थ घृणा और कुतसा के थूहर (निरर्थक) जगल में परिवर्तित करने वाले और युवा तथा युवती जन की आशा–आकाक्षाओ पर तुषारापात करने वाले सम्पत्ति और उत्पादन के साधनो के मालिक सुविधाभोगी वे इन्हे गिने लोग तथा उनके विविध तत्र–मत्र है जिन्होने अपनी सुविधा–व्यवस्था के लिए सामाजिक जीवन को अंधेरे जगल का रूप दे दिया है। लेकिन यहॉ यह उल्लेखनीय है कि मुक्तिबोध अपने समसामायिक नए कवि विचारको की भॉति इस दुख, हताशा, उद्देश्यहीनता, निरर्थकता आदि को शाश्वत् और अनतिक्रमणीय नहीं मानते। उनका विश्वास है कि इस अंधकार पूर्ण विषम वातावरण में भी

"यह स्याह स्टीम रोलर जीवन का। सुख दुख की

कंकर गिट्टी यकसा करके। है एक रास्ता बना–

रहा युग के मन का। मेरे मन का। रास्ते पर इस–।

मानव व्यक्तित्व कदंबो की शीतल छाया। विद्रोहो की विधियॉ।

विक्षोभी मन का बल।"

यहॉ स्मरणीय है कि कविता के आरभ मे सर्वहारा को 'विप्लव कि चल तडिल्लता' कहा गया था। सामाजिक रूपान्तरण के सघर्ष मे उस वर्ग की निर्णायक भूमिका होती है लेकिन वर्गपसारित मध्यवर्गीय व्यक्ति विशेषत बौद्धिक वर्ग मे भी विद्रोही चेतना का समावेश होता है। सर्वहारा और उसके मध्य का अन्तर्विरोध शत्रुतापूर्ण न होकर मैत्रीपूर्ण अन्तर्विरोध होता है। वह भी सर्वहारा की भाति ही अपने को शोषण और उत्पीडन का शिकार समझता है तथा सर्वहारा की चेतना से, उसके उद्धार लक्ष्यो से रस–बस कर सघर्ष मार्ग को मानवी – विकास का वास्तविक मार्ग समझता है। यहॉ क्षितिज के मस्तक पर नाचती हुई दो तडिल्लताओ की मैत्री 'सर्वहारा और वर्गापसारित मध्यम वर्गीय समुदाय की मैत्री को सकेतिक करती है।

वर्तमान सभ्यता के लिए अंधेरे– सुनसान, मैदान की सज्ञा, मानवीयता, विरहित, मानवीय आशय से शून्य समाज का सकेतक है। अमानवी करण की यह प्रवृत्ति पूँजीवादी व्यावसायिक सभ्यता की देन है। इसमे यक्ति विरोधी समाज और समाज विरोधी व्यक्ति ही नही, वरन् व्यक्ति विरोधी व्यक्ति की भावना को भी बढावा मिलता है। वैसे गहराई से विचार करने पर यह स्थिति व्यक्ति–विरोधी या समाज–विरोधी व्यक्ति की न होकर, एक ही समाज की दो विरोधी शक्तियों के टकराव से उत्पन्न स्थिति है, जो समाज का ही शत्रुता पूर्ण अन्तर्विरोध है इसे मुक्तिबोध ने एक ऐसे बियावान की सज्ञा दी है, जिसमें प्रत्येक मानवीय क्रिया – कलाप और उसकी उपलब्धियॉ सुख के स्थान पर – दुख और भय का कारण बन जाती है : "ठूंठों पर बैठे घूग्घू–दल। के नेत्र चक्र घूमने लगे। इस बियावान के नाभ मे सब नक्षत्र वक्र घूमने लगे। सभी नक्षत्रों की वक्र गति से तात्पर्य है, ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र मे किसी सार्थक सृष्टि या रचना की कल्पना भी असभव है। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है:–

कुछ ऐसी चलने लगी हवा,। अपनी अपराधी कन्या की चिन्ता मे माता सी बेकल। उद्‌विग्न रात। के हाथो से। अूधियारे नभ की राहो पर। है गिरी छूट कर। गर्भपात की तेज दवा। बीमार समाजो की जो थी। 19 इसी प्रकार के तथ्यो को जो काव्यात्मन् फणिधर 'शीर्षक कविता मे थोडे अन्तर के साथ, मुक्तिबोध ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'वह पागल युवती सोई है। मैली दरिद्र स्त्री अस्त–व्यस्त उसके बिखरे– है बाल व सतन लटका सा। अनगिनत वासनाग्रस्तो का मन अटका था। उनमे से जो उच्छखल था, विश्रृखल था, विश्रृखल भी था। उसके काले पल मे स्त्री को गर्भ दिया। शोषिता व व्यभिचारिता आत्मा को पुत्र हुआ। स्तन मुॅह मे डाल, मरा बालक। उसकी झाईं। अब तक लेटी है पास उसी की– परछाई। आधुनिक सभ्यता सकट की प्रतीक रेखा,2उसको मैने सपनो मे– कई बार देखा!! जीने के पहले मरे समस्याओ के हल!!।

ओ नागराज, चुपचाप यहॉ से चल!! 20

वर्तमान सभ्यता के दुखते कराहते गर्भ से मृत बालको का जन्म और अस्त–व्यस्त पागल युवती की मृत सृष्टि के वास्तविक आशय को समझने के लिए वर्तमान मानवी सामाजिक सम्बन्धो की स्थिति परिस्थिति पर विचार करना आवश्यक है। मानवी सामाजिक सम्बन्धों के निर्धारण मे किसी युग विशेष की उत्पादन पद्धति की भूमिका निर्णायक होती है। ऐतिहासिक सामाजिक विकास के एक विशेष दौर पूॅजीवादी उत्पादन पद्धति के दौर के दौर मे उत्पादन की शक्तियो और उत्पादन के सम्बन्धों में एक आक्रामक अन्तविरोध हो जाता है। यह अन्तर्विरोध समस्त मानवी सामाजिक सम्बन्धो को शोषक और शोषित के रूप मे एकवर्गीय सम्बन्ध की शक्ल दे देता है। ऐसे विरोधग्रस्त समाज मे मनुष्य के श्रम का निर्मम शोषण सभ्यता और सस्कृति का मूल आधार बन जाता है। श्रम मनुष्य के जीवनोपयोगी कार्यकलाप का सर्वाधिक मानवीय और मौलिक रूप है। रम और उसके परिणामों में ही मनुष्य अपनी आशा आकांक्षा, सामर्थ्य, ज्ञान, अनुभव, शारीरिक

एव बौद्धिक क्षमताओ की वास्तविक अभिव्यक्ति देखता है। लेकिन पूँजीवादी व्यावसायिक पद्धति के अन्तर्गत जब रम की उपज को उत्पादक से अलग कर लिया जाता है, तो श्रम का मूलभूत मानवी आशय समाप्त हो जाता है। तब श्रम ऐसा मानवी कार्य–कलाप नहीं रह जाता, जिससे मनुष्य अपनी सृजनात्मक प्रतिभा, अपने व्यक्तित्व की सार्थक और जीवन्त अभिव्यक्ति दे सके। जीविकोपार्जन का साधन मात्र बनकर रम और मनुष्य दोनो की क्रय–विक्रय योगय 'वस्तु' बन जाते है। ऐसी स्थिति मे शारीरिक, बौद्धिक और कलात्मक सभी क्षेत्रो के उत्पादन अपनी मूलभूत मानवीय सार्थकता खो देते है। इसी को मुक्तिबोध ने 'बीमार समाजो के घर मे मृत बालको का जन्म कहा है। ऐसे मरणोन्मुख समाज मे उसके लोभी सचालक, समस्याओ के उन्मूलन के लिए जो कृत्रिम और झूठे समाधान प्रस्तुत करते है, वे अस्तित्व मे आने से पहले ही (जीने के पहले मरे समस्याओ के हल) मर जाते है।

मरे हुए समाधानो की नीव पर एक झूठा समाज–दर्शन राज–दर्शन और अर्थ–दर्शन खडा किया जाता है। शोषण पर आधारित इस समूचे सामाजिक विद्रूप को जिसे वर्तमान सभ्यता की सज्ञा दी जाती है मुक्तिबोध ने लटके हुए स्तनो वाली अस्त–व्यस्त मैली एव दरिद्र पागल युवती की संज्ञा दी है। एक कृत्रिम और घटिया उपभोक्ता मनोवृत्ति के तहत एक अच्छे खाते–पीते वर्ग का आकर्षण भी इसके प्रति होता है जो सृजनोन्मुख होने पर सृजन की पूरी व्यथा झेलते हुए मृत–सृजन ही कर पाता है। इस सृजन को मुक्तिबोध ने आधुनिक सभ्यता सकट की प्रतीक रेखा कहकर अपने काव्यात्मन् फणिधर को वहाँ से दूर हट जाने का आदेश दिया है। लेकिन 'डूबता चाूद कब डूबेगा' कविता में उन्होने शोषण के वीर्य–बीज से जनमे दो सिर और चार पैर वाले राक्षस बालक का संकेत किया है जो विद्रूप सभ्यता का संचाल्लक अमानवीकृत मानवत है। अपनी दानवी वृत्ति की रक्षा के लिए वह नयी युक्ति (न्यू डिवाइस) के रूप में पूर्वकालिक अपंगु सिद्धान्तों का

सहारा लेता है। इस सन्दर्भ मे मानव मस्तक से निकले कुछ 'ब्रह्म–राक्षसो द्वारा गॉधी जी की टूटी चप्पल पहनना' अत्यन्त व्यजक प्रतीक के रूप मे आया है। जनवादी चेतना के प्रतीक पीपल और गॉव के कुॅवे का अठ्टास करना, सभ्यता के सचालक इन ब्रह्म–राक्षसो की नादानी का पर्दाफाश करता है।

मुक्तिबोध कृत वर्तमान सभ्यता–समीक्षा के अन्तर्गत अमानवीय और मृत सृजन के मूल आशय को समझने के लिए उनके द्वारा विश्लेषित पिकासो के एक चित्र 'मदर विद ए डेड चाइल्ड' को उदाहरण के रूप मे लिया जा सकता है। उन्होने उक्त चित्र का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है" गोल रेखाओ से स्त्री का उदर बनाया गया है। गर्भ मे एक भ्रूण के आकार की रेखाये खीची गयी है। बच्चे के दो सिर बनाये गये है एक सिर गर्भज्ञ के भीतर नीचे की ओर बाम भाग मे अटका हुआ है, एक जननेन्द्रिय के बाहर निकला हुआ है। योनि से दो रेखाये भयानक गोलाई से खींचकर उनको पुरूष मुख के आकार मे परिणत कर दिया गया है इस पुरूष मुख को भयानक कष्ट ग्रस्त पीडा की चीत्कार आकार दिया गया है। सारा चित्र एक निसैनी पर बैठाया गया है उदर के नीचे के दो पैर उस निसैनी पर इस तरह रखे गए हैं मानों वे मध्यस्थ उदर के फटने की क्रिया बतलाते है। एक पैर उदर के उपर के भाग की तरफ से निसैनी के निचले भाग की तरफ लाया गया है। इस प्रकार इस चित्र के तीन पैर है, जो किसी मनुष्य के नही होते"–21

इस चित्र के रेखा प्रतीकों को अत्यन्त बारीकी से स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध ने अन्त मे इसका मूल्याकन इस प्रकार किया "फ्रान्स के अत्यन्त सम्पन्न उच्च वर्ग अथवा उसके प्रभाव में रहने वाले वर्ग की निरूपयोगिता तथा गतिहीनता अगर कुछ सृजन कर भी सकती है, तो वह मृत सृष्टि ही है। इस गतिहीनता की भयानक वेदना से पिकैसो ग्रस्त है। इसलिए वह विद्रूष की पीडा का अध्ययन करता है, जिसका एक उदाहरण यह चित्र है।

उस वर्ग के भीतर जो कुछ भी मनुष्यता शेष है, उससे पिकैसो का तादात्म्य नही है। वह मात्र विद्रूप और उसके भीतर कष्ट पाने वाले मनुष्य प्राण को लेकर चला है। पिकैसो का मूल विषय सामाजिक अनुभवो का मनुष्य प्राण भी नही है वरन् उसकी वह भयानक पीडा जो स्वय गतिहीनताओ से उत्पन्न है और जो गतिहीनताओ को जन्म देती जा रही है। उसका विषय, मृत सृजन की पीडा है। पिकैसो के लिए मनुष्य के हाथ–पैर, ऑखे, कान, विशेष महत्व नही रखते। वास्तविक जीवन मे इन अवयवो का जो कार्य है, उसको खतम कर उसने उन पर अपनी कल्पना द्वारा निर्मित कार्यो को थोपा है। कला के इस विश्लेषण से हमारे सामने दो बाते साफ हो जाती है कला यद्यपि व्यक्तिगत आधार पर होती है किन्तु उसकी चेतना उस वर्ग मे समाहित तथा उससे विकसित है, जिसके भीतर रहकर कलाकार ने अपने अनुभव प्राप्त किए है। उसकी गतिहीनता पिकैसो के लिए मर्मभेदी है, किन्तु उससे उपर उठकर उसने उस गतिमानता पर कोई उसकी चेतना उस वर्ग में समाहित तथा उससे विकसित है, जिसके भीतर रहकर कलाकार ने अपने अनुभव प्राप्त किए है। उसकी गतिहीनता पिकैसो के लिए मर्मभेदी है, किन्तु उससे उपर उठकर उसने उस गतिमानता पर कोई परिप्रेक्ष्य नहीं अपनाया। यहॉ तक कि ऐसा प्रतीत होता है मानो वह उस पीडा मे आत्मघाती विकृत आनन्द ले रहा हो।"

मुक्तिबोध द्वारा की गयी वर्तमान सभ्यता–समीक्षा का उद्देश्य केवल उच्च मध्यवर्गीय समुदाय की अगतिकता या उसके विद्रूप के चित्रण तक ही सीमित नही है। वे इसका अतिक्रमण कर एक नयी जनवादी सभ्यता और सास्कृति के पक्षपाती है। उन्होने इस प्राणवान सृजन को आत्मज सत्य, अनुभव शिशु नवजात शिशु, सद्योजात, आत्मज, आदि नामो से अभिहित किया है।– अमानवीय व्यावसायिक सभ्यता के तंत्र–मंत्र इस जीवन्त अनुभव शिशु के मार्ग मे सबसे बड़े अवरोधक तत्व है। इसलिए लोग वास्तविक जीवनानुभूत सत्यों को भय के कारण छिपाने का प्रयास करते है"–

"यदि आत्मज सत्य यहॉ रक्खे झरने के तट। अनुभव शिशु की रक्षा होगी। ले इसी तरह के भाव अनगिनत लोगो ने। अपने जिन्दा सत्यो का गला बचाने को। अपना सब अनुभव छिपा लिया।"—22

लेकिन वर्तमान समाज मे कुछ ऐसे लोग भी है, जो अपने अनुभव शिशु को उसकी सुरक्षा का पूरा ध्यान रखते हुए, स्थानान्तरित करने से नही चूकते —

जाने कितने कारावासी बसुदेव। स्वय अपने कर मे, शिशु—आत्मज ले।
बरसाती रातो मे निकले। धस रहे अधेरे जगल मे। विक्षुब्धपूर—
में यमुना के। अति दूर, अरे, उस नन्द ग्राम की ओर चले।
जाने किसके डर स्थानान्तरित कर रहे वे/जीवन आत्मज सत्यो को।
किस महाकस से भय खाकर गहरा गहरा ।।।—23

यह महाकंस की व्यावसायिक नागरिक सभ्यता है, जिसके कृत्रिम और अमानवीय परिवेश मे वास्तविक जीवनानुभवो का कोई उपयोग नही है। यही नही, वरन् वे बेहद खतरनाक भी समझे जाते है। कंस को वसुदेव से भय नही था, वह अजन्मे कृष्ण से भयभीत था। कृष्ण यहॉ एक भावधारा, एक विचार धारा का प्रतिनिधित्व करता है, जो आज की वास्तविकता से उत्पन्न अनुभव प्रसूत विचारधारा मे सबसे बडा खतरा है क्योकि जनचेतना मे प्रवेश कर यह एक भौतिक शक्ति का रूप धारण कर लेगी, जिसके माध्यम से पूजीवादी व्यवस्था का विनाश होगा। इसलिए अपनी व्यावसायिक सभ्यता और उसके ताम—झाम के द्वारा यह व्यवस्था वास्तवाधारित नये अनुभूत—सत्यों की हत्या का षडयन्त्र रहती है। लेकिन मुसीबत मुक्तिबओध की यह स्पष्ट मान्यता रही है। कि इन ज्वलंत सत्यो को देर तक टाला नहीं जा सकता:

इसलिए कस के घण्टाघर/ मे ठीक रात के बारह पर/बन्दूक थमा दानव – हाथो। अब दुर्जन ने बदला पहरा/आते जाते पथ पर मे, दो शब्द फुसफुसाते।–

इनको घर आते जाते पथ पर मे, दो शब्द फुसफसाते।–

इनको घर आते रात बहुत हो जाती है–24

कस के घण्टाघर अर्थात् पूँजीवादी शोषण तंत्र का दमनचक्र चाहे जितना भी तेज क्यो न हो, उस व्यवस्था के मृत जीवन के काले जल की सतहो के नीचे सामाजिक विकास की जीवत जलधाराए अप्रतिहत रूप से प्रवाहित रहती है। इस जीवत धारा अर्थात् सामान्य जन–जीवन की धारा तक अपने वास्तविक जीवनानुभवो को पहुॅचाकर मुक्तिबोध सतोष की सास लेते है क्योकि सामान्य जन–जीवन मे अब इसके सम्बन्ध मे कानाफूसी आरम्भ हो गयी है। इस घटना को कोई इसे रजनी रूपी पन्ना दाई द्वारा रवि राजपुत्र की रक्षा कहता है तो कोई इसे जीवन की धारा को तीव्र करने वाली और शोषण के बन्दीगृह मे बार बार घटने वाली घटना कहता है। किसी ने इसे कारा कुशल चौकीदारो द्वारा 'युग्वीर' शिवाजी की रक्षा माना तो दूसरो ने दुर्दान्त ऐतिहासिक सपन्दन। के लाल रक्त से। लिखते तुलसीदास आज। अपनी पीडा की रामायण। उल्काओ की पक्तियॉ काव्य बन गयी। घोषणा बनी। कल होने वाली घटनाओ की कविता। जी मे उमंगी।"

समाज मे फैली सारी विकृतियो–स्वार्थ, उत्पीडन अवसरवाद, भ्रष्टाचार, ग्लानि, क्षोभ, हताशा आदि की मूलकारक शक्ति के रूप मे पूँजीवादी शोषण के भयावह परिणामो को चित्रित करते हुए उन्होने स्पष्ट कर दिया है कि शोषण की अतिमात्रा/स्वार्थों की सुख यात्रा जब–जब सम्पन्न हुई। आत्मा से अर्थ गया मर गई सभ्यता। (एक स्वप्न कथा)। यह ह्रासोन्मुख सभ्यता – संस्कृति, साहित्य, कला, चिन्तन, दर्शन एवं ज्ञान–विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रवेश कर उसे भी विकृत कर देती है। इन तमाम क्षेत्रों मे सक्रिय लोग जाने–अनजाने जब इसकी गिरफ्त को आ जाते है तब एक

झूठी कला झूठे दर्शन और निरर्थक आविष्कारो का अम्बार खडा होने लगता है। इस स्थिति की ओर सकेत करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है–

"सब चुप साहित्यिक चुप और कवि जन निर्वाक्।
चिन्तक, शिल्पकार नर्तक चुप है।
रक्तपायी वर्ग की नाभि–नाल बद्ध ये सब लोग।
नपुसक भोग शिरा जालो मे उलझे/प्रश्न की उथली सी पहचान।
राह से अनजान।वाक्रूदती। बौद्धिक वर्ग है क्रीत दास।
किराये के विचारो का उद्भास।" 25

हिन्दी साहित्य के विभिन्न क्षेत्रो मे नई भावधारा के अन्तर्गत ह्रासोन्मुख सामाजिक मूल्यों की जाने–अनजाने वकालत की गई। फलस्वरूप इस मरणोन्मुख समुदाय की क्रोड से एक ह्रासोन्मुख साहित्य का जन्म हुआ। उच्च मध्यवर्गीय समाज या उसके प्रभाव मे रहने वाले वर्ग की निरूपयोगिता और गतिहीनता से जन्मा या साहित्य आगे भी गतिहीनता को ही बढावा देते हुए, वर्तमान शोषण तत्र का सहायक बना। आधुनिक भाव–बोध के नाम पर हताशा,ग्लानि वैफल्य, व्यर्थता, अलगाव, कुण्ठा, आदि सामाजिक विकृतियो को गौरवान्वित करते हुए मानवी– क्षमता और जन–साधारण की आध्यात्मिक शक्तियो का तिरस्कार किया गया।

मुक्तिबोध के ही शब्दो मे यदि इसे कहे तो "आधुनिक भाव–बोध बाले सिद्धान्त मे जन–साधारण के उत्पीडन–अनुभवो, उग्र विक्षोभों और मूल उद्वेगों का बायकाट किया गया। लघु मानव वाला सिद्धान्त लाकर जन साधारण की मार्मिक आध्यात्मिक शक्तियो और सम्भावनाओ से ऑखे फेर ली गई। व्यक्ति स्वातन्त्रय का झण्डा ऊँचा कर स्वातन्त्रय के उपयोग और दिशा की समस्या से पल्ला झाड लिया गया। सरकार के अच्छे कामो की भी आलोचना करते हुए, पश्चिमी पूजी से जुडे भारतीय करोडपतियो के दरबारो में पहुँचने की दृश्यावली प्रस्तुत की गई।" – 26

इससे स्पष्ट है कि वर्तमान सभ्यता–समीक्षा के सदर्भ मे मुक्तिबोध की तीखी– नोक पूँजीवादी व्यवस्था पर रही है, जिससे मुक्ति का एक मात्र उपाय जन सघर्ष द्वारा उक्त व्यवस्था का उन्मूलन और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना है–

"सचमुच, मुझ को तो जिन्दगी सरहद।

सूर्यो के प्रागण–पार भी जाती सी दीखती। मै परिणत हूँ।

कविता मे कहने कि आदत नही, पर कह दूँ।

वर्तमान समाज मे चल नहीं सकता।

पूँजी से जुडा हुआ हृदय बदल नही सकता।।

स्वातन्त्रय व्यक्ति का वादी छल नही सकता मुक्ति के मन को,

जन को।

इस प्रकार मुक्तिबोध कृत–वर्तमान सभ्यता–समीक्षा के विवेचन–विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि पूँजीवादी व्यवस्था और उसके अकाट्य से लगने वाले नियम–विधान तथा उसकी झूठी प्रवंचनाएं वर्तमान जिन्दगी की सरहद नही है। यह व्यवस्था एक सामाजिक–ऐतिहासिक विकास के दौर मे मानवी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अस्तित्व मे आई थी और अपने आरभिक दौर में इसने मायावी आकांक्षा की पूर्ति मे एक गतिशील भूमिका का निर्वाह भी किया। लेकिन अब यह सहज मानवीय आशा– आकांक्षाओं को निमर्मतापूर्वक रौद रही है। मानवी सामाजिक विकास के मार्ग को उसने पूरी तरह अवरूद्ध कर दिया है। इस सम्बन्ध मे मुक्तिबोध का अतिम निष्कर्ष है– पूँजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन की आवश्यकता और समाजवादी समाज–व्यवस्था की अनिवार्यता।

आर्थिक परिवेश:

भारतीय पूॅजीपति वर्ग का उदय विश्व–पूॅजीवाद के ह्रासकाल मे हुआ। बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे प्रथम विश्वयुद्ध काल में पूॅजीपतियो (विशेषकर पटसन और कपास) ने खूब मुनाफा कमाया। इसी तरह द्वितीय विश्व युद्ध के अनन्तर आई मुद्रास्फीति विघटन और अकाल के कारण बढती मॉग का फायदा उठाया गया। ऐसा उसने सर्वाधिक मुनाफाखोरी और बेईमानी भरी कालाबाजारी द्वारा किया।–1 इस तरह दो महायुद्धों में भारतीय पूॅजीपति वर्ग ने अच्छा मुनाफा कमाकर अपनी स्थिति सुदृढ कर ली थी। भारतीय पूॅजीपति वर्ग की प्रकृति, भीरू और समझौतावादी रही है। जनता से डरने के कारण यह कोई क्रान्तिकारी जन–आन्दोलन का सगठन नही कर सका। ब्रिटिश शासकों से खीझते हुए और नीचे वालो से थर्राते हुए यह वर्ग बातचीत की व्यावहारिक नीतियों को अपनाता रहा है, और मजदूर वर्ग से निपटने के लिए राज्य के दमन–तन्त्र का इस्तेमाल करता रहा है।–2
उपनिवेश और अल्पविकसित देश का पूॅजीवाद होने के कारण भारतीय पूॅजीवाद न तो पूरी तरह सामन्तवाद को खत्मकर सका और न समृद्ध राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था ही दे सका है। ब्रिटिश शासकों से अपनी मॉगो को पूरा करवाने के लिए उसने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था ही दे सका है। ब्रिटिश शासको से अपनी मॉगो को पूरा करवाने के लिए उसने राष्ट्रीय काग्रेस का उपयोग किया। भारतीय पूॅजीपति कांग्रेस को आर्थिक मदद करते थे और काग्रेस के नेता लेजिस्लेचरो में उनके हितों की रक्षा करते थे।–3 इस प्रकार भारतीय जनता पर ब्रिटिश शासको, भारतीय पूॅजीपति वर्ग, सामन्तो और जमींदारो का शिकजा कसा रहा।

ब्रिटिश सरकार द्वारा सत्ता हस्तान्तरण करने के बाद कांग्रेस के पास दो विकल्प थे या तो वह सरकारी ढॉचे मे आमूल परिवर्तन लाये या फिर तन्त्र को यथावत् रखे। पहले को कांग्रेस के भीतर का पूॅजीपति वर्ग स्वीकार नहीं कर सकता था इसलिए व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं आया। पूॅजीपति

वर्ग आर्थिक दृष्टि से आत्म–निर्भर न होने के कारण अकेला औद्योगिक विकास करने मे समर्थ नही था। वह उम्मीद करता था कि औद्योगिकीकरण मे सरकार उसे सहायता दे। विदेशी पूँजीपति भारत मे पूँजीनिवेश करने मे सकोच कर रहे थे। इन परिस्थितियो को मद्देनजर रखते हुए नेहरू जी ने घोषणा की कि 'आर्थिक ढॉचे मे कोई परिवर्तन नही किया जायेगा, जहॉ तक होगा वहॉ तक उद्योग का राष्ट्रीयकरण नही किया जायेगा।. 4

उद्योगो के समुचित विकास के लिए नेहरू सरकार ने मिश्रित अर्थव्यवस्था का तरीका अपनाया क्योकि राज्य की सहायता के बिना पूँजीपति वर्ग भारतीय अर्थव्यवस्था का सचालन करने मे काफी कमजोर था।–5 काग्रेस सरकार ने इस आधारभूत नीति को प्रथम और द्वितीय पचवर्षीय योजनाओ के द्वारा अमल मे करने का प्रयास किया। 6 सरकार की मिश्रित अर्थव्यवस्था मे ऊर्जा–उत्पादन, सिचाई भारी उद्योगो तथा यातायात और सचार का काम सार्वजनिक सेक्टर में रखा गया और उपयोग्य वस्तुओ को निजी स्वामित्व मे छोडा गया। इससे निजी सेक्टर वाले सरकार द्वारा प्राप्त कच्चे माल से उत्पादन करके ऊची कीमते वसूल करने लगे। सार्वजनकि सेक्टर मे अनेक इकाईया ठेकेदारो की मध्यस्थता के जरिये काम करती है। इन कार्यों मे जाति और क्षेत्रीयता के आधार पर पक्षपात किया जाता है तथा रानीति के क्षेत्र मे जातिवाद और क्षेत्रीयतावाद जोर पकड रहे है। . .7

जिन करो को प्राय: पूँजीपति अदा नही करते है या जिनकी चोरी होती है उनका मुआवजा लेकर माफ करना, पूँजीपतिवर्ग को मजबूत बनाने की ओर उठाये गये कदम है। 8 बडे पूँजीपतियो का जहा केन्द्र सरकार पर आधिपत्य है वहा विधानसभाओं पर प्रान्तीय मध्यम पूँजीपति आधिपत्य रखते है। ये विधानसभा द्वारा केन्द्र पर दबाव डालते है। भाषावाद प्रान्त के आन्दोलन के पीछे इन मध्यम पूँजीपतियो का हाथ था। यह वर्ग बडे पूँजीपतियों को अपना भाई नहीं समझता अपितु प्रतिद्वन्द्वी समझता है।9

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने जनता मे असन्तोष और निराशा को जन्म दिया है। प्राय अशिक्षित समुदाय मे यह पूर्वजन्म के कर्मो को फल मान लिया जाता है। निरन्तर घटते हुए जीनस्तर और बढते हुए असन्तोष ने निम्न वर्ग मे एक तनाव की सृष्टि की है। इस तनाव को विपरीत दिशा मे मोडने के लिए भारतीय पूँजीपतिवर्ग ने विश्व पूँजीवाद की तरह ही आदर्शवादी प्रतिक्रियावादी धार्मिक दर्शनों को ही अपनाया। 10

विश्व प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गुलारमिर्डल भारत की स्थिति के बारे मे लिखते है" ससार मे भारत एक ऐसा देश बना गया है जिसमे प्राय प्रत्येक व्यक्ति की सहमति प्राप्त अधिक समानता की घोषणाओ को ऐसी नीतियो से जोड दिया है जो व्यवहार मे असमानता मे वृद्धि तक को नहीं रोक पायी है। उक्त घोषणाएँ स्वतन्त्रता संग्राम के आरम्भ से हो रही है और इनमे सामाजिक और आर्थिकक्रान्ति की भी आवाज उठायी जाती है। भारत के अधिकाश भाग बौद्धिक रूप से सजग लोगो की मानसिक स्थित में साइजोक्रोनिया (अन्तराबन्ध) के लक्षण विद्यमान है और वे इन लक्षणो के साथ प्रकट रूप से सुखपूर्ण और निश्चिन्त जीवन बिता रहे है। .11 इन तथ्यो के आधार पर कहा जा सकता है कि आजादी के बाद भारतीय समाज को पूँजीवादी रास्ते के मुताबिक रूप दिया जा रहा है। भारत में आजादी के बाद जिस राज्य का उदय हुआ है वह पूँजीवादी राज्य है जो पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है।

'मुक्तिबोध देश की आर्थिक स्थिति और सरकार की अर्थनीतियों मे सम्यक् रूचि लेते थे। 'नया खून' और 'सारथी' में लिखे लेखो में उन्होने आर्थिक जगत में होने वाली गतिविधियो और उनके परिणामों का उल्लेख किया है। देश में ब्रिटिश और अमेरिकी पूँजी का बढता प्रभाव, देशी पूँजीजीवियों से उनका गठबन्धन, अर्न्तराष्ट्रीय गेहूँ की मन्दी के कारण आदि तत्कालीन समस्याओं पर उन्होंने विचार किंया है– एकाधिकारी स्वदेशी पूँजी विदेशी आर्थिक स्वार्थों से बहुत हद तक मिल गयी है जिस का फल यह है

कि भारत में अन्य विदेशी पूँजी तथा ब्रिटिश पूँजी का शिकजा ढीला होने के बजाय और आर्थिक कडा हो गया है। 12 जब अमेरिकी पूँजी को सुरक्षा की गारण्टी दी गयी तो मुक्तिबोध को महसूस हुआ कि सरकार की समाजवादी समाज निर्माण की बात मौजूदा व्यवहार को देखते हुए अर्थहीन है। सरकार के इस कार्य की आलोचना करते हुए उन्होने लिखा था– 'समाजवादी ढग से समाज रचना करने का तरीका यह नही है कि भारत मे अमेरीकी पूँजी को पच्चीस वर्ष की गारण्टी दी जाये और ब्रिटिश पूँजी के बारे मे चू तक ना किया जाय। इससे एक बात सिद्ध होती है कि आगामी पच्चीस तीस वर्षों तक के लिए समाजवादी ढग टाल दिया गया है।' 13

लेकिन यही मुक्तिबोध एक साल बाद सरकार की पचवर्षीय योजनाओ द्वारा देश की प्रगति के बारे मे आस्था प्रकट करते है– 'भारत मे सामाजिक जिसे हम सार्वजनिक कहते है क्षेत्र के अन्तर्गत मूल उद्योगों का विकास किया जा रहा है निजी पूँजी का क्षेत्र और उसकी हदे निश्चित कर दी गयी है यद्यपि इस समय तुलनात्मक दृष्टि से अपने यहाँ निजी पूँजी का वजन सामाजिक पूँजी से बडा है किन्तु इसकी पचवर्षीय योजना की समाप्ति के बाद तीसरे आयोजन के शुरूआत के साथ एक ऐसी हालत पैदा हो जायेगी जब निजी पूँजी मे क्रमश. विलय होते जाने के रास्ते खुल जायेगे। . ..14

समाजवाद और पूँजीवाद को समान रूप से औद्योगिक सभ्यता घोषित औद्योगिक सभ्यता और व्यावसायिक सभ्यता मे कोई फर्क न करना और दोनो को समान रूप से हानिकारक सिद्ध करते हुए पूँजीवादी व्यावसायिक सभ्यता की वकालत करना, अपनी प्रतिक्रियावादी मनोभूमि की, अपने वर्गीय चरित्र को उद्‌घाटित करना है यदि स्पष्ट रूप से ऐसी बात नही है तो इसे दिशाहीन मूल्य–विमूढता की स्थिति उत्पन्न करती है, जिससे पूँजीवाद का एक नया मानवतावादी आलोचनाशील विकसित होता है। पश्चिम का समूचा आस्तित्ववादी आन्दोलन इसका प्रमांण है और हिन्दी का नया आन्दोलन बडे मजे से इसका शिकार बना है। यह भावधारा ऊपर से पूरी क्रान्तिकारी लगते

हुए भी, भीतर से घोर प्रतिक्रियावादी प्रगति विरोधी है और इसलिए जाने–अनजाने शोषण पर आधारित पूँजीवादी व्यवस्था के हाथ मजबूत करती है। उसके वास्तविक चरित्र को लक्ष्य करके मुक्तिबोध ने अपने 'काव्यात्मन्' फणिधर' से यह निवेदन किया था–

लहराओ, लहराओ, ओ मेरी कविताओ!! वटशाखाओ पर द्रुततर सरसर चढ जाओ।।

उसके आशय का विष पी लो/ओ काली–काली मान–आग

ओ नागराज, / इस वट की शाखाओ पर तुम करवट बदलो!– ओ काव्यात्मन् फणिधर!/यह नई धारा के चरित्र का बेलौसा उद्घाटन ही नही, नयी कविता से भिन्न तत्वो पर आधारित वास्तविक सामाजिक जीवन आधारित कविता की मॉग है, आग्रह है। नयी कविता की निस्सहाय नकारात्मक और उसकी गौरवान्वित करने वाली नयी समीक्षा अपने अन्तिम परिणाम और प्रभाव की दृष्टि से एक गर्दित राजनीतिक–सामाजिक लक्ष्य की पूर्ति मे सहायक बनी है और काफी समय तक बुद्धिजीवी कवि–कलाकारो को अपने भ्रमजाल मे बॉधे रही है, जिसने अब तक पूरी मुक्ति नही मिल सकी है। वर्तमान सन्दर्भों मे कला और कला–सिद्धान्तों की वास्तविक स्थिति पर विचार करते हुए मुक्तिबोध ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है:– "ध्यान मे रखने की बात है कि एक कला सिद्धान्त के पीछे एक जीवन दृष्टि होती है, उस जीवन दृष्टि के पीछे एक जीवन–दर्शन होता है और उस जीवन–दर्शन के पीछे आजकल के जमाने में एक राजनीतिक दृष्टि भी लगी रहती है।–15

अत अपनी राजनीतिक–निरपेक्षता और समाज–निरपेक्षता की घोषित नीति के बावजूद भी हिन्दी की नयी भावधारा ने राजनीतिक–सामाजिक क्षेत्रो मे यथा स्थिति बनाये रखने की प्रवृत्ति में सहायक होकर अपनी प्रतिक्रियावादी भूमिका का ही निर्वाह किया है। मुक्तिबोध सही अर्थों में मार्क्सवादी समीक्षक थे। लेकिन साहित्य और कला पर विचार करते हुए उन्होंने अपने को मार्क्सवादी सिद्धान्तों और उसकी दार्शनिक शब्द.वली से

प्राय बचाया है। कला और साहित्य मे मार्क्सवाद के उपयोग की समस्या पर विचार करते हुए माओत्से–तुग की मान्यता यहॉ उल्लेखनीय है" दुनिया समाज, कला और साहित्य के निरीक्षण या प्रत्यक्षीकरण के क्रम मे द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी और ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण को लागू करने के लिए हम मार्क्सवाद का अध्ययन करते है।– न कि अपनी कलात्मक और साहित्यिक कृतियो मे दार्शनिक सलाप को लिपिबद्ध करने के लिए – मार्क्सवाद कलात्मक – साहित्यिक सर्जन मे यथार्थवाद को अपनाता है, लेकिन वह यथार्थवाद को साहित्य का पर्याय नही बना सकता जैसे कि वह एटामिक्स और इलेक्ट्रानिक्स को भौतिक मे स्थान देता है मगर उन्हे भौतिकी का पर्याय नही बना सकता। खोखली पिटी–पिटाई उलझी हुई रूढिया और फार्मूले निश्चय ही सर्जनात्मक आवेग को नष्ट कर देगे और बहुत करके सबसे पहले वे मार्क्सवाद को ही नष्ट कर डालेंगे।–16 मुक्तिबोध के कलात्मक सृजन और उनकी समीक्षा मे हम इस तथ्य को ही आद्यान्त पाएगे।

प्रगतिवादी समीक्षा की अपेक्षा नयी भावधारा की समीक्षा मुक्तिबोध के लिए अधिक बडी चुनौती रही है। इस मच से नयी कविता मे पनपने वाली गर्हित प्रवृत्तियो के औचित्यो के औचित्य–स्थापना मे जो एक नया आलोचना सिद्धान्त विकसित (?) हुआ उसे मुक्तिबोध ने अत्यन्त खतरनाक माना है। उनकी स्पष्ट धारणा रही है कि कला की स्वायत्तता, कलावस्तु का स्वरूप, सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति को समानान्तरता साहित्य या साहित्यकार की पक्षधरता, साहित्यकार का दायित्व और उसकी ईमानदारी, आधुनिक भावबोध और उससे सम्बद्ध लघु–मानव का दर्शन कलाकार की व्यक्तिगत स्वतन्त्र आदि के माध्यम से नयी भावधारा की आधुनिक सभ्यता–समीक्षा एक निहित राजनीतिक–सामाजिक उद्देश्य से परिचालित थी, जो समीक्षा कला–सौदर्य, उसके तत्वों, उसके स्वरूप आदि से सम्बन्धित प्रश्नों से चलकर, जनता और समाज की परिकल्पना तक आती है– उसे

अराजनीतिक, सामाजिक न भी हो, लेकिन निहितार्थ यही है कि जनता के सघटित समूह को भीड कहकर उसमे आत्मा का अभाव घोषित कर, उसे व्यक्ति के स्वतन्त्र निर्णय मे बाधक बताकर लेखको को जनता से और इन सबके साथ ही जीवन सघर्ष से काटकर अलग कर दिया जाये। नयी विचारधारा के समीक्षको की सभ्यता–समीक्षा और स्वतन्त्र–निर्णय सम्बन्धी सिद्धान्त का साराश प्रस्तुत करते हुए मुक्तिबोध ने उन्ही की शब्दावली मे लिखा है "रूस हो या अमरीका– यहॉ सर्वत्र औद्योगिक सभ्यता है। औद्योगिक सभ्यता व्यक्तित्व का नाश करती है। व्यक्ति मे आत्म–निर्णय, विवेक–निर्णय, शक्ति का ह्रास हो जाता है। उसका व्यक्तित्व भी विखण्डित हो जाता है। साम्यवादी जगत और स्वतन्त्र जगत इन दोनो मे अन्तर केवल यह है कि 'स्वतन्त्र जगत मे व्यक्ति बावजूद व्यक्तित्व–नाश के अपने स्वतन्त्र निर्णय के लिए स्वतन्त्र है।–17

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या एक साल के अन्दर सरकार की अर्थनीतियो मे कोई बडा परिवर्तन आ गया था जिससे मुक्तिबोध को यह आशा बॅधी थी कि जिस सार्वजनिक क्षेत्र मे उद्योगो के विकास की बात मुक्तिबोध करते है उससे उद्योगपतियो को ही विशेष लाभ हुआ है। क्या अर्थव्यवस्था के आधार तत्वो से मुक्तिबोध परिचित नही थे? यदि परिचित नही थे तो सन् 1950 में यह कैसे लिख सके–

राजनीति, साहित्य और कला के प्रतिष्ठित/महासूर्य/बडे–बडे मसीहा

सरकस के जोकर से रिझाते है निरन्तर/नाचते है, कूदते है/शोषण के सिद्धहस्त स्वामियो के सामने/व्यक्तिगत आर्थिक निज/क्षमता की हवेली पर/सुखो की चॉदनी पर2तारों नीचे सोने के हेतु दे/नये बाथरूमों मे नहाने हेतु वे/चुपचाप आदर्शों की बाजू रख या भूलकर/अवसरवादी बुद्धिमत्ता ग्रहण कर/औ जिन्दगी को धूल कर/ बिल्कुल बिक जाते है।– 18 'काव्य : एक सांस्कृतिक प्रक्रिया' (1960 में प्रकाशित) नामक निबन्ध में मुक्तिबोध तत्कालीन असंगतिपूर्ण वातावरण के बारे में लिखते है:–

'आज का कवि एक असाधारण असामान्य' युग मे रह रहा है। वह एक ऐसे युग मे है जहॉ मानव सभ्यता सम्बन्धी प्रश्न महत्वपूर्ण हो उठे है समाज भयानक रूप से विषमता ग्रस्त हो गया है चारो ओर नैतिक ह्रास के दृश्य दिखायी दे रहे है। शोषण और उत्पीडन पहले से बहुत अधिक बढ गया है, नोच–खसोट, अवसरवाद, भ्रष्टाचार का बाजार गर्म है। कल के मसीहा आज उत्पीडक हो उठे है–19 कहना न होगा कि यह स्थिति भारत मे है। हॉ इसे देखने की दृष्टि मुक्तिबोध ने मार्क्सवाद से प्राप्त भले ही की हो परन्तु उस पर अतिशयोक्ति का रग नही चढाया है।

मुक्तिबोध की रचना प्रक्रिया ओर उनकी समीक्षा दृष्टि पर विचार से यह स्पष्ट है कि उनमे कष्टग्रस्त मानव जीवन के प्रति सर्वत्र एक गहन सम्पृक्ति मिलती है, उनकी कविताओ पर विचार करते हुए भी यह सम्पृक्ति ही हमारा ध्यान सबसे पहले आकृष्ट करती है। इस सम्पृक्ति के कारण मुक्तिबोध ने वर्तमान सभ्यता जो मूलत पूँजीवादी – औद्योगिक और व्यावसायिक सभ्यता है– के सम्बन्ध मे अपनी सवेदनात्मक प्रतिक्रियाये व्यक्त की है। ये प्रतिक्रियाये ही उनकी वर्तमान सभ्यता की समीक्षा प्रकट करती है इस सन्दर्भ मे यह स्मरणीय है कि मुक्तिबोध ने वर्तमान को एक निरपेक्ष इकाई न मानकर, उसे अतीत की एक आवश्यक परिणत और भविष्य के लिए एक अनिवार्य पृष्ठिभूमि के रूप मे स्वीकार किया है। अतः उनके द्वारा प्रस्तुत सभ्यता–समीक्षा को स्थूलत तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है।– 1–मानवी सामाजिक विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया, 2–वर्तमान सभ्यता–समीक्षा और 3 3–उज्जवल मानव भविष्य के प्रति दुर्दान्त आस्था। ये तीनो बाते परस्पर सम्बद्ध और एक दूसरे पर निर्भर बनकर उनकी कविताओ मे व्यक्त हुई है। यहॉ पहले ही यह सकेत कर देना आवश्यक है कि उक्त तीनो स्थितियों को मुक्तिबोध ने वाह्याश्रित समस्या के रूप में चित्रित न करके, उन्हें अपनी आत्मा के अन्तरात्मा के प्रश्न के रूप में उपस्थित किया

है। वर्तमान सभ्यता – समीक्षा से सम्बद्ध उनकी अधिकाश कविताओ का आत्मसघर्ष और आत्मसाक्षात्कार से आरम्भ इसका स्पष्ट प्रमाण है।

मुक्तिबोध एक लक्ष्योन्मुखी कवि है। अत उनकी कविता एक निश्चित उद्देश्य की दिशा मे अग्रसर होती है। यह उद्देश्य है, आत्म–मुक्ति से लगाकर मानव–मुक्ति के मार्ग का शोध। उनके इस शोध की प्रक्रिया के त्रिकोण का प्रस्थान बिन्दु यद्यपि वर्तमान होता है लेकिन उसका दूसरा छोर अतीत और तीसरा छोर सीधे भविष्य से सम्बद्ध रहता है। अतीत, वर्तमान और भविष्य के प्रति व्यक्त कवि की सवेदनात्मक प्रतिक्रियाए उसे एक मार्क्सवादी कलाकर सिद्ध करती है। इस तथ्य को मुक्तिबोध, की 'मेरे सहचर मित्र' के प्रति सबोधन से इस प्रकार होता है–

मेरे सहचर मित्र,/जिन्दगी के फूटे घुटने से बहती/रक्तधारा का जिक्र न कर/क्यो चढा स्वय के कन्धो पर/ यो खडा किया। नभ को छूने। अपने से दुगुना बडा किया/मुझको क्योकर?

वाह्य स्थिति– परिस्थिति के घात–प्रतिघात से जब अन्तर के उद्रिक्ततत्व सवेदनात्मक उद्देश्यो की चोट से अन्तरात्मा के निर्देशन मे अग्रसर होते हैं तब सबसे पहले वैयक्तिकता का परिहार होता है। यहॉ वैयक्तिकता का परिहार करने वाला संबोधनकर्ता कवि का प्रतिनिधि मध्यवर्गीय समाज का व्यक्ति है और सहचर मित्र उत्पीडन जन–समाज का प्रतिनिधि सर्वहारा वर्ग है। अन्तरात्मा के निर्देशन मे चलने के कारण कला आत्मपीडा के प्रश्न का उत्तर साधारण जन की पीडा के अनुभवो मे प्राप्त करना चाहता है। इसलिए वह अपने घुटनो से बहती रक्तधार अर्थात् अपनी निजी व्यथा की उपेक्षा करते हुए, सर्वहारा के प्रति अपना आभार व्यक्त करता है। वर्तमान समाज और उसकी व्यावायिक–सभ्यता की समीक्षा करते हुए मुक्तिबोध ने नगरीय–सभ्यता पर भी अपने मन्तव्य व्यक्त किये है। नगर वर्तमान पूॅजीवादी सभ्यता की विकृतियो के मूर्त रूप धारण कर उनकी कविता में आए है। केवल भारतीय ही नहीं वरन् विश्व स्तर पर भी

व्यावसायिकता का सबसे अधिक दबाव नागरिक जीवन मे ही दिखाई देता है। वे पूँजीवाद की महत्तम उपलब्धियो के सामाजीकरण पर जोर दे रहे थे, जो उत्पादन के साधनो पर व्यक्तिगत अधिकार के स्थान पर जोर दे रहे थे। जो उत्पादन के साधनो के बिना असम्भव है। इस प्रकार नगरीय – सामाजिक जीवन की विकृतियो की समाप्ति के लिए पूँजीवादी व्यवस्था की समाप्ति और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना उसका सामाजिक – राजनीतिक आदर्श था। इस सम्बन्ध में उनकी स्पष्ट मान्यता रही है। "आर्थिक–उत्पीडन और शोषणमूलक यह जो भयानक पूँजीवादी समाज – व्यवस्था है, वह हमेशा के लिए समाप्त हो। और उत्पादन तथा श्रम के समस्त माध्यमो तथा साधनो पर पूरे समाज का अधिकार हो। समाजवाद जनता की जन साधारण की मुक्ति का राजपथ है। मेरे जैसे कोटिश अकिचनो और आरक्षित जीवन वालो की मुक्ति का रास्ता है।"– इस आदर्श को लेकर मुक्तिबोध नागरिक सभ्यता–समीक्षा की ओर उन्मुख हुए है। मुझे याद आते है शीर्षक कविता के माध्यम से उनकी एतद्विषयक मान्यता को आसानी से समझा जा सकता है। इस कविता मे भी वे आत्मपरक से लोकपरक या समाजपरक होने की प्रक्रिया प्रस्तुत करते हुए, आत्मानुभवो को सामाजिक सन्दर्भ देने का प्रयास करते है। कविता का आरम्भ आत्म–निरीक्षण से इस प्रकार होता है:–

मात्र अस्तित्व की रक्षा मे व्यतीत हुए दिन की/कि फलहीन दिवस की निरर्थकता की इसक को देखकर/श्रद्धा भी भर्त्सना की भार सह लेती है, झुकाती है लज्जा से देवोपम ग्रीव निज,।

ग्लानि से निष्ठा का जी धँस जाता है। दुनिया की बदरग भूरेपन की झाँकी मे से झाँककर। भैगी वे कानी सी आँखे दो। (किसी जीवित मृत्यु की) आशीर्वाद देती है.......। क्रमशः मृत्यु का! – 20 मात्र अस्तित्व रक्षा में व्यतीत जीवन से निरर्थकता, ग्लानि, अनास्था, आत्मभर्त्सना, आत्मघात आदि की भावना का उदय विषमता एवं अन्तर्विरोधों से ग्रस्त समाज की देन है। जीवन

यात्रा के दौरान इनका अनुभव स्वाभाविक है लेकिन मुक्तिबोध इन्हे स्वाभाविक मानते हुए भी प्राकृतिक एव आध्यात्मिक विपत्तियो की तरह अपरिहार्य और अनतिक्रमणीय नही मानते। वे दुनिया की बदरग भूरेपन की झॉकी लेते हुए, जिन्दगी की दुनिया को कोसते हुए इन अगतिशील मनोदशाओ की कार्य–कारण श्रृखला स्थापित कर, इन्हे एक गतिशील परिप्रेक्ष्य प्रदान करते है। इस सम्बन्ध मे मुक्तिबोध की यह स्पष्ट मान्यता रही है कि व्यर्थता, ग्लानि, निराशा आदि अपने–आप मे अगतिशील मनोवृत्ति नही है यदि इनकी कार्य–कारण श्रृखला पर विचार किया जाय तो ये एक विशेष सामाजिक–सरचना, पूँजीवादी, समाज–व्यवस्था की विकृतियों के रूप मे सामने आयेगी। ऐसी स्थिति मे इनका निराकरण भी सभव है। अधूरी और सतही जिन्दगी के गर्म रास्तों पर चलते हुए मुक्तिबोध को जिन नये यथार्थों का अनुभव होता है, उनमे व्यर्थता, निराशा, ग्लानि अकेलेपन आदि के अनुभव भी सम्मिलित है। अन्य अनेक भागो मे से इसका एक बडा कारण वे नागरिक जीवन मानते है। बैको, औद्योगिक प्रतिष्ठानो प्रसार–सचार माध्यमो की अधिकता के कारण नगर पूँजीवादी सत्ता के अभेद्य दुर्ग के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुके है। जो समाज मे बहुत सारी विकृतियो को जन्म दे रहे है। अपनी निराशा, ग्लानि, व्यर्थता, आत्मघात आदि के भयंकर दु.स्वप्न को लेकर शहरी सडको पर चलते हुए कवि जब सिनेमा, दुकानो, रोगो और अन्यान्य नयी वस्तुओ के शानदार विज्ञापन देखता दमकती हुई रौनक का उल्लास और नित नये फैशन मे चहचहाती सडकों का हुलास देखता है– तो नगर का मुसकता हुआ महाकार व्यक्तित्व उसके सामने एक नये यथार्थ का रहस्य उद्घाटित कर देता है:–

"लगता है– कि समस्त स्वर्गीय चमचमाते आभालोक वाले/इस नगर निजत्व जादुई/कि रंगीन मायाओं का प्रदीप्त पुंज यह रूप मे अरूप/अथवा आकार मे निराकार/समूहीकृत गुणों में है निर्गुण/अपौरूषे, झूठ। भयकर दुःस्वप्न का विश्वरूप।–21

मानवीय सत्यो तथा तथ्यो के विकृतीकरण की प्रक्रिया मे सबसे पहले उनका अमूर्तीकरण आरम्भ होता है। यहॉ अमूर्तीकरण का अभिप्राय इसके वाचक अग्रेजी शब्द के ऐब्सटैक्शन से है जिसमे हिन्दी के अमूर्तीकरण और पृथक्करण–दोनो शब्दो का अर्थ अन्तर्भूत है। यह 'ऐब्स्टै्क्शन पूॅजीवाद उत्पादन और पद्धति के तहत 'उपज' को उत्पादित वस्तु और विनिमय मूल्य – दो भागो मे विभक्त कर, विनिमय मूल्य को क्रय–मूल्य और विक्रय–मूल्य परस्पर विरोधी दो भागो मे विभक्त करते हुए, मॉग और पूर्ति द्वारा सचालित अत्यन्त अमानवीय और कृत्रिम बाजार – नियम के अधीन वर्तमान समाज मे जिस व्यापक विभाजन की प्रक्रिया का आरम्भ करता है, उसमे वस्तुओ और मूल्यो के पारस्परिक सम्बन्धो के विघटन के साथ ही मानवी– सामाजिक सम्बन्धो का भी विघटन होता है। पूजीपति और श्रमिक के रूप मे उत्पादक विनिमयकर्ता और उपभोक्ता के मध्य उत्पन्न आक्रामक अन्तर्विरोध पूरे समाज का अन्तर्विरोध बन जाता है जो सामाजिक चरित्र अन्तत व्यक्ति चरित्र बन जाता है और समाज के व्यक्ति के विरूद्ध ही नही खडा करता वरन् व्यक्ति–व्यक्ति मे विरोध उत्पन्न कराते हुए स्वय व्यक्ति का अन्तर्विरोध बन जाता है।

इस प्रकार पूॅजीवादी उत्पादन प्रणाली जिस व्यावसायिक सभ्यता को जन्म देती है उसमे समस्त मानवी–उपलब्ध्यिॉ अमानवीय रूप धारण कर लेती है। और दो सिर चार पैर वाले राक्षस बच्चों को जन्म देती हैं, ये राक्षस बालक विभाजित· व्यक्तित्व के व्यक्ति ही नही, उत्पादित 'वस्तु' के स्वरूप और उसकी प्रकृति (उपज = लागत – मूल्य + विनिमय – मूल्य। विनिमय – मूल्य = क्रयमूल्य + विक्रयमूल्य.....) को भी द्योतिक करते है।

राजनैतिक परिवेशः

कागेस की स्थापना यद्यपि सन् 1885 ई0 मे हो चुकी थी परन्तु राजनैतिक क्षेत्र मे सरगरमी सन् 1905 मे बग–भंग के समय आयी। काग्रेस मे दो दल नरम और गरम हो गये थे। सन् 1919 मे रौलेट ऐक्ट के विरूद्ध देशव्यापी आन्दोलन के नेतृत्व के साथ भारतीय राजनीतिक मच पर गाधी जी का आविर्भाव हुआ। इधर गॉधी जी काग्रेस के ऊपर छाये रहे, दूसरी ओर क्रान्तिकारी युवक काग्रेस की उदारनीति से उकता गये थे, जिन्हे सन् 1917 की सफल रूसी क्रान्ति से प्रेरणा मिली थी एव जलियावाला बाग काण्ड के गुनहगार जनरल डायर को मारा जा चुका था। इससे क्रान्तिकारियो की सरगर्मियां तेज हो गयी थी। काग्रेस का एक पक्ष क्रान्तिकारियो के प्रति सहानुभूति रखता था, परन्तु गॉधी जी के जादू से निकल नही पाता था। सन् 1926 के अधिवेशन मे वामपक्ष की विजय हुई और लालालाजपत राय अध्यक्ष चुने गये तथा 1928 मे उस समय राष्ट्रीय चेतना पूरे जोर पर पहुँच गयी जब साइमन कमीशन के विरूद्ध आन्दोलन मे लाठी लगने से लाला लाजपत राय की मृत्यु हो गयी। क्रान्तिकारियो ने लाला जी की मृत्यु का बदला जे0पी0 साडर्स की गोली से हत्या करके लिया। 8 अप्रैल 1926 को भगत सिह और वटुकेश्वर दत्त ने असमेम्बली हाल मे बम फेंककर अपनी देशभक्ति का सबूत दिया। यशपाल ने वायसराय की ट्रेन को बम से उडाने की कोशिश की। गॉधी जी ने 'यग इण्डिया' में इस कार्यवाही की आलोचना की इसके उत्तर में क्रान्तिकारियो द्वारा 'बम का दर्शन' नामक परिपत्र सारे देश में बांटा गया जिससे उन्होंने गॉधी जी और कांग्रेस की तर्कपूर्ण आलोचना की। साथ ही गॉधी जी और कांग्रेस के जन–जागृति के कार्य की सराहना करते हुए आशा यक्त की कि कांग्रेस अहिंसा की सनक छोडकर क्रान्तिकारियों के कंधों से कंधा मिलाकर पूर्ण स्वन्त्रता के लक्ष्य को प्राप्त करेगी।–2

ध्यातव्य है कि यह सुझाव गॉधी जी को रास आना मुश्किल था तथा दूसरी ओर क्रान्तिकारियो के प्रति देश के पूँजीपतियो और सुविधा भोगियो की कोई दिलचस्पी नही थी।–3 सन् 1935 के ब्रिटिश भारत कानून द्वारा प्रान्तीय धारा सभाओ को मान्यता दे दी गयी। यह एक सफलता जो अभी एक मत होकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए सघर्ष कर रहे थे, पद लालसा ने उनमे वैमनस्य पैदा कर दिया है वर्किंक–कमेटी की मीटिग मे क्रान्ति कारियो के मत्री बनने के पक्ष मे चार सौ अस्सी वोट पडे और विपक्षो मे दो सौ पचपन।–4

मुसलमानो मे साम्प्रदायिकता की भावना पैदा करने मे लार्ड मिन्टो का बहुत बडा हाथ है। उन्होने मुस्लिम शिश्ट–मण्डल की यह मॉग स्वीकार कर ली जिसमे मुसलमानो के लिए अलग और ज्यादा सीटो की व्यवस्था हो ऐसा करने पर सरकार ने सोचा कि इससे बहुमत वाले लोग अल्पमत वालो पर अपना गुस्सा उतारेगे। – 5 इसका प्रभाव 1936 के चुनाव के बाद दिखाई देने लगा। सन् 1936 के चुनाव के बाद मुस्लिम लीग के नेताओ ने प्रान्तीय मत्रिमण्डल के विषय में गैर रस्मी समझौता करने की कोशिश की लेकिन कांग्रेस पूरे देश की प्रतिनिधि है और लीग का कोई अस्तित्व नही। – 6 हिन्दू महासभा को चुनाव मे कोई एक सफलता नही मिली थी और कम्युनिष्ट पार्टी 1935 से 1938 तक अवैध घोषित कर दी गयी थी। सितम्बर 1939 मे ब्रिटेन ने जर्मनी के खिलाफ जग का ऐलान कर भारत को भी युद्धरत घोषित कर दिया। इस पर कांग्रेस एक "अस्थायी सरकार' के लि अडी रही और भारत को युद्ध मे शामिल करने का कारण जानना चाहा।–7

सरकार की ओर से कोई सन्तोष जनक उत्तर न मिलने पर अक्टूबर 1936 में सभी कांग्रेस मन्त्रिमण्डलो ने इस्तीफा दे दिया। कांग्रेस द्वारा पुनः प्रयास करने और उसके असफल हो जाने पर व्यक्तिगत सत्याग्रह किया गया। क्रिप्स के आने पर भी बात नहीं बनी। अन्त में 8 अगस्त 1942 मे गॉधी जी ने एक प्रस्ताव पारित किया और कहा कि अब हम स्वतन्त्र हो गये

है।—8 कम्युनिस्ट पार्टी की इस युद्ध के प्रति—प्रतिक्रिया विचित्र प्रकार की रही। भारतीय साम्यवादी दल ने युद्ध के प्रथम चरण मे जब साम्राज्यवादी और फॉसीवादी शक्तियो के बीच युद्ध चल रहा था और जब सोवियत सघ उसमे शामिल नही हुआ था, साम्राज्यवाद विरोधी लोगो ने जन सघर्ष विकसित करने और उसका नेतृत्व करने की नीति का अनुसरण किया। किन्तु तब जर्मनी ने सोवियतसंघ के साथ युद्ध सम्बन्धी गठबन्धन कर लिया, तब भारतीय साम्यवादी दल ने रग बदल दिया। युद्ध को जनयुद्ध कहकर गौरवान्वित किया और ब्रिटिश शासन से आजादी के लिए लडने वालो सघर्षो का विरोध किया।

वस्तुत उसने ब्रिटिश सरकार के युद्ध प्रयत्नों को सहायता दी। राष्ट्रवादी जनविद्रोहो से अनुपस्थित और उनका विरोध कर भारतीय साम्यवादी दल ने राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को धोख दिया है और आन्दोलन के नेतृत्व को समझौता परस्त भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक मुस्लिम लीग के हाथ मे छोड दिया।—9 सन् 1945 के आरभ मे महारानी की सरकार ऐसी अस्थायी सरकार के लिए राजी हो गयी जिसमे काग्रेस और लीग के बराबर सदस्य हों। परन्तु उसकी शब्दावली ने साम्प्रदायिक भावना को बढावा दिया। जून 1945 का 'शिमला—सम्मेलन' असफल हो गया। और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के नेता एक दूसरे का कुप्रचार करने मे लग ये यह दलो की स्थिति थी। जनता इससे अलग होकर अंग्रेजी साम्राज्य से जूझ रही थी। इसका प्रभाव फरवरी 1946 मे 'भारतीय नौ सेना का विद्रोह' और बम्बई वासियो द्वारा उनका सहयोग है। नाविकों ने जहाजो से ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतीक यूनियन जेक उतार फेंका और तिरंगा, मुस्लिम लीग का चांद तथा कम्युनिस्ट पार्टी के झडे फहराये।—10 यह क्रान्ति का दूसरा उभार था। कांग्रेस गॉधीजी और मुस्लिम लीग ने इस कार्य की निन्दा की। यह विद्रोह सगठित विद्रोह न होने के

कारण सफल क्रान्ति का रूप नही ले सका। सैनिको ने सरदार पटेल के दबाव में आत्मसमर्पण कर दिया।

साम्राज्यवाद के सामने बडा भयानक सकट था जो दिनो–दिन और भयानक होता जा रहा था। एक तरफ मजदूर वर्ग और किसानो के सघर्ष और देशी राजाओ के शासन के खिलाफ जनता के प्रति विद्रोह बढ रहे थे दूसरी ओर राजनीतिक विश्रृखलता और प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक कलह और अराजकता बढ रही थी। साम्राज्यवाद के साथ भारतीय पूँजीपति वर्ग भी सशक्ति था। जिसने दो विश्वयुद्धो में अच्छा नफर कमाकर अपनी स्थिति मजबूत कर ली थी। ब्रिटेन मे मजदूर पार्टी की विजय भारत मे व्यापक असंतोष, साम्प्रदायिक दंगे आदि अनेक कारण सत्ता के हस्तान्तरण मे सहायक बने। वास्तव मे आजाद हिन्द फौज भारतीय नौ सेना के अभूतपूर्व स्वदेशाभिमानी प्रदर्शन से ब्रिटिश साम्राज्यवादी और भारतीय पूँजीपति दोनो भयभीत हो गये थे। दोनों के हित वैधानिक सत्ता हस्तान्तरण मे संयुक्त थे–12 इस तरह 'माउन्टवैटन योजना' द्वारा भारत को स्वतन्त्रता मिल गयी जिसे कम्युनिस्ट पार्टी ने झूठी स्वतन्त्रता कहा है।–13

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय प्रशासकीय उच्च अधिकारी वर्ग मे अपने धुंधले भविष्य के कारण शकाऐ उठ रही थी। वे चाहते थे कि प्रशासकीय संगठन और सुशासन बनाये रखने के लिए ब्रिटेन की शासन व्यवस्था को कायम रखा जाए। नेतावर्ग गाधी जी के आदर्शों से हटकर सत्ता और ऐश्वर्य के लिए लालायित था। कांग्रेसी अपने बलिदान की कीमत वसूल कर लेना चाहते थे और पूँजी पति वर्ग शासक को खरीदकर सुरक्षा प्राप्त करने के प्रयत्न में था।–14 कांग्रेस के अंदर दो प्रमुख वर्ग हो गया था एक नेहरू के साथ परिवर्तन कामी था और दूसरा सरदार पटेल और प्रसाद के साथ गॉधीवादी दृष्टि से सुधार चाहने वाला। एक तीसरा वर्ग प्रतिक्रियावादियों का भी था जिसमें राजे–महाराजे शामिल थे। सरदार पटेल के प्रश्रय मे भारतीय पूँजीपतियों ने कांग्रेस पर अधिकार जमा लिया था। इसी कारण स्वाधीन

भारत मे साम्राज्यवाद के शासन को ज्यो का त्यो अपना लिया गया था वही अवसरशाही पहले जो अग्रेजो के दलाल थे और जनता का दमन करने मे मदद देते थे आज शासन चला रहे थे तथा भ्रष्टाचार बढता जा रहा था।–15 नेहरू ने भारत का विकास रूप की पचवर्षीय योजना के रूप मे करने की कल्पना की प्रथम पचवर्षीय योजना मे सिचाइ एव परिवहन पर प्रमुख बल दिया। लेकिन नेहरू जिस देश के कर्णधार थे वह पूॅजीवादी राज्य था और यथार्थ मे समाजवाद का नही पूॅजीवाद का निर्माण हो रहा था। कयोकि राज्य के आधार तत्व पूॅजीवाद थे।–17 छठवे दशक मे काग्रेस द्वारा भ्रष्टाचार की खबरे समाचार पत्रो की सुर्खियो मे छापी जाती थी। कागेस में लखपति सामन्ती राजे–महराजे जमीदार हिन्दू साम्प्रदायिकतावादी अपना घर भर रहे थे।–18 भारत के राजनैतिक दलो मे सबसे बडा और प्रभावशाली दल भारतीय राष्ट्रीय कागेस का ही था। स्वतंत्रता प्राप्त के बाद गॉधीजी के इस मन मुटाव और वैचारिक सघर्ष के कारण आचार्य कृपलानी ने सन् 1951 मे 'किसान–मजदूर और प्रजापार्टी' बनायी। इसमे काग्रेस समाजवादी दल को विलय कर सितम्बर 1952 ई0 मे 'प्रजा समाजवादी' दल की स्थापना हुई। प्रथम चुनाव मे प्रजासमाजवादी दल को निराशा हाथ लगी। सन् 1935 मे डा0 राममनोहर लोहिया ने अलग दल बनाने की घोषणा की और सन् 1955 में अलग समाजवादी दल बनाया।–20

भारतीय जनसघ की स्थापना 21 अक्टूबर 1951 को डॉ0 श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने की और उसे पहले तीन चुनावो मे आशिक सफलता मिली, काग्रेस के बाद भारतीय कम्युनिस्टपार्टी ही एक ऐसा राजनीतिक दल है जिसे सर्वाधिक लोकप्रियता मिली। पहले आम चुनाव में सफलता प्राप्त कर ससद के विरोध पक्ष में मुख्य गुट की भूमिका ग्रहण की। दूसरे आम चुनाव में भी उसे दूसरा स्थान प्राप्त हुआ। संसद के दोनों सदनों मे उसे मुख्य विरोध गुरू का स्थान मिला, तथा केरल मे पहली बार साम्यवादी दल के नेतृत्व की सरकार बनी।

इस प्रगति और सफलता के बावजूद भारतीय कम्यूनिस्टपार्टी की नीतियो मे काफी लचीलापन दिखायी देता है। पार्टी के अन्दर भी परस्पर विरोधी विचारधाराये दो प्रवृत्तियो के रूप मे स्पष्टत सामने आयी। एक ने काग्रेस के कार्यक्रमो मे विश्वास व्यक्त किया और राष्ट्रीय सयुक्त मोर्चे का नारा बुलन्द किया। दूसरे खेमे वालो ने इस प्रवृत्तियो का कडत्रा विरोध किया।–21 इन प्रवृत्तियो मे सघर्ष के कारण का स्रोत रूस और चीन की साम्यवादी पार्टियो के तनाव मे ढूढे जा सकते है। रूस और चीन की साम्यवादी पार्टिया वैचारिक मार्गदर्शन के साथ भारतीय साम्यवादियो का नियन्त्रण और सचालन करती रही है।–22 इस तनाव मे सघर्ष के कारण सन् 1964 मे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन हो गया इस तरह देश की प्रमुख राजनैतिक पार्टियो मे आपसी मनमुटाव बना रहा। ये अपनी शक्ति रखती थी इस चुनाव के समय आकर्षण घोषणा पत्र मे विकास के कार्यक्रमो को जनता के सामने रखती रही है। एक दूसरे के प्रति इनका आक्रामक रवैया रहा है तथा एक दूसरे की कमजोरियों को पकडत्रकर प्रचार और कुप्रचार करती रही है।–23

भारत की विदेश नीति मे पर्याप्त लचीलापन का भाव रहा है। सन् 1950 के शीतयुद्ध के आतक में नेहरू ने देखा कि अमरीका सबसे ताकतवर है और उसका शिकंजा कसता जा रहा है तो उसकी ओर उन्होने तटस्थ रूख नहीं अपनाया। जब 15 जून 1950 में उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया तथा अमरीका युद्ध में कूद पड़ा तो भारत ने अमरीकी हस्तक्षेप के पक्ष मे मत दिया।–24 इसी प्रकार सन् 1956 मे हगरी मे रूसी हस्तक्षेप पर चुप्पी साध ली।–25 इन अन्तर्विरोधो के लिए मात्र सरकार ही दोषी नहीं है आर्थिक स्थिति के पिछडे राष्ट्र से और क्या उम्मीद की जा सकती थी? इस सबके बावजूद भी नेहरू जी इन्डोनेशिया की स्वतन्त्रता की वकालत करके, जिनेता सम्मेलन और बाहुरंग सम्मेलन आदि को सफल बनवाकर विदेशों में भारी प्रसिद्धि प्राप्त की।

अग्रेजो द्वारा प्रदत्त साम्प्रदायिक भावना पाकिस्तान के अलग हो जाने पर भी बनी रही। वर्गगत स्वार्थों ने धर्म निरपेक्ष राजनीतिक सगठन का आधार बनाया।–26 'साम्प्रदायवाद 'लोकतत्रीय राष्ट्रवाद के विरूद्ध स्थापित अभिजात वर्ग को राजनीतिक प्रतिक्रिया भी एक समुदाय की धार्मिक भावना की राजनीतिक अभिव्यक्ति नही।–27 जातिवाद, कौमवाद का प्रयोग चुनावो मे किया जाता रहा। इस तरह राजनीतिक क्षेत्र मे पर्याप्त असरवाद फैल गया था। राजनीतिक दल जनता के अधिकारो के लिए व्यावहारिक रूप मे सघर्षरत नही थे। सत्ता पर पहुॅचने के लिए सभी पार्टियॉ लालायित थी। मुक्तिबोध के साहित्य मे राजनैतिक स्तर की विशेष महत्ता है। राजनीतिक क्षेत्र में व्याप्त अवसरवाद, भ्रष्टाचार, पद–लालसा खोखली नारेबाजी के अनेक सन्दर्भ उनके साहित्य मे मिलते है। भारतीय नेताओ की उपदेशात्मकवृत्ति पर इन पक्तियो मे व्यग्य किया गया है–

लगता था कि वह भाषण है। उसमे उपदेश दिये जा रहे थे। राष्ट्र के निर्माण के लिए नवयुवको को तेयार रहना चाहिए। समाज के पुनर्निमाण के लक्ष्य की प्राप्ति के सरकारी प्रयत्नो मे सहयोग कीजिए आदि–आदि। मै सोचने लगा कि ये शब्द अपने मे अर्थवान होते हुए भी कितने निरर्थक है। उन्हें पढ़कर या सुनकर हमारे नवयुवक को ऐसा नही मालूम होता जेसे उनकी जिन्दगी की बात हो रही हो।–28

मुक्तिबोध ने नेताओ की सत्ता लालसा की ओर 'बीकर – डायरी' मे सकेत किया है। जन–कल्याण के कार्यो से दूर नेताओ को चुनाव जीतने और सत्ता मे पहुॅचने के लिए जनता में प्लेटफार्म की जरूरत है। वीरकर से एक नेता का पुत्र अपने पिता को जनता में प्लेटफार्म दिलवाने का अनुरोध करता है। मुक्तिबोध टिप्पणी करते है: जी हॉ, जनता में उनको प्लेटफार्म नही मिल पाता इसलिए वे आजकल भूदान–आन्दोलन में काम कर रहे है।–29 भारतीय राजनीति में जाति अब तक एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही है। चुनावों मे जातिवाद का व्यापक उपयोग किया जाता है। चुनाब क्षेत्र

मे प्रमुखता जिन जाति की सख्या अधिक होती है राजनीतिक पार्टियो उस जाति के व्यक्ति को अपना उम्मीदवार चुनती है। नौकरी तथा अन्य क्षेत्रो मे जातिवाद और भाई भतीजावाद जोड पकड रहा है।–30

'उपसहार कहानी अवसरवाद सत्ता प्रेम तथा अन्य राजनैतिक हथकण्डो को प्रकाश मे लाती है। जनतत्र के नाम पर चल रही तानाशाही की झलक एक पात्र का यह कथन–

"हमारे शासक भी जनतत्र का उपयोग करते है? जननेता बने फिरते है। गुण्डा एकट कहॉ–कहॉ किस–किस पर लगाया गया है, जानते है आप? विरोधी पार्टियो के नेताओ और कार्यकर्ताओ पर केवल नही, पुराने काग्रेसी कार्यकर्ताओ पर जो सत्ताधारी दल के खिलाफ बोलते और कार्य करते थे उन पर भी लगाया गया है।–31

मुक्तिबोध 15 अगस्त 1947 को मिली स्वाधीनता के वास्तविक इतिहास से परिचित थे। उन तथ्यो से बिज्ञ होने के कारण ही वे कह सके कि 'जिस भ्रष्टाचार, अवसरवादिता और अनाचार से आज हमारा समाज न्यस्त है उसका सूत्रपात बुजुर्गों ने किया है। स्वाधीनता प्राप्त के उपरान्त भारत मे दिल्ली से लेकर प्रान्तीय राजधानियों तक भ्रष्टाचार और अवसरवादिता के जो दृश्य दिखाई दिये उनमे बुजुर्गों का बहुत बडा हाथ है। 32 मुक्तिबोध प्रतिक्रियावादियों द्वारा फैलायी गयी भ्रांतियो के प्रति सचेत रहने के लि नवोदित साहित्यकारों को यह बताते है कि जनता की राजनीति और जनोन्मुख साहित्य का स्रोत एक ही है और वह है– आज का यथार्थ

आज का यथार्थ कोई रहस्यवादी धारणा नहीं है, जिसको समझने के लिए इडा, पिंगला, सुषुम्ना नाडियो को तीव्र करना जरूरी हो आज का यथार्थ जनता के जीवन का यथार्थ है जो हम रोजमर्रा जीते है। यदि हमारी काव्यप्रेरणा वस्तुतः जनजीवन से उद्‌भूत हुई हो तोजनजीवन की वर्तमान परिस्थितियॉ और कष्टों का कारण भी हमारी अनुभूति क्षेत्र का अंश होगा अर्थात् इंसानियत को तबाह करने वाले रावणों, उनके सिपहसालारों और

दासो के जन विरोधी षड्यत्र भी हमारी अनुभूतियो के अग होगे आज बौद्धिक स्तर पर नही वे हमारे हृदय और आत्मा के समस्त अभिप्रायों मे लीन हो जाऐगे। जब वे लीन होगे तब स्थायी भाव होगा– घृणा, घृणा और भयानक घृणा! तथा उनके नाश का सकल्प!! देशभक्ति का अर्थ– जनभक्ति होगा। अतएव राजनीति और साहित्य मात्र अभिव्यक्ति मे भिन्न है उनका मूल है– आज का यथार्थ यानी जन जीवन का यथार्थ उसके लक्ष्य उसके अभिप्रेत, उसके संघर्ष।–33

मुक्तिबोध उन पत्रकारो, साहित्यकारो और राजनीतिज्ञो को आडे हाथो लेते है, जो अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए परपरा के नाम पर कालपनिक नैतिकता की दुहाई देकर नौजवानो को गुमराह करना चाहते है। पुराने शहीदो, भगत सिंह, बोस गदर पार्टी की यशोगाथा से नौजवानो के जरिए उनकी उलझनों को दूर नहीं किया जा सकता। बढे चलो बहादुरो, बढे चलो इसका असर कुछ नहीं होगा।.. महगी शिक्षा, फिर नौकरी, करो और पैसा लाओ की घर से मॉग, परिवार का असन्तोष, विक्षोभ, अन्याय, भूख, दरिद्रता का असर उनकी मनोदशाओ पर पडता है और पेशा चुनने की सहूलियत नहीं मिलती।–34 जटिल जीवन परिस्थितियो मे, दिन गुजारने वाली पीढी में विकास का रास्ता खोजने के बजाय उसे सिर्फ सीख देने की हिमाकत माननेवाले सत्ता–धारियों के सामने मुक्तिबोध चुनौती छोड देते है– जो समाज और राज्य नौजवानो को सतत् उन्नतिशील पेशा नहीं दे सकता, वह राज्य और वह समाज टिक नही सकता। इतिहास में विशाल हाथ उसकी कब्र खोदने के लिए बडा भारी गड्ढा तैयार कर रहे है–35 इन सारे सवालो का हल मुक्तिबोध के वर्गहीन समाज की स्थापना के प्रयत्नो मे नजर आता है। देश के सत्ताधारी दल से भी यह तथ्य छिपा नहीं था लेकिन उसकी कथनी और करनी में मुक्तिबोध साम्य नही ढूढ पाते है। फलता. काग्रेस के हैदराबाद अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष के वक्तव्य पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने आशंका व्यक्त की है– “चूँकि वर्गहीन समाज आज के युग की

सबसे बडी पुरार है इसीलिए काग्रेस भी अपना ध्येय वर्गहीन समाज बनाना चाहती है। पर प्रश्न उठता है कि क्या घोर पूँजीवाद व्यवस्था पर आधारित काग्रेस सगठन जनता को सिर्फ अपने ध्येय मे परिवर्तन के आधार पर अपनी ओर आकर्षित कर सकता है?—36

कहने की आवश्यकता नही कि समाजवाद के दर्जनो रूप आए—गये, हुए लेकिन देश मे सामाजिक—आर्थिक साम्य स्थापित करने की समस्या आज भी ज्यो कि त्यों बनी हुई है और इसके हल की पुकार के सामने आकर्षक सिद्धान्तो के नमूने बराबर पेश होते रहते है। शाब्दिक धोखो के प्रति मुक्तिबोध अत्यधिक सजग—सतर्क रहे है। राजनीति के धोखो को साहित्यिक क्षेत्र मे उतरते देखकर वे उनके इरादो को एकदम भॉप लेते है— 'राजनैतिक क्षेत्र की अवसरवादी प्रवृत्तियो के फलस्वरूप हमारे यहॉ एक नयी जाति पैदा हुई है, जिसे हम दादाओं की जाति कहते है। हमे दादाओ की जरूरत नहीं, भाइयो की जरूरत है। दादागीरी से हमारा मतलब ऐसे लोगो से है जो अपने नेतृत्व के लिए जीते है।. पुराने साहित्यिक दद्दा अब लेखको से प्रेम भले ही निभाए और नौजवान लोग भी भारतीय सस्कारो के अनुसार उन्हे अवनत हृदय प्रणाम करे किन्तु जहॉ तक प्रेरणा की स्रोतस्थली का सम्बन्ध है उसने अपना हिमालय खोल लिया है।—37

मुक्तिबोध नयी साहित्यिक जिन्दगी के लिए नये प्रकार की सस्थाओ की जरूरत का अनुभव करते ह जनवादी सास्कृतिक गोष्ठियो की रूपरेखा तैयार करते है, नयी जिन्दगी के अनुरूप नयी साहित्यिक प्रतिभाओं को प्रेरित करते है।

'नर्मदा की बानी' काव्य सकलन की योजना प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं— सवाल यह है कि वे अनुभव क्या है, जिन्हें शब्दांकित करने के लिए हमे पुराने से ज्यादा मदद नहीं मिल सकती? ये अनुभव निश्चय ही हमारे व्यक्तिगत होते हुए भी अपनी कठोरता और उग्रता के गुण उन्होंने सामाजिक परिस्थितियों से पाया है— भयानक शोषण, बेहद गरीबी,

प्रतिक्रियावादी शक्तियो की जिज्ञासा अवसरवाद, और उनके विरूद्ध नयी ताकतो की चुनौती। जिहाद बोलने के लिए जो वैज्ञानिक बुद्धि और सामाजिक राजनैतिक आत्मगतचेतना की आवश्यकता होती है वह प्रारम्भिक रूप मे ही हममे विराजमान है। इस प्रारभिक अवस्था को शीघ्र ही पार करने का सतत उद्योग होना चाहिए।–38

ध्यातव्य है कि यहॉ मुक्तिबोध की यत्नीशीलता अपने युग– प्रकार के अनुरूप रही है जबकि उसके समकालीन, सहधर्मा कहलाने वाले व्यक्ति अपना घर बसाने मे लगे हुए थे। जिन्दगी में नये तकाजो को मुक्तिबोध सास्कृतिक रूप देना चाहते है। इसलिए जहॉ जैसा अवसर मिलता है, वे उसके लिए प्रयत्नशील हो जाते है। यहॉ तक कि त्यौहारो की सास्कृतिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ मे भी वे इस तथ्य पर जोर देते है कि– "आवश्यकता इस बात की है कि हम नयी सामाजिक आवश्यकताओ के अनुसार जनता के हित की दृष्टि से अपने सास्कृतिक कार्यक्रमो मे परिवर्तन करे।–39 सार्वजनिक समस्याओं के प्रति मुक्तिबोध की सपृक्ति का ही यह परिणाम है कि उनकी सारी प्रतिक्रियाए जन–साधारण के योग–क्षेम की भावना से अनुशासित है।

इस स्थल पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कया कारण है जो मुक्तिबोध हर मामले मे प्रचारवादी ढंग से सोचते है? हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि मुक्तिबोध की ये प्रतिक्रियाएं भिन्न–भिन्न समय पर भिन्न–भिन्न अवसरो की मॉग के अनुसार भिन्न–भिन्न प्रयोजनो से व्यक्त हुई हैं, ऐसा भी लग सकता है कि उनकी विचार प्रणाली इस कदर नियमित हो गयी है कि वे मार्क्सवादी सत्य की एकमात्र कसौटी मानते है। किन्तु यह भी सच नही है कि वे अपनी विचार प्रणाली के प्रति ईमानदारी का निर्वाह करते है? और यह भी कम महत्वपूर्ण नही है कि उनकी प्रतिक्रियाएं भारतीय परिस्थितियों के वास्तविक सन्दर्भो से जुड़ी हुई है।

यही कारण है कि कम्युनिस्ट के मुक्तिकारी आन्दोलन को चीन और रूस की भारत के प्रति तत्कालीन' सहानुभूति को वे भारतीय परिस्थितियो के सन्दर्भ से जोडते है, यह आकस्मिक नही है चीन और रूस भारत को अपना मित्र समझते है। स्टालिन ने यह कहा था कि ब्रिटिश साम्राज्य की कडी भारत मे टूटेगी। लेकिन भारत की राज्य–क्रान्ति की धारा को ध्यान पूर्वक देखता रहा– समस्त औपनिवेशिक देशो मे भारत ही उन्नत पूँजीवादी तथा राष्ट्रवाद है। यह देश साम्राज्यवादी तथा उनकी अधीनता मे काम करने वाले सामन्तवादी तत्वो के अन्तर्राष्ट्रीय कुचक्र से लड सकता है। इतिहास उसे इन कुचक्रो से लडाएगा। चीन और रूस भारत को अपने मित्र के रूप मे न केवल नेहरू मे के कारण देखते है वरन भारत की इस सामाजिक–ऐतिहासिक विकास–भूमि के कारण भी देखते है।–40

मार्क्सवाद के प्रति गहरी आस्था के कारण मुक्तिबोध रूसी और चीनी साहित्य से भी सपर्क बनाए रखते है उनके पुराने लेखकों से अपने यहॉ के लोको की तुलना करके वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि व्यवस्था की समानता एक ही प्रकार का आक्रोश पैदा करती है। लू–हसन की कहानियो का विश्लेषण करते एक अन्त में वे लिखते है– 'मनुष्य–द्वेषी' –अधेरे – भरी जन्दगी में एक बुद्धिवादी की चिघाड। क्या यह स्थिति आज हमारे भारतीय बुद्धिवादी नौजवान की वास्तविकता नही है, जिसके जीवन के सारे मार्ग बन्द हो गए हैं? मुझे यह कही नही मालूम हुआ कि लू–हसन मे प्रचारवाद है। उससे और गोर्की से कही अधिक प्रचार 'प्रेमचन्द्र में है।–41

चीनी लेखक लू–हसन की पागल–आजादी की डायरी जो सन् 1918 में लिखी गयी थी हिन्दुस्तान के एक ेाने मे बैठे हुए–मुक्तिबोध के मन मे एक खलवली मचा देती है, जी हॉ, 'शायलाक ने वसानियो से सिर्फ एक पौण्ड गरम–गरम जीवित देह का मास मांगा था लेकिन आज के हिन्दुस्तानी शायलाक तो पूरी की पूरी देह मॉग रहे हैं।"– 42 मुक्तिबोध की ऐसी धारणा मे अतिरजना उन्हीं लोगों को प्रतीत होगी जिनके गले में मानवीय

आकाक्षाओ के प्रश्न नही अटकते है क्योकि उनका पेट ऊपर तक भरा रहता है। ऐसे लोगो का 'परसीकयूशन' होने की स्थिति और उससे उत्पन्न मानसिक विक्षेप का प्रश्न ही नही उठता।

मुक्तिबोध के विचार से बहुधा ऐसा लगता है कि वे लोहे को लोहे से काटने का पक्ष लेते है। यदि प्रचार का ही प्रश्न ले तो वे भारत सरकार को ही इस मामले मे दोषी ठहराते है– समाज के पुनर्निर्माण की प्राप्ति के लिए सरकारी प्रयत्नो से सहयोग कीजिए– शब्द अपने आप मे अर्थवान होते हुए भी कितने निरर्थक है।

शब्द जितने पीटे जाते है उतने ही बजते है, बोलते नही। शब्दाडम्बर से जनता का दिल नही बदला जा सकता।–43

यहॉ। मुक्तिबोध का लक्ष्य यह रहा है कि शब्दाडम्बर का भोपू बजाने वालो का गला दबाया जाये, सिद्धान्त को व्यवहार की कसौटी पर रखा जाये। जनता की मुक्ति के ठोस उपाय निकाले जाये। निसन्देह मुक्तिबोध मे अमेरिका–ब्रिटेन की अपेक्षा समाजवादी देशों के साथ भारत के राजनैतिक सम्पर्क को लेकर एक हिमायती आग्रह रहा है और इसी मे उन्हे भारतीय जन–विकास की संभावना नजर आती है बुलगानिन–खुश्चेव आगमन पर जब कुछ रूप–विरोधी लोगो ने इन नेताओ के स्वागत के सन्दर्भ मे सरकारी प्रयत्न को 'स्कूली बच्चो का राजनैतिक शोषण' करार देकर निन्दा की, तब मुक्तिबोध ने उन लोगो का विरोध अपने ही ढंग से किया, लोगों का ध्यान रूसी नेताओ के सवागत मे बच्चों के राजनैतिक शोषण पर तो चला गया किन्तु वे होटलों में काम करने वाले उन बालको की अवस्था से उदासीन रहते है जिनका रात–दिन आर्थिक–शोषण होता रहता है। ये लोग उन अमेरिकी और भारतीय फिल्मों की निन्दा नहीं करते थें जो भारतीय जनता की अभिरूचि को नष्ट करती हैं इसके विपरीत संस्कृति के नाम पर भारतीय जनता को अन्तर्मुखी बनाने का कुचक्र चलाते है। लेकिन जो जनता जिन्दगी की भाग–दौड और शोरोगुल में पड़ी होकर भी कुछ सोचनें के लिए विवश

हो जाती है वह यह जरूर मानती है कि उसे अन्तर्मुख होने के लिए समय और फुरसत चाहिए। लेकिन ऐसा अवसर उसे कौन देता है। यदि फुरसत मिली तो भोजन नही मिलता।–44

मुक्तिबोध की प्रतिक्रियाओ की यह विशेषता रही है कि उसमे सामान्य समाचार पत्रीय बातो को पकडकर सामाजिक और आर्थिक भूमिकाओ का निरूपण करने का प्रयत्न ही प्रधान रूप ले लेता है। मुक्तिबोध भारत मे समाजवादी व्यवस्था के लिए ब्रिटिश और अमेरकी पूँजी की बाढ को जिनकी उन दिनों अबाध गति रही थी खतरनाक समझते है। असल मे भारत मे पूँजी तीनो ढगो से लगाई जा रही थी। अगर भारत मे रूसी इस्पात कारखाना सरकारी औद्योगिक क्षेत्र मे खुल रहा है बिडला, ब्रिटिश सहायता से नया इस्पात कारखाना खोल रहा है। हाल की खबर है कि भारत सरकार ने अमेरिकी पूँजी 'प्राइवेट–ट्रीटमेंट–गारंटी स्फार्म 'मंजूर कर ली है यानी यह आगामी पचीस वर्ष तक अमेरिकी पूँजी की राष्ट्रीयकरण न करने की गारटी लेगी। ये गारंटी देने पर, अरबो रूपये की अमेरिकी पूँजी निजी तौर पर भारत मे लगेगी। केन्द्रीय सरकार के सलाहकारों पर ब्रिटिश और अमेरिकी पूँजी का बहुत प्रभाव है।– 45 अमेरिकी और ब्रिटिश पूँजी की बाढ को देखकर मुक्तिबोध की लगता है कि भारत मे आगामी पचीस–तीस वर्षो के लिए समाजवादी ढग टल गया है इधर वे देखते हैं कि धनी–निर्धन के बीच से खाइ गहरी होती जा रही है, उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के बीच की दीवार बढती जा रही है, भूदानयज्ञ के बावजूद जमीन का संघर्ष जारी है, सहकारी बैको और प्राथमिक शाखा समितियो पर भी धनी किसानो का वर्चस्व हो गया है, उच्चवर्ग का ही ऊचे पदो पर प्रभुत्व बना हुआ है, बहुमत से पार्लामेंट मे चुनकर चाहे जो आयें, राजसत्ता के संचालन और आर्थिक संतुलन का कार्य इसी उच्च वर्ग के हाथों में हैं ऐसी स्थिति में समाजवादी समाज–रचना के लिए चाहते है कि देश कि देश के अर्थ तंत्र पर अप्रत्यक्ष रीति का यह अधिकार न रहे बल्कि जनता द्वारा चुनी हुई सरकार का सीधा कब्जा हो,

जिससे देश का बहुमत अर्थ तत्र पर भी अधिकार बनाए रखे और बहुमत के नाम पर उसे सिर्फ मत–दान तक ही सीमित न माना जाये।–46 मुक्तिबोध साहित्यकार थे, किन्तु जैसा कि पहले भी जिक्र आया है, वे इस बात से इनकार करते है कि साहित्य का सबध किन्ही वाछनीय स्थितियो के चित्रण से है बल्कि वे इस चतुर्दिक भारतीय समाज की समस्याओ का भी साहित्य से गहरा ताल्लुक मानते है, कम से कम इनकी जानकारी तो वे हर साहित्यकार के लिए, जिसे अपने देश की धरती से ही नही, जिदा सवेदनाओ से पा लेना है, महसूस करना और अपनी अभिव्यक्ति का विषय बनाना जरूरी समझते है।

मुक्तिबोध लिखते है– मुझसे कहा जायेगा कि यह तो राजनीति हुई साहित्य नही रहा किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जनता की राजनीति और जनोन्मुख साहित्य का स्रोत एक है। हम छोटी जगहो के साहित्यिक भले ही 'सडक छाप' समझे जाये' जनता के लिए साहित्य' का आन्दोलन उठाएगे और म्युनिसपल कंदील के नीचे, बरगद तले, और जहॉजहॉ जगह मिल सकेगी आपस में मिलकर यह तय करेंगे कि हमे जनता का जीवन चित्रण करना है। 47. .... अन्यथा भाव से दूसरो की निन्दा करना हमारे जनतन्त्र के अन्तर्गत है। मै नही ककह रहा हूँ मै ही सही हूँ। दूसरो की दृष्टि के प्रति हृदय की नम्रता अत्यन्त आवश्यकता है। प्रोफेसरों के प्रति मैं नम्र हो सका, वे अपनी घृणा के प्रति भी सच्चे नही है।–48 यहां मुक्तिबोध की नम्रता सचमुच दर्शनीय है। इस प्रकार की तिरछी–सीधी मार देने से वे नही चूकते है इस निडरता के पीछे जनोन्मुख ध्येय के प्रति उनकी गहरी निष्ठा का जोर रहा है।

राष्ट्रीय–अंतर्राष्ट्रीय घटनाचक्रो से लेकर अपने आस–पास के परिवेश के प्रति मुक्तिबोध की प्रतिक्रियाऐं इस बात को भ्रमित करती हैं कि उनका अपने दृष्टिकोण की धुरी पर सोचना–विचारना निर्जन शून्य की उपज नहीं है। अपने जीवनानुभावो को अधिकाधिक विकसित रूप देने के लिए वे अपने

युग के प्रति सचेत होकर की गयी सीधी–सीधी प्रतिक्रियाओ को भी महतवपूर्ण मानते है दुनिया मे जो कुछ हो रहा है उसको लेकर प्रतिक्रिया तो मन करता ही है, उसकी प्रतिक्रिया सवेदनात्मक और ज्ञानात्मक होती है, इसीलिए 'ये प्रकट की जाये, 'ये नही' का प्रश्न अप्रसागिक हो जाता है सही–गलत का सोचना विचारना निर्जन–शून्य मे असभव है।. निराकार मानवता के हिमायती यदि मुझे किसी 'वाद' के घेरे मे फसा हुआ समझते है तो मेरा उनसे कहना है कि आप लोग सिद्धान्त को व्यवहार की कसौटी पर और व्यवहार को सिद्धान्त की कसौटी पर कसना नही चाहते है।–49 आनी प्रतिक्रियाओ को लेकर मुक्तिबोध के मन मे आत्मसजगता का भाव सर्वत्र विद्यमान रहा है कि इसलिए वे आत्म औचित्य की ओर भी प्रवृत्ति पाये जाते है। यहॉ भी कि उनकी प्रतिक्रियाए भले ही गैर साहित्यिक विषयो से सम्बन्धित हों, उनके साहित्यिक रूप का स्वाभाविक समावेश वहॉ हुए बिना नही रह पाता है, बल्कि अवसर मिलते ही वे एक साहित्यिक की हैसियत से बोलने लगते है। इसी सदर्भ मे सवेदना के काल्पनिक आदर्शीकरण और व्यक्ति की अपनी स्थिति का प्रश्न उपस्थित होता है। प्रभाव का जितना महत्व है उतना ही व्यक्तित्व की सतह का भी महत्व है ऊचे साहित्यकार भी जब असलियत को मनुष्य के यथार्थ को अपनी संकुचित सवेदनाओ झूठी पीडाओ और अहग्रस्त भावनाओं का आदर्शीकरण करते हुए दुनिया को देखता है, तब लेखक के प्रतिभाशाली होने के कारण उसका चित्रण कार्य प्रभावशाली होते हुए भी उस प्रभाव के गुण ऐसा न होगा जो मनुष्य को पिघलाकर उसकी आत्मा को उन्नत बनाये।–50 साहित्यकार के व्यक्तित्व की सतह का समबन्ध केवल प्रतिभा के बल पर अपनी सकुचित सीमाओ की अभिव्यक्ति से नहीं है, जब तक वह अपने चारो ओर के मानवीय विकास कार्यो के प्रति संवेदनशील नहीं है, तब तक जीवन के वास्तविक मर्म का उद्घाटन करने में भी वह असमर्थ ही बना रहेगा।

मुक्तिबोध देश के ह्रास को ही नही देखते रहे है, वे विकासात्मक कार्यों के प्रति भी उत्साहपूर्वक सोचते है। उन दिनों प्रधानमत्री ने यह कहा था कि टेकनॉलिजकल रिवॉल्यूशन के इस जमाने मे जब तक देश अपने विकास मार्ग मे आगे बढ रहा है तब इस विशाल निर्माण कार्य मे जिन–जीवन मूल्यो का उन्मेष होता रहा है उनका आविर्भाव साहित्य में भी होना चाहिए। मुक्तिबोध लिखते है– प्रधानमत्री के वक्तव्य की ध्वनि यह थी कि 'ऐसी स्थिति मे ही साहित्य देश के सास्कृतिक विकास मे योगदान दे सकता है। प्रधानमत्री के इस महत्वपूर्ण वक्तव्य की चर्चा हिनदी पत्र–पत्रिकाओ मे मुझे आज तक देखने को भी नही मिली। शायद चर्चा के योग्य यह विषय नहीं समझा गया। हिन्दी के साहित्यिक पार्लमिंट मे रेडियो विभाग मे, पुरस्कार–वितरण समितियो, मे, और प्रकाशन–विभाग मे डंटे हुए है बहस के अभाव का कारण यह भी हो सकता है कि साहित्यकारो का मत यह रहा है कि देश के विकास के स्वप्न से साहित्य का कोई भीतरी सम्बन्ध नही है।–51 जीवन मे आए जिन नए तत्वों से जनता का जीवन प्रभावित होता है उनके सौन्दर्या को यदि हृदयंगम नही किया जाता है तो सौम्यपद्धति में लिखना सिर्फ एक व्यवसाय का रूप ले लेता है। जीवन की नवीनता में सौदर्य को न देख पाना स्वार्थ मे सिमटे रहने का ही परिणाम है। मुक्तिबोध राष्ट्र के औद्योगिकरण को सांस्कृतिक आध्यात्मिक जीवन पर संकट मानने वालो और उसे आंतरिक व्यक्तित्व का विनाश समझने वालों के पक्ष मे नहीं है। राष्ट्रीय विकासशील आयोजन, उन्नति, निर्माण प्रगति, यात्रिक विकास सहकारिता, वैज्ञानिक अनुसधान से लेकर सह–अस्तित्व और पचशील तक उन्हें आकर्षित और प्रभावित करते हैं, किन्तु उन्हें सिर्फ इस बात का अफसोस जरूर रहता है कि 'दीना–झपटी' की प्रवृत्ति के कारण इनका सारा स्वाद ऊपर ही ऊपर लपक लिया जाता है, जन–साधारण का जीवन उससे वंचित रह जाता है।–52 इस प्रकार अपने युग की राष्ट्रीय प्रगतिशील विकासधारा के साथ मुक्तिबोध का रूख सदैव जनोन्मुख रहा है।

मुक्तिबोध की अधिकाश सामयिक प्रतिक्रियाए उनके मार्क्सवादी दृष्टिकोण से उद्‌गत हुई और अपने इसी दृष्टिकोण के कारण समाजवादी देशो और कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति उनमे सहानुभूति का भाव रहा है किन्तु इसका तात्पर्य यह कदाचित नही है कि समाजवादी देशो या कम्युनिस्ट पार्टी का सभी नीतियो का वे अधाधुध समर्थन करते है अपने देश के सामान्य जनो को मानवोचित जीवन का अवसर सुलभ हो, यही मूलता अपना लक्ष्य रहा है और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे उन देशो और उन सस्थाओ के साथ जुडने में ही कल्याण मानते हैं जो वर्गहीन समाज के निर्माण का आधार लेकर चल रहे है। नेहरू के प्रति मुक्तिबोध की आस्था का मूल कारण भी उनके द्वारा समाजवाद का समर्थन करने–कराने की प्रवृत्ति से रहा है, अन्यथा न वे भ्रष्टाचारी गुट–दबावो से घिरे नेहरू का कभी पक्ष लेते है।, न कम्युनिस्ट देशो की तानाशाही का समर्थन करते है। वे यह अच्छी तरह समझते है कि 'स्तालिन ने भले ही किसी खास वजह से कठोर शासकीय यत्र की परम्परा पैदा कर दी हो, लेकिन मार्क्सवादी सिद्धान्तो के अनुसार कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर तानाशाही नही चल सकती।–53 मुक्तिबोध ने यह बात भी कही है कि प्रत्येक बडा देश आज अपनी पुरानी नीतियो को या तो बदलने के लिए मजबूर हो गया है या बदलता जा रहा है। आज नही तो कल रूस का कदम जब जहॉ तक जनतात्रिक किया गया है तो उसे ओर भी किया जाए। दुनिया के बदलते तेवर को रूसी शासक अपने नौजवानो से छिपाना चाहते है, जब कि वे असल में छिप नहीं सकतें। आज उसे सिद्धान्त से अधिक व्यावहारिक लक्ष्यो की पूर्ति करना जरूरी हो गया है, इसलिए वह वैचारिक क्षेत्र मे पैदा हुई हलचलो से काफी लापरवाह होकर काम कर रहा है। लेकिन, वह अधिक दिनों तक ऐसा नहीं कर सकता.. 54 रेजिमेटेशन को मुक्तिबोध कदाचित ही स्वीकारते हैं, उनका आग्रह व्यक्ति स्वातंत्रय का समुचित अवसर प्रदान करने वाले जनतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था की ओर रहा है। कोई भी व्यक्ति, विशेषकर लेखक अपनी कल्पना की सृष्टि नही

होता। वह अपने यथार्थ की सृष्टि है और उस यथार्थ को आद्यान्त करने के लिए उसका अपनी धरती पर स्थित होना बहुत–बहुत जरूरी है, अन्यथा उसकी हर बात अजनबी बन कर रह जाएगी। मुक्तिबोध मार्क्सवाद को भारतीय संदर्भ में परखते है, इसलिए उनकी प्रतिक्रियाये उधार लिये नारो की तरह रग–रगाई थोपी गई नही हैं। अपनी बुनियाद पर खडे होकर वे चारो ओर देखते है। मार्क्सवाद का आधार लेकर चलने वाले कम्युनिस्टो और प्रगतिवादी साहित्यिको के कारनामो से परिचित होकर उन्हे लगता है कि उस वैज्ञानिक जीवन–दृष्टि का वास्तविक प्रयोग करने–कराने की बजाए हमारे यहॉ उसके व्यावसायीकरण ही अधिक होता रहा है। छीना–झपटी की प्रवृत्ति के नित्य–निरन्तर पनपते रहने के कारण देश मे एक भी ऐसा आन्दोलन या सगठित शक्ति का उभार पैदा नही हुआ, जो सामूहिक रूप से सामान्य जनो तक आजादी का वास्तविक अर्थ प्रेषित कर सकता। नयी पीढी सिंहासनो पर बूढे गिद्धो का मनोरजन स्वाग ही देखती रही। पद, ख्याति और ऊपर उठने की लालसा का कुत्सित परिणाम यह होता है कि राजधानी में 'बडे–बडो की प्रतिभा की मृत्यु हो गयी, राजनीतिज्ञो के साथ साहित्यकार भी डूब गए।' मुक्तिबोध जरूरत से जयादा कठोर शब्दो का प्रयोग करते हुए लिखते है कि– आज दिल्ली मे बूढे पके–बाल साहित्यकारो का जमघट इकट्ठा हो गया है। उनका स्वर्गवास नही, दिल्लीवास हुआ। अब वे प्रतिष्ठा और सम्मान के स्वर्ग मे है और उस स्वर्ग मे वे अधिक से अधिक आदर–श्रद्धा और पद के लिए राजनीति करते हैं; सूत्र हिलाते है, किन्तु सूत्रधार होने के बदले वस्तुत. विदूषक हो जाते है 55 जो अपने आपको बचेकर जीते जी स्वर्ग का भोग लेने के चक्कर मे पडे है, लक्ष्मी के उन दासो की चापलूसी करके उन्हीं की ओर ताकती हुई जनता की दृष्टि मुक्तिबोध को परेशानी मे डाल देती है, हमारे हिन्दुस्तान की जनता आज स्वर्गलोक के सपने देखती है; किन्तु फिलहार वह केवल अपने दुख–दर्द की कराह के अलावा निर्णायक रूप से कुछ कर नही पा रही है निश्चय ही,

यदि उसे भारत को स्वाभाविक मानव जीवन का स्वर्ग बनाना है, तो षोषण ओर अतयाचार के पहाडो को चीरकर, नीचे के रेगिस्तान को अपार शक्ति से नयी प्राण–धारा बहानी होगी। तभी हमारे जीवन मे मानवोचित स्वाभाविकता और समृद्धि आ सकती है। 56

सच तो यह है कि अनुशासनहीनता की वारदात होती रही, लेकिन उनसे अधेरा और बढता गया, रोशनी की किरण अधेरे मे छिप गयी। सत्तधारी दल मे आतरिक फूट के लक्षण साफ–साफ प्रकट हुए, भ्रष्टाचार का निराकरण बार–बार असफल रहा, बल्कि उसका प्रभाव बढता ही गया, प्रगतिशील उद्देश्य अपनी जड नही जमा सके। मुक्तिबोध पूछते है क्या काग्रेस इस भ्रष्टाचारी दबावगुट से अलग रह सकती है? यही सवाल है जिसैं काग्रेस–नेतृत्व टालता आ रहा है। काग्रेस की प्रतिष्ठा की हानि की जो घटनाऐं होती जा रही है वे तब तक नही रूक सकती जब तक काग्रेस नैतिक रूप से शुद्ध नही होती और जनता की भावनाओ का सही प्रतिनिधित्व नही करती। 57 जनता की भावनाओ के प्रतिनिधित्व का सीधा मतलब है– उनकी समस्याएं उनकी रोजीरोटी का सवला और मनोवांक्षित जीवन की सुविधाओ का समुचित अवसर, जिसे आजादी के इतने दिनो बाद तक भी नहीं सुलझाया जा सका है।

सांस्कृतिक परिवेशः

प्राचीन भारतीय–सस्कृति की सबसे बडी विशेषता एकदिक् कालातीतसत्ता मे विश्वास है मानव जीवन का चरम लक्ष्य इस सत्ता को प्राप्त करना था प्राचीन ग्रन्थों में इसका एक मान्यरूप नही है इसका स्थान मानव अन्त करण मे माना गया है। मनुष्य को इसके साक्षात्कार करने के लिए बाह्य और आन्तरिक आचरण की शुद्धता को अनिवार्य बताया गया था। आचरण शुद्धि के लिए यज्ञ, मन्त्र और साधना को माध्यम बनाया जाता था। यह आध्यात्मिक सत्ता मनुष्य के समस्त जीवन को अनुशासित करती थी। भारत में विभिन्न संस्कृतियों का सह–अस्तित्व बना रहा इसके पीछे क। कारण

आध्यात्मिक सत्ता के विश्वास के साथ धर्म साधना का वैयक्तिक होना भी था। इसीलिए किसी विशेष देवता की पूजा करना श्रेष्ठ न मानकर आचरण शुद्धि और चरित्र पर विशेष ध्यान दिया जाता था। कुलीनता ऊँच–नीच'. को पूर्वजन्म का फल बताकर सघर्ष और हीनता को शामिल किया गया तथा चरित्र्य को इस जन्म के कर्मो का प्रकाशन बताकर उस अनन्त सत्ता को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अग्रसर किया जाता था। .1

उत्तर वैदिक काल मे साधनाओ कर्मकाण्डो और पुरोहितो का प्राधान्य हो गया था जिसके परिणामस्वरूप ईसा पूर्व छठवी शताब्दी मे बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ इन धर्मों ने वाह्याचारो का विरोध किया लेकिन ये धर्म की आचार शुद्धि और मोक्ष में विश्वास रखते थे। रामायण और महाभारत मे बाल्मीकि और व्यास ने मानव के उदात्व रूप मे राम ओर कृष्ण की अवधारणा की है। 'व्यास ने कृष्ण को विशाल धर्म वृक्ष के रूप मे देखा है फिर भी इन पात्रो मे उदात्ता के साथ मानवीय दुर्बलताए भी है। 2 तपोवन की कल्पना चित्त के प्रदीप्त सस्कार का प्रतीक है। जिस सस्कार मे तप भी है, शान्ति भी है, अटूट विश्वास भरी आत्मीयता भी है और जगत से निरपेक्षता भी है। ...3

भारतीय पौराणिक कल्पना में भारत के अधिष्ठाता देवता के रूप में नर–नरायण की प्रतिष्ठा की गयी है और यह कल्पना की गयी है कि लोग कल्याण के लिए वे बदरिकाश्रम मे निरन्तर तप करते रहते है।..... .

4 कालिदास के साहित्य में देवताओ की कथा द्वारा रूप और सौन्दर्य का अनुपम चित्रण मिलता है। भारवि, माघ, बाण आदि का यही काल है। इस काल मे कला, ईश्वर के प्रति समर्पित रही है। विभिन्न रूपो में ईश्वर को स्थापत्य कला के द्वारा मूर्त करने में कलाकार अपने को समर्पित कर देते थे और अपना उदात्तीकरण करके आत्मिक दृष्टि से उच्चतर जीव बन जाते थे–5

ग्यारहवी सदी के आरम्भ पर तुर्क और अफगानो की विजय होने के कारण भारत मे इस्लाम धर्म का राजनीतिक शक्ति के रूप मे आगमन हुआ।–6 इधर हिन्दू धर्म अपने कर्मकाण्डो, वाह्याचारो और रूढियो मे जकडा हुआ था, समाज पर उसका पुराना अनुशासन नही रहा था। मुसलमान एक विशेष मत (धर्म) लेकर भारत आये थे जिसकी आडम्बर और कर्मकाण्डो से जकडे हिन्दू धर्म से कोई समता नही थी। सात शताब्दियो तक इन दोनो सास्कृतियो मे श्रेष्ठता के लिए सघर्ष चलता रहा। – 7 इस सघर्ष को रोकने और दोनो मे सामजस्य लाने के लिए प्रारम्भ मे भक्ति आन्दोलन के सन्तो रामानन्द "13वी", वल्लभाचार्य, "15वी" और चैतन्य महाप्रभू "16वी" .. ने प्रयत्न किये। इसके साथ मुगलकाल मे अकबर द्वारा स्थापित उदार प्रशासन के अनुकूल वातावरण मे हिन्दुओ और मुसलमानो ने एक दूसरे के निकट आकर परस्पर अच्छे गुणो को समझने की चेष्टा की थी।–8

मध्य युगीन साहित्य अपने परिवेश के सघर्ष को शामिल करने के लिए पूर्वकालीन शास्त्रीय मान्यताओ से अलग हटकर आध्यात्मिक सत्ता मे आस्था प्रकट करता है। सूरदास, मीराबाई, चैतन्य, ज्ञानेश्वर, भीमदेव, नरसीमेहता और तुकाराम ने आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास रखते हुए भी लोक हृदय को प्रभावित करने वाले साहित्य का सृजन किया। इन्होने अपनी भक्ति पर जोर दिया धर्म पर नही। कबीर, दादू, ज्ञानेश्वर तुकाराम जनसाधारण के .बडे हिमायती थे। तुलसीदास उपर्युक्त सन्तो की अपेक्षा रूढिवादी कहे जा सकते है। उनका साहित्य हिन्दू धर्म की रक्षा मे समर्पित है। रामचरित मानस के द्वारा उन्होने राम को मर्यादा पुरूषोत्तम बना दिया। वस्तुत साहित अपनी सम्पूर्ण इयत्ता में समाज एव संस्कृति का परिचायक होता है किसी भी अप्रतिहत गति से प्रवाहित काव्य धारा मे परिवर्तन का कारण तद्युगीन परिस्थितिया एवं मूल्य होते है। रचनाकार युगीन भावधारा में परिस्थितियों एव मानवमूल्यों से असंपृक्त रहकर सृजन कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। बदलती

हुई दृष्टि एव टूटती सिमटती सीमाओ के बीच हमारे मूल्य–मान बदल रहे है जो कि स्वाभावित ही है, क्योकि हर सस्कृति अधिक उपयोगी विकल्प के उपस्थित होने पर प्रचलित व्यवहार विधियो का त्याग कर देती है ये विकल्प उसके आन्तरिक परिवर्तन द्वारा भी उत्पन्न होते है। और वाह्य सपर्क या प्रसार द्वारा भी सामने आते है। इससे पूर्व कि हम परिवर्तित होते सांस्कृतिक बोध को रेखाकित करने की ओर बढे हमे सस्कृति एव तत्जन्य सास्कृतिक अवधारणाओ को जान लेना नितान्त आवश्यक है।

आचार्य प्रवर हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने सस्कृति को मानव की विविध साधनाओ की सर्वोत्तम परिणति कहा है।–9 डा0 देवराज के अनुसार सस्कृति का अर्थ है सृजनात्मक अनुचिन्तन, सस्कृति मानव जीवन के सर्वग्राह्य आत्मिक जीवन रूपो की सृष्टि और उपयोग है।–10 ये परिभाषाये संस्कृति के सम्बन्ध मे अपनी बात रखते हुए भी पूरी तरह से स्पष्ट अवधारणा नही दे पाती। पाश्चात्य विद्वानो ने अपनी परिभाषाओ के विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सस्कृति वह जटिल इकाई है जिसके अन्तर्गत ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, विधि, रीति एव अन्य क्षमताए और अभ्यास सम्मिलित है जिन्हे मनुष्य परम्परा से समाज के सदय के रूप मे अर्जित करता है। तात्पर्य यह है कि सस्कृतिक सामाजिक व्यवहार परम्परा से अर्जित चिन्तन, अनुभव और व्यवहार सक्षेप मे मानसिक और क्रियात्मक व्यवहार की समविष्ट है। मैलिनोवस्की सस्कृति के अन्तर्गत वशानुगत शिल्पतथ्यों, वस्तुओ तकनीकि प्रतिक्रियाओ, धारणाओ, अभ्यासो एवं मूल्यों को समविष्ट करते है अर्थात् सस्कृति की सीमाओं मे मानव के सकारात्मक विकास में सहयोगी समस्त तत्व समाविष्ट हो जाते है। परन्तु विडम्बनाओ की स्थिति यह है कि प्रायः सस्कृति को मानसिक पक्ष या मूल्यो तक ही सीमित रखा जाता है। विचारणीय है कि ये भाव या मूल्य कहॉ आरोपित होते है समाज पर ही तो? अतएव समाज एवं उसकी स्थिति–परिस्थिति से अलगाकर संस्कृति को निरूपित नही किया जा सकता। व्यक्त

सस्कृति–रीतियो, प्रथाओ, आचारो, कलाओ और विभिन्न प्रकार के शिल्प तथ्यो की समष्टि है। इस प्रकार सास्कृतिक मूल्य बोध के सदर्भ मे हम इन्ही बिन्दुओ पर केन्द्रित होगे।

संस्कृति के सम्मुख जब भी अधिक उपयोगी विकल्प आये है वह उन्हे अपनी परिस्थितियो के अनुसार आत्मसात् करती गयी है वह क्षेत्र चाहे धर्म का हो या दर्शन का, कला का हो या विज्ञान का, आचार–व्यवहार का हो या विचार का, सर्वत्र यह प्रवृत्ति किन क्षेत्रो से या कहॉ से आते है यह विचारणीय नही होता। भारत के सन्दर्भ मे यह तथ्य बडे स्पष्ट रूप मे सामने आता है कि सास्कृतिक मूल्यो का निर्माण यहॉ किसी एक की बपौती नही रहा। सम्राटो की राजधानियो मे यदि कला विकास का उत्कर्ष हुआ तो परिव्राजको की आरण्यक कुटियो मे ब्रहम के साथ तादात्म्य की योजनाओ की स्वीकरणीयता अनुमोदित हुयी, धार्मित विवधिताओ का एक रूप गॉव के कुटीरो मे विकसित हुआ तो दूसरा वृह्दीश्वर के महामन्दिर मे और तीसरा पुष्कर तीर्थ में। इस सास्कृतिक साधना मे ब्रहमचारियो से लेकर सन्यासियो तथा चारों आश्रमो के लोगों का और चाण्डाल से लेकर ब्राहमणायन का योगदान रहा है।.....11

हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियों में सघर्ष के बावजूद आदान–प्रदान का कार्यक्रम चलता रहा था। जिसके ुलस्वरूप कला, भवन–निर्माण, संगीत और चित्रकला के क्षेत्र में काफी एकरूपता परिलक्षित होती है। .12 स्थापत्य कला, चित्रकला, संगीत मुगल शासन में अधिक विकसित थे।

आधुनिक काल मे विज्ञान के उदय ने पुरानी मान्यताओ के समक्ष गहरे प्रश्नचिन्ह लगा दिये थे और मनुष्य जिन धर्म–ग्रन्थों मे प्रणीत नियमो या आचार–विधानों के अन्तरात्मा को आधारभूमि मानता था वे धीरे–धीरे निरर्थक सिद्ध हो चुके थे। मानवताकाल के उदयकाल में ईश्वर जैसी किसी मनवोपरि सत्ता या उसके प्रतिनिधि धर्माचार्यों को नैतिक मूल्यों का

अधिनायक न मानकर मनुष्य को ही इन मूल्यो का विधायक मानने की प्रवृत्ति विकसित होने लगी थी।'. 13

डार्विन के विकासवाद ने मनुष्य को वनमानुष से क्रमश विकसित बताकर आध्यात्मिक सत्ता पर पहला प्रहार किया। मार्क्स ने द्वन्दात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद द्वारा मानव समाज के विकास का विश्लेषण किया तथा फ्रायड ने मनुष्य के कार्यो को दमित वासना से सचालित बताया। इन तीनो चिन्तनो की अवधारणा और खोजो ने वैचारिक जगत मे क्रान्ति ला दी जिसका प्रभाव साहित्य चिन्तन पर भी पडा। भाववादी विचार धारा के साथ यथार्थवादी विचारधारा का इस युग मे अभूतपूर्व विकास हुआ। कलावादी चिन्तन को एडलर, आस्कर, बाइल्ड और ब्रेडले जेसे प्रतिभाशाली पुरस्कर्ता मिले तो यथार्थवादी साहित्य चिन्तन को मैथ्यू अर्नाल्ड, जानरस्किन, टोलस्टॉय, बेलिस्की, चार्निशवस्की, जैसे प्रतिभा सम्पन्न विचारको ने विकसत किया। इसी काल मे मनोविज्ञान का उद्‌भव हुआ। मनोविज्ञान के प्रर्वतको मे फ्रायड का स्थान सर्वोपरि है। फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त से का और साहित्य के सम्बन्ध मे भी एक सर्वथा भिन्न और नये दृष्टिकोण का विकास हुआ।..... 14

विश्व की गतिविधियो से भारतीय चेतना भी प्रभावित हुई है। राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक हलचलों और आन्दोलनों से भारतीय बुद्धिजीवी तटस्थ नही रह सके। हिन्दी साहित्य पर भी इस वातावरण का प्रभाव–स्पष्ट देखा जा सकता है। बीसवी शदी के प्रारंभ मे हिन्दी साहित्य सामन्तीय बन्धनो से मुक्त होता प्रतीत होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनके सहयोगियो ने खडी बोली को साहित्य की मुख्य भाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया तथा साहित्य के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना की जागृत और सांस्कृतिक पुनरूत्थान के कार्य को किया।

कविता के क्षेत्र में द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर सूक्ष्म मनोभावो का आर्विभाव हुआ। छायावादी कविता में रहस्यवाद, अध्यात्म,

क्षयशील रोमास और पलायन की प्रवृत्ति के साथ–साथ स्वस्थ सामाजिक तत्व भी थे। प्रगतिवादी कविता ने रूमानी तत्वो के स्थान पर निराला, पन्त और प्रसाद के यथार्थवादी रूझानो को अपनाया और अमूर्तभावुकता का परित्याग कर वास्तविक जीवन जगत को अपना विषय बनाया। तदन्तर प्रयोगवादी कविताओ को प्रतिपादित करने के लिए काव्यकारो ने यथार्थवादी प्रवृत्तियो का विरोध किया . 15

नयी कविता की प्रतिष्ठा के लिए आधुनिकभावबोध, व्यक्ति–स्वातन्त्र, क्षणवाद, रचना–प्रक्रिया, अनुभूति की प्रामाणिकता आदि विशेष शब्दावली का बहुतायत में प्रयोग किया गया। प्रयोगवादी कविता और नयी कवितावादियो ने अनुभववाद और बुद्धिवाद के मेल–जोल पर जोर दिया। रचना–प्रक्रिया के सतर पर भावुकता से पिण्ड नही छुटा किन्तु बौद्धिक हुए बिना काम नही चल सकता था। .16

मुक्तिबोध सस्कृति को जड स्थिति नही निरन्तर प्रक्रिया मानते है। वह प्रक्रिया जो विगलित मूल्यों को दोडकर नवीन मूल्यो से अपने को समृद्ध करती चलें इसलिए जब वे सांस्कृतिक परम्परा की बात करते है तो जड रीति–रिवाजो कर्मकाण्डो और मिथ्या अन्धविश्वासो को उससे अलग कर देते है। हमारी सांस्कृतिक परम्परा में से हमें वही भाव आकर्षित करते है जो हमारे वर्तमान जीवन के आदर्शों तथा मूल्यो को विकसित करने मे योग देते है तथा वर्तमान जीवन मूल्यों की स्थिति– रक्षा करते हो। .17 युगीन परिस्थितियो मे बदली हुई अभिरूचि के कारण पुराने मूल्यो भावनाओ का आज वह स्थान नहीं रहा है जो पहले था। मुक्तिबोध लिखते हैं–

'वर्तमान युग में ऐसे पुराने साहित्य के प्रति व्यापक आकर्षण नहीं रह गया है, जिससे संकुचित .. ' अथवा कह लीजिए साम्प्रदायिक. . धार्मिक भाव हो, चाहे वे कबीर के हो या किसी दूसरे के। इगला–पिंगला, सुषुम्ना, अनहदनाद आदि पारिभाषिक शब्दावली मान्यविशेष भावोत्तेजना नहीं करती। जनमानस की व्यापक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि बहुत सी

धार्मिक कल्पनाए भी आज मृतवत् है तथा अभिरूचि भी बदल गयी है. 18 मार्क्सवाद से अनुप्राणित मुक्तिबोध भारतीय सस्कृति की मूल विशेषता अलौकिक सत्ता का अस्तित्व नही मानते है और धर्म को वर्तमान परिस्थितयो मे अनुपयोगी कहते है उनके अनुसार धर्म एक समय जनता के उत्थान मे सहायक था परन्तु शोषको ने अपने हथियार की तरह उपयोग किया है।

'यदि हम धर्मो के इतिहास को देखे तो यह जरूर पायेगे कि जनता की दुर्व्यवस्था के विरूद्ध उसने घोषणा की, जनता को एकता और समानता के सूत्र मे बांधने की कोशिश की, किन्तु ज्यो–ज्यो उस धर्म में पुराने शासको की प्रवृत्ति के लोग घुसते गये और उनका प्रभाव जमता गया, उतना–उतना गरीब जनता का पक्ष न केवल कमजोर होता गया वरन् उसको अन्त मे उच्च वर्गो की दासता धार्मिक दासता भी फिर से ग्रहण करनी पडी . 19

मुक्तिबोध के अनुसार सास्कृतिक साहित्यिक क्षेत्र पर उच्चवर्ग का आधिपत्य होता है। अत जनता के मनोभाव, उसके कष्ट, उसका संघर्ष उसकी निर्माण क्षमता साहित्य और कला मे प्रकट नही हो पाती, सांस्कृतिक–साहित्य एकाधिकार रखने वला वर्ग शेष समाज से अपने को अलग कर अपने वर्ग को विशेष प्रवृत्तियों तथा उन प्रवृत्तियों की आवश्यकताओं को साहित्य मे व्यक्त करता है। अतएव शिश्ट साहित्य एक ओर बढता है, समाज के निम्नवर्गो की वास्तविकताओ के अनुसार शोषितो की कला दूसरा मार्ग ग्रहण करती है– यद्यपि यह निम्नवर्गीय कला अपने कुछ उपादान और मूल विचार उच्चवर्गीय श्रेणी से ग्रहण करती है। 20 यदि निम्नवर्ग अपने अधिकारों के लिए काई आन्दोलन प्रारम्भ करता है तो उच्च वर्ग के लोग उस आन्दोलन में साथ मिल उसे अपने अनुकूल कर लेते है। मुक्तिबोध ने भक्ति–आन्दोलन का उदाहरण दिया है:–

'उत्तर भारत में निर्गुणवादी भक्ति आन्दोलन में शोषित जनता का सबसे बडा हाथ है। कबीर, रैदास आदि सन्तो की बानियो का सन्देश,

तत्कालीन मानो के अनुसार बहुत अधिक क्रान्तिकारी था। कुरीतियो, धार्मिक अन्धविश्वासो तथा जातिवाद के विरूद्ध कबीर ने आवाज उठायी। निम्न जातियो मे आत्मविश्वास पैदा हुआ। उनमे आत्मगौरव का भाव हुआ। समाज की शासक–सत्ता को यह कब अच्छा लगता? निर्गुण मत के विरूद्ध सगुण मत का संघर्ष निम्नवर्गो के विरूद्ध उच्चवशीय ːस्कारशील अभिरूचि वालो का सघर्ष था सगुण मत विजयी हुआ। उसका प्रारम्भिक विकास कृष्ण भक्ति के रूप मे हुआ।. .21

मुक्तिबोध वर्तमान समय मे आये परिवर्तन बदले परिवेश मे सास्कृतिक विरासत की सार्थकता को निरन्तर परखते रहते है। उन्हे लगा कि अब 'हमे अतीत के रहस्यात्मक जादुई धुँधले सूत्र मन्त्रो को तयाग देना चाहिए 22 मुक्तिबोध विदेशी स्रोतों मे प्रेरणा लेने का विरोध नही करते। आज जब दुनिया छोटी होती जा रही है तो दूसरे के अनुभवो से शिक्षा ओर प्रेरणा लेना गलत नहीं है लेकिन यह ज्ञान और यह प्रेरणा निहित–स्वार्थों के वशीभूत होकर न की जाय उससे समाज–परिवर्तन सघर्ष और निर्माण–प्रक्रिया को बल मिलना चाहिए। मुक्तिबोध ने स्पष्ट कहा कि अपनी भूमि और अपने देश की मिट्टी में रंगकर ही विश्वात्मक हुआ जा सकता है नही तो नही।.....23 इसी कारण मुक्तिबोध ने कई कवितावादियों के क्षणवाद लघुमानववाद व्यक्ति–स्वातन्त्र्य का सशक्त विरोध किया। उन्होने कहा कि नई कविता के एक सगति पक्ष ने शीत–युद्ध के उद्देश्यो के अनुकूल पश्चिम के मानव की उन्नतिपरक शक्तियो मे आसीा न रखने वाले साहित्य को अपना आदर्श बनाया। ....

मुक्तिबोध सस्कृति को रूढ अर्थ में ग्रहण न कर उसे मूल्यो का ऐसा ढॉचा मानते है जो विविध क्षेत्रों से प्राप्त ज्ञान से अपने को समृद्ध कर विगलित और जड मान्यताओं को त्यागकर, वर्तमान जीवन मूलयो की रक्षा कर सकें और मानव–समाज के उत्तरोत्तर विकास में सहयोग दें सके।

इस तथ्य से विरत रहकर नित्य नाविन्य एव उत्कर्षापेक्षी साहित्य ने सस्कृति को एक वर्ग विशेष को क्रोड का खिलौना एव अरूप बनाने की रमसिद्ध समझी। आधुनिक साहित्यिक एव सास्कृतिक परिदृश्य का सिहावलोकन करने पर हम पाते है कि अर्जन–वर्जन की प्रक्रिया से गुजरता हुआ सास्कृतिक वृत्त आज उस मुकाम पर खडा है, जहॉ वह अधिक मानवीय एव जीवनोन्मुख है। जीवन अपने कटुताओ एव मधुरताओ के विभिन्न बहुरगी स्वरूप मे उसका वर्ण्य है। प्राचीन गौरव के सकारवादी पक्ष जो वैश्विक दृष्टि एव मानवता से जोडते है वे ही उसे ग्राह्य है। वैज्ञानिक दृष्टि के कुप्रभाव एव सुप्रभाव तथा जटिल होते जा रहे जीवन–सम्बन्ध सस्कृति को पूरी तरह प्रभावित कर रहे है। आध्यात्मिकता से पराडमुख होते हुए भौतिकता के प्रबल आग्रहवादी मूल्य ढेर सारे मानवीय मूल्यो को तोडते हुए एक छद्म सस्कृति को निर्मित कर रहे है। भारतीय सस्कृति के नाम पर दिये जा रहे साहित्यिक धोखे की ओर मुक्तिबोध ने बडी ईमानदारी से सकेत किया है कि – 'आज भारतीय सस्कृति का नारा उन लोगो का है जो जनता के क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को रूसी दृष्टिकोण कहकर लोगो का ध्यान वर्तमान जन–जीवन के यथार्थ तकाजो से हटाते हुए उन पुराने मायालोको मे अटकाना चाहते है जहॉ अध्यात्म और विलास परस्पर, चुम्बन, आलिगनादि मे व्यस्त है। यदि भारतीय सस्कृति का अर्थ जनता के अपने तकाजो और सवालों के आधार पर उसको सुसस्कृत करना होता तो वह नारा कभी गलत न होता। किन्तु बात इससे बिल्कुल उलटी है।. .24 मुक्तिबोध का रचनाकाल 1936 से 1964 तक रहा है। तद्युगीन सस्कृत में दर्शन के क्षेत्र मे अरविन्द दर्शन भारतीय दृष्टि से अधिक प्रभावी रहा है। जहॉ वे असीम सत्ता की स्वीकृति इस जमीन के साथ जोड़कर ही देते है। राजनैतिक जागरण की एक तीव्र ऑधी चली है जिसे मुक्तिबोध सास्कृतिक उत्थान का एक पक्ष स्वीकारते है।.......25 विश्वजनीन मानवीय दृष्टि भी वर्तमान सांस्कृतिबोध का एक बिन्दु है। बनते–बिगडते राजनैतिक चरित्र, अध्यात्म की

जगह भौतिकता का आग्रह, विज्ञान की बढती प्रगति एव तद्जन्य प्रभाव भी इसी सीमा मे आगत है। सस्कृति के कायिक रूप समाज की स्थिति को रेखाकित करते हुए मुक्तिबोध लिखते है कि समाज भयानक रूप से विषमताग्रस्त हो गया है। चारो ओर नैतिक ह्रास के चिन्ह दिखाई दे रहे है शोषण और उतपीडन पहले से बहुत अधिक बढ गये है। नोच–खसोट अवसरवाद भ्रष्टाचार का बाजार गर्म है। कल के मसीहा आज के उत्पीडक हो उठे है। अध्यात्मवादी विचारक जनता से दूर जा बैठे है। मानव–सम्बन्ध टूट–फूट गये है उलझ गये है। 26 ऐसी स्थिति सस्कृति के सर्वाधिकार मुखर रूप साहित्य एवं कला को भी जीवन से काटने की साजिश बराबर रही है। हर युग मे समानान्तर रूप से दो सस्कृतियॉ बनती रही है। वर्गो में विभक्त समाज सस्कृति के सस्कृतजन्य अभिधात्मक अर्थग्रहण से मात्र अभिजात संस्कृति को ही आरोपित करता है। इस उददाम वेग मे लोग सस्कृति के रूप मे प्रवहमान उसकी प्राणधारा प्राय· उपेक्षित होती गयी है पर स्वातन्त्रयोत्तर साहित्य प्राय· उस ओर देखता हुआ लोक जीवन के प्रश्नो से जुडता है। जब–जब परिष्कार की आवश्यकयता महसूस हुयी है, बराबर हमे मूल सूत्रो से ही प्राण शक्ति ग्रहण करनी पडी है। सक्रमित होती जा रही सस्कृति के विकासमान मूल्य अधी दौड मे विवेक कायम न रख पाने की भी भूल कर रहे है। तथापि इन खतरो और सेन्सर से टकराकर पहल करने वाला रचनाकार ही वरेण्य होता है।

मुक्तिबोध के काव्य में सांस्कृतिक मूल्यबोध की खोज से पूर्व महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे काव्य को सास्कृतिक प्रक्रिया मानते हुए अपना पक्ष स्पष्ट कर देते हैं कि काव्य रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है.... उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं समाज या वर्ग की देन है' 27 अतएव संस्कृति एवं तदृजन्य मूल्य मानव से जुडे सवाल आदि उनके काव्य में प्रभूत परिमाण में उपलब्ध होती है। उनके चिन्तन के केन्द्र में

समाज, उसके दुख–दर्द, उसकी स्थिति आदि ही रहे है। इस हिसाब से जो भी दर्शन उपयुक्त पडा उन्होंने उसे स्वीकारा है इस दृष्टि से उनके सबसे करीब मार्क्सवादी दर्शन रहा है। वे बराबर एक वर्ग रहित और शोषण रहित समाज की स्थापना के लिए लालायित थे। उनके अनुसार मानवी समाज–सस्कृति एव जीवन दृष्टि को जीवन मूल्यो से जोडना आवश्यक है। स्वार्थ, सकीर्णता और सुख–सुविधाओं के मलवे को हटाना पडेगा। इसी तथ्य के वृहत्तर आयाम का प्रस्तुतीकरण उनका काव्य करता है। वे स्पष्ट कहते है –

'समस्या एक/मेरे सभ्य नगरो और ग्रामो मे
सभी मानव/सुखी सुन्दर वा शोषण मुक्त/कब होगे?' 28

इस वर्गहीन समाज का निर्माण और जीवन मूल्यो की प्रतिष्ठा तभी सभव है जब शोषण और स्वार्थ के हथियारो का सफाया हो जाये, कारण–शोषण की अतिमात्रा/स्वार्थों की सुखयात्रा/जब–जब सम्पन्न हुई/आत्मा से अर्थ गया, मर गयी सभ्यता।'. 29 इसीलिए भीतर और बाहर दलिद्दर, शोषण, अत्याचार और जडता से मुक्ति पाने के प्रश्न पर पुनर्विचार करते हुए लिखते हैं– मेरे सामने है प्रश्न/क्या होगा, कहॉ, किस भॉति मेरे देश भारत मे/पुरानी हाय मे ले। किस तरह आग भडकेगी/उडेगी किस तरह भक से/हमारी वक्ष पर लेटी हुई/विकराल चट्टानों।" 30 इसलिए ये उनकी निन्दा करते है। सच्चे अर्थों मे वे जीवन मूल्यो के स्वसथ परम्परा के कवि थे। पूॅजीवादी संस्कृति और सभ्यता बराबर उनके आक्रोश का लक्ष्य रहे हैं 'मुझे याद आते हैं पूॅजीवादी समाज के प्रति आदि कविताओं मे तद्जन्य खोंखले और दोगले पन को चित्रित कर वे 'टेंडे मुॅह चादनी' की शापित चादनी को घृणा का पात्र बनाते है। शोषक के रूप को बर्बर, खूनी चेहरे, कंस का क्रूर चरित्र, पातुधान आदि स्वरूपों से अंकित करते है। पुनष्च मुक्तिबोध के अनुसार 'काव्यरचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नही, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है..... उसमें जो सांस्कृतिक रूप परिलक्षित

होते है, वे व्यक्ति की देन नही समाज की या वर्ग की देन है। यह ध्यान मे रखने की बात है कि नयी कविता वर्तमान ह्रास ग्रस्त अद्य पतनशील सभ्यता की असिलयत को जब तक पहचानती नही, सभ्यता के मूल भूत प्रश्नो से अपने को जब तक जोड नही लेती है, मानवता के भविष्य–निर्माण के सघर्ष से जब तक वह स्वयं को सयोजित नही कर पाती, जब तक उसमे उत्पीडित और शोषित मुखो के बिम्ब दिखाई नही देते, उनमें ह्रदयो का आलोक नही दिखाई देता, तब तक सचमुच हमारा काम अधूरा रहेगा। .. 31

वर्तमान सन्दर्भ मे मुक्तिबोध की दृष्टि से समस्त मानवीय उपलब्धियों का मानव विरोधी भयंकरतम मूर्तिरूप अमूर्तिकृत नगर है। यहा मानव का मुक्तिबोध सम्मत अर्थ भी समझनी आवश्यक है। इस सम्बन्ध मे उन्होने लिखा है, मानव का अर्थ कैलटेक्स के मैनेजमेन्ट के आदमी नहीं है। मानव का अर्थ है कि किंग्जवे मे रहने वाले ऊंचे किस्म के लेटेस्ट मॉडल की कार के पृष्ठ पर बहस करने वाले लोग नही है यूनिवर्सिटी में डेढ–डेढ हजार की रकम मारने वाले भारतीय सस्कृतिवादी अथवा पाश्चात्य सस्कृतिवादी पडित और पुरोहित नहीं है। मानव का अर्थ वह साधारण मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय जन है जो अपने बालकों को उचित भोजन और उचित शिक्षा और उचित वस्त्र का भी ठीक ढंग से प्रबन्ध नही कर सके। मुक्तिबोध को इस मानव की आशा और निराशा से परे की चीज नगर वर्तमान सभ्यता के चेहरे पर सफेद और गुलाबी पाउडर के पीछे छिपे चेचक के बडे–बडे धब्बो के रूप मे दिखाई देते है। तथा नगरवासी : सस्कृति के सुवासित आधुनिकतम वस्त्रो के अन्दर का वासी वह/नग्न अति बर्बर देह/सूखा हुआ रोगीला पंजर मुझे देखता है/एक्सरे फोटो मे रोग जीर्ण/रहस्यमयी अस्थियों के चित्र सा विचित्र और भयानक।

यहॉ यह स्मरणीय है कि मुक्तिबोध नागरिक सभ्यता की इस विद्रूपता की पीडा में डूब कर नयी कविता और आतंकवादियों की तरह आत्मघाती आनन्द नहीं ले रहे हैं वे इस विद्रूप पर एक गतिशील परिप्रेक्ष्य अपनाते हैं

और अपने वास्तवाधारित यथार्थ ज्ञान या ज्ञानात्मक सवेदन के सहारे इसे एक सार्थक परिणति तक ले जाते है–

शोषण की सभ्यता के नियमो के अनुसार/बनी हुई सस्कृतियो के तिलस्मी/सियाह चक्रव्यूह मे/फसे हुए प्राण सब मुझे याद आते है।

मर्माहत कातर प्रकार सुन पडती है/मेरी ही पुकार जैसी चिन्तापुर समुद्विग्न। 32

इस प्रकार मुक्तिबोध शोषण पर आधारित तिलस्मी स्याह चक्रव्यूह नगर के अयथार्थ का भेदन करते हुए उसमे फसे हुए प्राणो की मर्माहट कातर पुकार के माध्यम से उसे क्रान्तिकारी यथार्थ मे रूपान्तरित कर देते है। वह नगर की अमानवीय कौंध के सम्मुख अपने को पहले जैसा/निस्सहाय और निरवलम्बन नही महसूस करता–

असत्य सा/स्वय बोध विश्व चेतना सा/कुछ नवशक्ति देता है

निज उत्तरदायित्व की विशेष सविशेषता/रास्ते मे चलती हुयी गहरी/गति देती है/नगर का अमूर्त तिलस्मी आभालोक/शोषण की सभ्यता का राक्षसी दुर्ग रूप/यथार्थ की भित्ति पर समुद्घाटित करता है/किन्तु उसके सम्मुख न निस्सहाय/निरवलम्बन पहले जैसा अनुभव करता हूँ। ..33

शोषण की सभ्यता का राक्षसी दुर्ग रूप 'नगर' एक क्षण मे यथार्थ की भित्ती पर अपने तिलस्मी रहस्य को उद्घाटित कर देता है। इस प्रकार सभ्यता के चेहरे पर चेचक के बडे–बडे दाग 'शोषण की सभ्यता के नियमो के अनुसार बडी संस्कृति के तिलस्मी स्याह 'चक्रव्यूह' और शोषण की सभ्यता के राक्षसी दुर्ग' सरीखा नगर और आधुनिक भावबोध के अन्तर्गत आनेवाले नगरीय बोध अपनी अगतिकता के कारण मुक्तिबोध को पीडित अवश्य करते हैं, लेकिन यह पीडा स्वयं आगे भी अगतिकता को जन्म न देकर एक परिवर्तनकारी क्रान्तिकारी चण्डता को जन्म देती है.–

मौलिक जल धारा मेरे वक्ष का शैल गर्भ धोती हो रहती है/कभी मासपेशियो के लौह–कर्मरत/मजबूर लोहार के अथाह बल/प्रकाण्ड हथौडे की/दीख पडती है चोट/निहाई से उठती हुई लाल–लाल/अँगारी तारिकाए बरसती है जिसकी उजाले मे कि एक अतिभव्य देह,/प्रचण्ड पुरूष स्याम/मुझे दीख पडता है/मुस्कराता खडा सा लगता है मुझे वह–/काल–मूर्ति।

क्रान्ति शक्ति जन–युग।।' 34 यह मौलिक जलधारा, जन–जीवन की धारा है–सर्वहारा की विचारधारा है, जिसके प्रकाश मे जन युगो की सस्थापक काल–मूर्ति सदृश्य क्रान्ति शक्ति के दर्शन होते है।

सर्वहारा का अभिषेक सहानुभूति के जल से करते हुए वे उसे ऊँचा उठाने के आकाक्षी है। सयुक्त परिवार की टूटती मूल्यो वाली संस्कृति की विभीषिका यहॉ मुखर हो उठी है। अजीब सयुक्त परिवार है/औरते व नौकर मेहनतकश/अपने ही वक्ष को खुर्दरा वृक्ष धड' मानकर घिसती है/अपनी छाती पर जबर्दस्ती विषदन्ती भावो का सर्पमुख/बहुए मुंडेरो से कुछ, अरे! आत्महत्या करती है 35 वे शोषित, दलित वर्ग के प्रति आत्मीय होकर करूणार्द हो गये है' 'गिरस्तिन मौन, मॉ, बहन सडक पर देखती है/भाव मन्थर काल पीडित ठठरियो की स्याम गौ पात्रा/उदासी से रंगे गभीर मुरझाये हुये पयारे, गउ चेहरे निरखकर पिघल उठता है मन'– 36 उनके काव्य में शहरी संस्कृति के तेलिया लिवास पहने मजदूर, बलाकृत नारियॉ, शोषित मजदूर नारियॉ, शहरी छद्म सब अपनी पूरी विभीषिका के साथ संस्कृति का परिवर्तित–बोध लिए वर्तमान है परन्तु सारी सच्चाई, मानवता एव दर्शन उन्हें भारतीय जमीन पर ही नही।'.....37 मानव और मानवता–वाद उनके पूरे चिन्तन में प्रभावी रहे हैं उनसे सहानुभूति रखते हुए वे एक साहित्यिक की डायरी मे कहते है कि मैं उस रम का चित्रण करना चाहता हूँ जिसका बदला कभी नहीं मिलता और जिसे आये दिन आत्म–बलिदान और त्याग की नसीहत दी जाती है।......38 वर्ग संघर्ष और क्रान्निचेतना का

मधुर स्वर उनके यहा वर्तमान है उनकी दृष्टि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी है और जीवनादर्श सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन और उसकी वाहक जन–क्रान्ति। आधुनिक सस्कृति के पूरे छद्म से वे परिचित है। अधेरे मे भूल–गलती, चॉद का मुह टेढा है, डूबता चॉद कब डूबेगा आदि कविताओ मे उन्होने नागरिक सस्कृति के खोखलेपन और ग्रामीण सस्कुति की अर्थवत्ता को पूर्णतया स्पष्ट किया है। क्षुद्र स्वाथ्रे के हित आत्मा बेचने वालो को तो वे फटकारते है कि उदरभरि बन गये/भूतो की शादी मे कनात से तन गये/किसी व्यभिचारी के बन गये बिस्तर।' 39 रक्तपायी वर्ग से नाभिनालबद्ध लोगो पर उनकी कलम बराबर आग उगलती रही है। छद्म राजनीतिक चरित्र को उजागर करते हुए वह कहते है कि– श्वेत वर्फ की टोपी पहने हुआ हिमालय एक टीला।' . 40

सस्कृति मे आगत मार्शल ला, दमनचक्र, दलबदल, अनैतिकता प्रभृति सारे चरित्र वहा आत्मसात है। वैज्ञानिकता इतनी की नेब्यूला तक जाने की बात करते हैं। विश्वात्मक इतने कि लाओस, क्यूबा, पर्सिपोलिस, आदि हर जगह की घटनायें उन्हे उद्वेलित करती है। अपनी सम्पूर्ण प्रगतिशीलता के बाद भी वे प्राचीन संस्कृति के सकारात्मक मूल्यों की उपेक्षा कभी नही करते। आस्था और जिजीविषा जैसे सांस्कृतिक मूल्य पूरी ईमानदारी से उनके यहॉ मिलते हैं जिसके बल पर वे कहते है।– कोशिश करो/कोशिश करो/जीने की/जमीन मे गडकर भी। . जमीन मे गडे हुए वे देहो की खाक से/शरीर की मिट्टी से धूल से/खिलेंगे गुलाबी फूल।– 41

उनके आस्थावाद मे ही उनकी मानवतावादी दृष्टि निहित है। उनका मानवतावाद मात्र सहानुभूति तक न रहकर मानव मुक्ति तक फैल गया है, वे न तो कभी हारे, न थके, न कभी निराश हुये। तमाम संघार्षों, पीडाओ और त्रासद स्थितियों को झेलते हुए भी वे "दूर–दूर मुफलिसी के टूटे–फूटे घरो में सुनहले चिराग–42 देखने बढ़ते ही जाते है। शोषण के परिणाम से बनी संस्कृति का छद्म प्रभाव एवं स्वरूप उनके सामने पूरी तरह साफ है।

मानवीय सकट को वे परिस्थितियो का दबाव मानकर चले और सकटबोध के परिवेश का दबाव स्वीकारा। ऐसा दबाव जिसने वर्तमान को खा लिया है–

"आज के अभाव के/वे कल के उपवास के/वा परसो की मृत्यु के दैन्य के महाअपमान के/व क्षोभ पूर्ण भयकर चिन्ता के उस पागल यथार्थ का/दीखता पहाड स्याह" – 43

इस प्रकार आत्मान्वेषण से आत्म–परिष्कार तक की यात्रा तय करते हुए मुक्तिबोध के काव्य मे सस्कृति के पूरे चरित्र स्पष्ट है। जहॉ उपयोगी प्रगतिशीलता को स्वीकारा गया है वही प्राचीन सस्कृति के गौरवपूर्ण एव उपयोगी तत्व भी ग्राह्य है। नचिकेता से लेकर गॉधी, तिलक, सुनशेष आल्स्ताय, भैरव, बरगद, ब्रह्म–राक्षस तक उनकी आस्था का विस्तार है। वे वही कला–सस्कृति, एव दर्शन श्लाध्य मानते है, जो जन चरित्र एव मानवता को ऊँचा उठाने में सहायक हो। वे आज के कवि चरित्र के लिए आवश्यक मानते है कि आज ऐसे कवि चरित्र की आवश्यकता है जो मानवीय आवश्यकता का बौद्धिक और हार्दिक ऑकलन करते हुए, सामान्य जनो के गुणो और संघर्षों से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करे. उसे सचित जीवन–विवेक को तथा स्वय ग्रहण को अधिक निखार कर कलात्मक रूप मे उन्ही की चीज उन्हे लौटा दें।–44

इस प्रकार पूरी ईमानदारी का आदर्श देने वाले मुक्तिबोध का काव्य पूर्णतया बदले हुये सास्कृतिक बोध का परिचायक है।

साहित्यिक परिवेशः

मुक्तिबोध छायावाद और नयी कविता की उस सधि रेखा से आरम्भ करने वाले कवि है, जिसे प्रगतिवाद और प्रयोग वाद का सधि–स्थल माना जाता है। लेकिन उनका तालमेल पूरी तरह न अपने समसामयिक पगतिवादियो के साथ बैठ पाया है और न ही नयी कविता वालो के साथ। वैसे तो उनकी 'तारसप्तक' तथा बाद की भी कुछ कविताओ मे प्रगतिवाद, प्रयोगशील और नयी कविता की क्रमश सामाजिक विद्रोह कुण्ठा, अनास्था सशय आदि की प्रवृत्तियॉ एक साथ मिल जाती है। किन्तु बाद की अधिकांश कविताऐ उनके आत्मसघर्ष, आत्ममन्थन और आत्म साक्षात्कार की कविताऐ है। 1

मुक्तिबोध की रचना–प्रक्रिया को समझने के लिए आवश्यक है कि उनके साहित्यिक परिवेश को पहले समझ लिया जाय। सन् 1936 के आस–पास मुक्तिबोध ने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ किया था। इस वर्ष की दो प्रमुख घटनाये है– एक प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना और दूसरी फैजपुर मे होने वाला कांग्रेस का पचासवॉ अधिवेशन। इस अधिवेशन मे काग्रेस के अंदर समाजवादी विचारधारा का बोलबाला रहा, इसके साथ कागेस के बाहर बामपंथी और समाजवादी शक्तियॉ उभर कर सामने आ रही थी। इसका प्रमाण साहित्य क्षेत्र में भी दिखाई देता है इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है–

"याद कीजिए वह जमाना जब गॉधीवादी राजनीति को सप्रश्न दृष्टि से देखा जा रहा था और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनी थी। वामपंथी विचार धारा 'हस' के जरिए हिन्दी साहित्य – क्षेत्र में फैल रही थी और साहित्यिक मूल्यो के पुनर्निर्धारण के प्रश्न कुछ साहित्यिकों के मन में घुमड रहे थे। इन वामपथी विचार आवर्ती ने दो प्रकार के लेखक पैदा किये है– एक तो वे जो सीधे–सीधे राजनैतिक विचार प्रवाह के साहित्यिक रूपान्तर थे और दूसरों के

थे जिन्होने छायावादी साहित्यिक आदर्शों और मनोदशाओ के विरूद्ध तीव्र प्रतिक्रिया की थी।"

यहॉ स्पष्ट है कि उक्त दो प्रकार के लेखको मे पहले प्रगतिवादी है और दूसरे वे जो आगे चलकर अपने को नयी कविता या नये साहित्य से सम्बद्ध करते है। मुक्तिबोध के सारे कृतित्व से यह भी स्पष्ट है कि उक्त किसी भी धारा से पूरी तरह अपना ताल मेल नही बैठा पाये यह अवश्य है कि उनकी पूरी सहानुभूति प्रगतिवादियो के साथ थी और उसे एक नया रूप और नयी शक्ति देने मे जीवन पर्यन्त तत्पर रहे है। 2 यह ध्यान देने की बात है कि मुक्तिबोध ने 1940 से 1950 के मध्य देश की उथल–पुथल के सम्बन्ध मे कोई तत्काल विशेष प्रतिक्रिया नही व्यक्त की है लेकिन 1950 के बाद नया खून, सवेरा, सकेत, सारथी, वसुमति, आदि पत्र–पत्रिकाओ के माध्यम से राजनीतिक–सामाजिक और आर्थिक तथा साम्प्रदायिक समस्याओ पर जमकर उन्होने अपनी प्रतिक्रियाये व्यक्त की है उदाहरण के लिए 'सबेरा' 'संकेत' की कुछ सुर्खियॉ यहॉ उद्धत है........ कांग्रेस द्वारा देश मे जनतत्र के खात्मे की तैयारी नेक इरादे और कमजोर दिल चुनाव के वायदे जिन्हें काग्रेस पूरा नही कर सकती। साम्प्रदायिक कट्टरपथियो की हलचलो से खतरा। 3

इसी के साथ 1952 ई0 के 'नयाखून' मे प्रकाशित उनकी एक आर्थिक राजनीतिक टिप्पणी है– चूँकि वर्गविहीन समाज आज के युग की सबसे बडी पुकार है इसलिए कांग्रेस भी अपना ध्येय वर्गहीन समाज बनाना चाहती है। पर प्रश्न उठता है कि घोर पूँजीवादी व्यवस्था पर आधारित कांग्रेस सगठन जनता को सिर्फ अपने ध्येय मे परिवर्तन के आधार पर अपनी ओर आकर्षित कर सकती है। 4

उपर्युक्त उद्धहरणो से तात्पर्य तत्कालीन परिस्थितियो की ओर संकेत करना है। जिस पीड़ा और उत्तेजना तथा वेदना से प्रेरित होकर टिप्पणियॉ की गयी हैं प्रायः उसी उत्तेजना और वेदना से प्रेरित होकर उन्होंने अपना

साहित्य भी रचा हो। मुक्तिबोध के साहित्यिक सम्बन्धी विचार निबन्धो व्यावहारिक आलोचना और डायरियो मे व्यक्त हुए है। उनकी चिन्ता के प्रमुख विषय थे– रचना और आलोचना का पारस्परिक सम्बन्ध, साहित्य, साहित्य की रचनाप्रक्रिया और नई कविता के बोध सवेदना और रूप की समस्या आदि। व्यावहारिक आलोचना जैसे 'कामायनी और पुनर्विचार' 'शमशेर मेरी दृष्टि मे 'सुमित्रानन्दनपंत' आदि मे भी उनका विचारक रूप ही प्रबल है।

डायरियो की विचार–व्यजना मे प्राय द्वन्द्वात्मक चिन्तन पद्धति का सहारा लिया गया है। इस पद्धति के निर्वाह के लिए ही जेसे दो दृष्टि बिन्दुओ से जुडे पात्रों के संवाद द्वारा किसी साहित्यिक समस्या पर विचार किया जाता है तथा विरोधी दृष्टियॉ अन्त तक पहुँचते –पहुँचते सवाद की भुमिका का निर्माण कर लेती है और अनेक तर्को से परिपुष्ट होता हुआ डायरी का केन्द्रीय विचार एक सिद्धान्त के रूप मे प्रस्थापित हो जाता है। यह एक प्रकार का आत्म–सवाद ही है जैसे–मुक्तिबोध अपने आपसे झगडते हुए अपनी मान्यताओ की वैधता के लिए अपने आपको तराशते हुए अपने को आश्वस्त करते है। मुक्तिबोध समाज के विशेष स्थिति युक्त मानव सम्बन्धो को साहित्य की सृष्टि का आधार मानते है। इस मानव सम्बन्धों से ही मानव चेतना निर्मित होती है। मानव सम्बन्धो के परिवर्तन के साथ मानवचेतना भी परिवर्तित होने लगती है यद्यपि इसके अपने गति नियम होते हैं। 5 दूसरे शब्दो मे "मानव चेतना के विकास मे समाज विशेष के मानव–सम्बन्ध और उनको संचालित करने वाली ऐतिहासिक–सामाजिक शक्तियों का महतवपूर्ण योगदान होता है। लेकिन रचनाकार उन मानव सम्बन्धों और ऐतिहासिक–सामाजिक शक्तियो के प्रति जागरूक हो यह अनिवार्य नही होता"......6

प्रसाद जी चेतना की युग प्रवृत्तियों से सचालित और नियंत्रित तो थी किन्तु वे उन प्रवृत्तियो को सचेत रूप से ग्रहण न कर सके। वर्तमान समाज

की ऐतिहासिक–सामाजिक शक्ति के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण न होने के कारण उनका निष्कर्ष अवास्तविक हुआ। 7

लेकिन जब रचनाकार की चेतना ऐतिहासिक–सामाजिक शक्तियो से सचालित तथा विकसित होती है तो पश्न उठता है कि रचनाकार जिन जीवन तथ्यो और भाव–सवेदनाओ को अभिव्यक्ति देता है क्या वे उसके निजी होते है? क्या रचनाकार का उससे सरोकार होता है? मुक्तिबोध रचनाकार को भाव–सवेदनाओ का प्रवर्तक नही अभिव्यजक मानते है। 8 रचनाकार जीवन यात्रा करते हुए एक मूल भावना बना लेता है जो निजगत प्रयासो और वाह्य प्रभावो से विकसित होती रहती है। चूँकि रचनाकार का जीवन एक वर्ग–विशेष मे व्यतीत होता है इसलिए उस वर्ग–विशेष की भावधारा मे ही उसकी मूल्य–भावना पुष्टि होती है। अत जिसे लेखक अपनी छवि या मूल्य भावना कहता है वह निजगत और वर्गगत प्रयासो का परिणाम होती है। 9 इस तरह रचनाकार की चेतना अपने समाज से, वर्ग से, परिवेश से नियत्रित विकसित होती हुई समाज से, वर्ग से, परिवेश से नियत्रित, विकसित होती हुई समाज और वर्गगत जीवन तथ्यों और भाव सवेदनो को अपनाकर अभिव्यक्त करती है।

मुक्तिबोध ने सभी पूर्वगामी साहित्यकारो के साहित्य को सह्रदयता से स्वीकार नही किया है। वे प्राचीन साहित्य के केवल उस सौन्दर्य को ग्रहण करते है, जो वर्तमान जीवन मूल्यों के विकास में सहयोग देता हो। साहित्य की श्रेष्ठता का युग–युगीन आधार वे जीवन–मूल्य और उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति है जो मनुष्य की स्वतन्त्रता तथा उच्चतर मानव–विकास मे सक्रिय सहयोग दे फिर उसका लेखक चाहे कोई भी हो। 10 अपनी इसी मान्यता के आधार पर मुक्तिबोध ने कालिदास, कबीर, तुलसी प्रसाद और प्रेमचन्द्र के साहित्य का मूल्यांकन किया हो उनके अनुसार कालिदास के काव्य का आकर्षक तत्व समाज बाधाहीन मानव– सुलभ प्रेम और प्रकृति चित्रण है। इसे वे अपनी परम्परा का अंग मानते है। लेकिन उनके साहित्य

मे व्यक्त बहुविवाह और रतिविकास को नही। कालिदास के साहित्य मे व्यक्त स्वच्छन्द मानव प्रेम इसलिए आकर्षित करता है क्योकि आज ऐसे प्रेम का अभाव है। दूसरे उसमे प्रेमी द्वारा प्रेमिका की भयानक उपेक्षा का जो विरोध कलात्मक माध्यम से प्रस्तुत किया गया है– वह हमारे जीवन मूल्यो को दृढ करता है।' 11

मुक्तिबोध ने भवभूति, कालिदास, कबीर, तुलसी, सूर, घनानन्द आदि के काव्य मे जहॉ सूक्ष्म दृष्टियो, जीवन पक्षो का मार्मिक उद्घाटन तथा जीवन–विवेक दृष्टिगोचर होता है उन सभी साहित्य को स्थायी सम्पत्ति स्वीकार किया है। 12 वे कबीर के सदाचार को उन परिस्थितियो मे क्रान्तिकारी और प्रगतिशील मानते है जो जाति और वर्ण के बन्धनो को हटाकर मानव प्रेम की हिमायत करता है। कबीर का रास्ता जनवादी रास्ता था इसलिए मुक्तिबोध तुलसी को कबीर की अपेक्षा पुरातनवादी कहते है। 13 मुक्तिबोध ने प्रेमचन्द्र को उत्थानशील भारतीय, सामाजिक क्रान्ति के प्रथम और अतिम महान कलाकार कहा है। 14 उन्हें परवर्ती कथा साहित्य मे होते है– आज का कथा–साहित्य पढकर पात्रो की प्रतिच्छाया देखने के लिए हमारी ऑखें आस–पास के लोगो की तरफ नही खिचती। कभी–कभी तो ऐसा लगता है जैसे पात्रो की छाया ही नही गिरती कि वे लगभग देवहीन है, लगता है कि हमारे यहॉ प्रेमचन्द्र के बाद एक भी ऐसे चरित्र का चित्रण नही हुआ जिसे हम भारतीय विवेक–चेतना का प्रतीक कह सके। 15

मुक्तिबोध के साहित्य चिन्तन को कुछ बिन्दुओ मे विभक्त करके समझा जा सकता है:– मुक्तिबोध साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानवसत्ता का अध्ययन मानते है। 16 इसलिए केवल मनो–वैज्ञानिक सौन्दर्यात्मक पक्ष से किये गये साहित्य के अध्ययन को एकांगी कहते है। आलोचना को वास्तविकता पर आधारित होने के लिए सामाजिक और ऐतिहासिक पक्ष को भी अपने मे समाविष्ट करना पडता है। मुक्तिबोध के शब्दों में– 'हमारी आलोचना को वास्तविकता पर आधारित होने के लिए

समाज–रचना के ऐतिहासिक विकास स्तर आलोच्य वस्तु के समय प्रचलित भाव परम्परा लेखक के वर्ग परिवार तथा व्यक्तिगत विकासावस्था तत्कालीन सास्कृतिक विकास आदि बातो के अध्ययन के साथ ही लेखक की उस समस्त स्थिति–परिस्थिति से की गयी प्रतिक्रिया अध्ययन भी नितान्त आवश्यक है और इस अध्ययन के अन्तिम गर्भितार्थ समाज–शास्त्रीय और ऐतिहासिक ही हो सकते है। 17

मुक्तिबोध इन्हे परिभाषिक शब्दावली में प्रयोग करने के लिए नही कहते। वे आलोच्यसस्कृति के सवेदनात्मक उद्देश्य और अन्तरानुभावो को व्यापक मानवसत्ता के तथ्यों से जोडने का समर्थन करते है। 18 मुक्तिबोध ने आलोचक की प्रवृत्तियों के खतरे की ओर भी सकेत किया है। जीवन के तथ्य जटिल और पेचीदा होते है। उनके बारे मे समीक्षक के मन में पहले से अनुकूल या प्रतिकूल भाव सक्रिय होते है जिसके कारण आलोचक कलाकृति मे व्यक्त सामान्यीकृत कल्पना चित्रो को देखकर बहुत शीघ्र आत्मबद्ध प्रतिक्रिया कर जाता है। यद्यपि समीक्षा कार्य कलात्मक चिन्तन के बिना नही चल सकता परन्तु वास्तविक जीवन ज्ञान द्वारा ही कलात्मक विवेक और जीवन विवेक विकसित होता है। मुक्तिबोध के अनुसार यदि आलोचक जीवनविवेक सम्पन्न है तो उसके आग्रह और अनुरोध ऊपर से थोपे हुए नही लगेगे।

देशव्यापी सामाजिक–आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियो से जिस प्रकार मुक्तिबोध ने अपने जीवन में सरोकार महसूस किया था उसी प्रकार अपने काव्य ओर अपनी समीक्षाओ में भी। 'तारसप्तक' के दूसरे संस्करण के वक्तव्य में अपने और देश के बीस वर्षों के लम्बे इतिहास के बारे में टिप्पणी करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं– पिछले बीस वर्षो से न मालूम कितनी बाते घटित हुई है। मेरी अपनी जिन्दगी जिन तंग गलियों में चक्कर काटती रही उन्हें देखते हुए यही मानना पडता है कि साधारण श्रेणी में रहने वाले हम लोगों को अस्तित्व' संघर्ष के प्रयासों में ही समाप्त होना है। मेरा अपना

सुदीर्घ अनुभव बताता है कि व्यक्ति–स्वातत्रय की वास्तविक स्थिति आर्थिक आधार रखते हो जिससे कि वे परिवार सहित मानवोचित जीवन व्यतीत कर सके। 19 मनुष्य मात्र के लिए मानवोचित जीवन की इस कामना से मुक्तिबोध का साहित्य भरा पडा है। मुक्तिबोध की साहित्यिक स्थिति–परिस्थिति समझने के लिए निराला से उनकी तुलना पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकती है। जीवन के सघर्ष को कला के सघर्ष के साथ एकमेक कर देने के कारण वस्तु एव रूप–दोनो ही दृष्टियो से मुक्तिबोध का काव्य अपने समसामयिको से बहुत कुछ भिन्न है उसी तरह जिस तरह से निराला का। जिस तरह निराला अपने युग के सबसे उपेक्षित और अप्रिय कवि रहे है उसी तरह या उससे भी अधिक मुक्तिबोध। अपनी मृत्यु के बाद जितना सम्मान निराला को मिला शायद उससे भी अधिक मुक्तिबोध को। 20

इसका मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि निराला ओर मुक्तिबोध ने जीवन दृष्टि एव कला दृष्टि दोनो स्तरो पर युगीन घटनाओं का अतिक्रमण किया है उससे आगे पहुँचने का प्रयास किया है . यही सत्य है कि कोई भी लेखक अपने व्यक्तित्व से अपने इतिहास को अर्थात् अपने देश काल से स्वतत्र नही है। किन्तु वह जब सचमुच स्वतत्र होने का प्रयत्न करता है तो इसका अर्थ यह है कि युग बदलने के लक्षण सामने आ रहे है। अपने युग की सीमाओं के परे देखकर, परे जाकर आगे के मार्ग को देखना महत्वपूर्ण घटना है। 21 साहित्य के प्रश्न मूलत और अन्तत जीवन के प्रश्न है इसलिए किसी काव्य पद्धति पर चोट करना जीवन पद्धति पर चोट करना है। किसी एक लेखक को लेकर उसकी विचारधारा पर आक्रमण करना उतना घातक नही है जितना कि एक युग की पूरी भावधारा और रचनाशैली पर आघात करना ऐसा शुक्ल जी से हुआ, जिसके लिए दोषी है। लेकिन यही गलती जब प्रगतिवादी समीक्षक करते है तो मुक्तिबोध की दृष्टि में उनका अपराध अक्षम्य हो जाता है। उनका यह आग्रह कई स्थलों पर व्यक्त हुआ है कि प्रगतिवादी समीक्षकों ने जिस ऐतिहासिक समाज वैज्ञानिक दृष्टि

से नवीन अवधारा के साहित्य की आलोचना की है उसी दृष्टि से वे यदि नये सामाजिक सम्बन्धो की चोट से छटपटाते हुए कवियो के जीवनगत तथ्यो का अनुशीलन भी करते तो उनमे अपने प्रति अधिक विश्वास पैदा कर पाते, उन्हे अपने साथ तो चल पाते। 22

मै मुख्यत विचारक न होकर केवल कवि हूँ किन्तु आज युग ऐसा है कि विभिन्न विषयो पर उसे भी मनोमथन परना पडता है। अपने काव्य जीवन की यात्रा मे जो चिन्तन करना पडा वह विज्ञ पाठको के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ। नयी कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध पुस्तक की यह आरम्भिक पक्तियॉ है। अन्य भी—कवि और लेखक होने के नाते समीक्षा साहित्य की वर्तमान वर्तमान प्रवृत्तियो पर भी मेरी नजर जाना स्वाभाविक ही है। मुझे समीक्षको की स्थिति पर दुःख होता है।" इन दोनो उद्धहरणो मे मुक्तिबोध ने अपने को कवि—लेखक के रूप मे स्वीकार किया है— समीक्षक के रूप मे नही। लेकिन इनसे यह स्वीकृति भी ध्वनित होती है कि मुक्तिबोध की समीक्षा उनके कवि या रचनाकार की आवश्यकता की पूर्ति है। इस बात की ओर आगे बढाकर यह भी कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध की समीक्षा के अन्तर्गत दिखायी देते है लेकिन ये स्वर जहॉ एक ओर उनकी समीक्षा को कविता की वास्तविक भूमि पर कवि जीवन की यथार्थ भूमि पर प्रतिबिम्ब करते है। वही उसकी और वर्तमान हिन्दी समीक्षक के लिए एक स्वस्थ और व्यवहारिक मार्ग भी प्रशस्त करते है। 23

वस्तुत मुक्तिबोध ने हिन्दी समीक्षा के इतिहास पर बडे गौर से विचार किया था और अपनी इस पूरी प्रक्रिया मे उन्होने प्रगतिवादियो के साहित्य क्षेत्र से खदेडे जाने पर पीडा का अनुभव किया था। जहॉ तक प्रगतिवादियों के साहित्य खेत्र से निष्कासन का प्रश्न है इसमें मुक्तिबोध ने उनकी वजह बधिर—अंध—पगुता को मुख्य कारण अवश्य माना है फिर भी जिन आरोपों—कारणों और जिन निहित उद्देश्य से प्रेरित होकर यह कार्य किया गया— उसके प्रति वे काफी क्षुब्ध थे। इसे वे एक दुर्घटना मानते थे, जिनका

उनकी समीक्षा– दृष्टि के निर्माण मे पर्याप्त योग है। मुक्तिबोध समीक्षा की किसी रचना की कलावत्ता के गुण–दोष को विवेचन तक सीमित न रखकर अनुभव प्रसूत–ज्ञान सवेदनात्मक लक्ष्य तक ले जाना चाहते है। इस रूप मे वे रचनात्मक समीक्षा का आग्रह प्रस्तुत करते है। परिभाषा और गुण दोनो को ध्यान मे रखकर देखे तो उनकी कवि और समीक्षक रूपो मे समतोल मिलेगा। जिस प्रकार उनकी समीक्षाये उनके कवि रूप की पूरक है, उसी प्रकार उनकी कविताये भी उनके समीक्षक रूप की सहायक है।

यहॉ आरम्भ मे ही इस तथ्य की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि अपने समस्त लेखन मे मुक्तिबोध के सामने सबसे बडी चुनौती रही है नयी कविता तथा नये कवि समीक्षको द्वारा की गयी समीक्षा। दूसरी चुनौती रही है पूर्ववर्ती प्रगतिवादियों की रचनाये और उनके द्वारा की गयी छायावाद ओर नयी कविता की समीक्षा। एक तीसरी चुनौती भी उनके सामने थी जिसे उन्होने जीवन की मूलधारा से कटी हुई कुर्सीतोड आलोचना की समीक्षा माना है। इस अन्तिम चुनौती के अन्तर्गत कुछ तथाकथित प्रगतिवादी और छायावादी आलोचक आते है। 24

मुक्तिबोध ने कला समीक्षा को एक गम्भीर कार्य के रूप मे स्वीकार किया था। चूँकि हर गंभीर कार्य का एक लक्ष्य होता है अत· उनकी समीक्षा का भी एक निश्चित मानवीय लक्ष्य था। वह यह है कि आधुनिक भाव–बोध सम्बन्धी घोर व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को साहित्य के क्षेत्र में रोका जाय और जनवादी सामाजिक चेतना को बढावा दिया जाये। इस लक्ष्य की पूर्ति को उन्होंने एक व्यक्ति का कार्य नहीं वरन् सम्मिलित प्रयास द्वारा संभव माना है। इस सम्बन्ध में उनका स्पष्ट कथन है हॉ यह सही है कि यह एक व्यक्ति का काम नहीं है..... और अगर ये सम्मिलित रूप से संगठित कार्य नहीं कर सकते तो क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य बाधाओं के अतिरिक्त एक बाधा यह भी है कि ये सब मध्यमवर्गीय व्यक्तिवादी है जिन्हें अपनी व्यक्तिगत सत्ता अन्य बातों से अधिक प्रिय है। 25

आधुनिकतावादी नई समीक्षा के सम्बन्ध मे मुक्तिबोध की यह स्पष्ट मान्यता रही है कि नयी काव्यधारा के समर्थन मे एक नया कला–सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया, इस कला दर्शन के समर्थन और पोषण के लिए व्यक्ति स्वातत्रय व्यक्तिवादी स्वातत्रय का पर्याय है। साहित्य और कला के क्षेत्र मे कलाकार की स्वतत्रता को भी प्राय इसी रूप मे देखा जाना चाहिए। आखिर साहित्य मे क्षेत्र इस प्रकार की स्वतत्रता की माग का अभिप्राय क्या है? नयी भावधारा की किस रचना को प्रतिबधित किया गया था किस प्रकार का प्रतिबध या जिसे समाप्त करने के लिए वह कलाकार की निरपेक्ष स्वतत्रता के लिए छटपटा रहा था? नयी भावधारा के मच से उठाये गये समीक्षा के अन्याय प्रश्नो वस्तु और रूप सौन्दर्यानुभूति और जीवनभूति अनुभूति की प्रामाणिकता और प्रामाणिक अनुभूति सहानुभूति साहित्य या साहित्यकार की पक्षधरता या उसका दायित्व कला का स्वायत्रता या कलाकार की स्वतन्त्रता आदि के मूल मे सर्वत्र व्यक्ति स्वातत्र्य की भावना ही क्रियाशील है। 26

मुक्तिबोध इस बात मे विश्वास करते थे कि कला, दर्शन, विज्ञान आदि के लिए व्यक्ति स्वातत्रय बुनियादी आवश्यकता है। लेकिन जिस प्रकार कला अपने आन्तरिक नियमो के कठोर अनुशासन के बिना निर्जीव और अपंग हो जाती है उसी प्रकार अन्तरात्मा के कठोर अनुशासन के बिना व्यक्तिस्वातंत्र्य निरर्थक और विकृत हो जाता है। व्यक्ति स्वातत्र्य से आक्रान्त एव दूषित सामाजिक वातावरण में साहितय की स्थिति पर विचार करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है– 'जिस समाज मे हर चीज खरीदी और बेची जाती है जहॉ बुद्धि बिकती है और बुद्धिजीवी वर्ग बुद्धि बेंचता है अपने शारीरिक अस्तित्व के लिए जहॉ उदारवादी की जगह उदारवादी हुआ जाता है। जहॉ स्त्री बिकती है, रम बिकता है वहॉ अन्तरात्मा भी बिकती है।.....
जहॉ व्यक्ति स्वातंत्रय सिमटकर केवल अपने घेरे मे अपनी स्वयं की मनोलीन विचारणा बन जाता है। जहॉ साहित्य के क्षेत्र मे धनप्रभु प्रकाशक के रूप मे अवतरित होकर उन प्रकाशकों से लाभान्वित और उनसे सम्बद्ध हुए लेखकों

द्वारा उन्ही की जैसी विचारणा बनाते है और उस विचारणा के अनुसार साहित्यधाराओ को मोडने उसे बनाने बिगाडने का कार्य करते है .. वहॉ हम लोगो के लिए वास्तविक व्यक्तिस्वतत्र्य रक्षा का युद्ध अपनी अन्तरात्मा की रक्षा का युद्ध अपने भौतिक, देविक अस्तित्व अपने पारिवारिक अस्तित्व की रक्षा के लिए युद्ध मे परिणत हो जाता है। मेरे लेखे–व्यक्ति स्वातत्र्य जेसा कि हमारे पूॅजीवादी समाज में देखा जाता है एक अच्छा खासा मुहावरा है। 27

साहित्य विवेक मूलतः जीवन विवेक है। जब वास्तविक जीवन से दूर अपनी आराम कुर्सी पर बैठा हुआ समीक्षक बनते हुए साहित्य की प्रवृत्तियो पर निर्णय देने लगता है तो स्वाभाविक है कि उसकी जीवन–ज्ञान सम्बन्धी जडता परिवर्तन–परिवर्तन की मनोभूमियो को ही ढक दे तथा उसे सब कुछ एक अविछिन्न निरन्तरता के रूप मे दिखाई देने लगे। आधुनिकता या आधुनिक भाव बोध अपने परिभाषिक अर्थ मे एक निरन्तर प्रक्रिया न होकर एक विशेष सामाजिक ऐतिहासिक विकास सतर पर एक विशेष वर्ग द्वारा अनुभव की जाने वाली स्थिति है। 28 एक दायित्व सर्जक साहित्य विचारक की तरह मुक्तिबोध ने मात्र व्यक्तिवादी विचारधारा की एकागिता और सकीर्ण दृष्टि की आलोचना नही की अपितु प्रगतिशीलता और जनसाधारण की हिमायत करने वाले प्रगतिवादी साहित्य और समीक्षा की सीमाओ को भी रेखांकित किया है। मुक्तिबोध ने ऐसा किसी व्यक्ति का दुराग्रह या राजनैतिक दृष्टि से प्रेरित दुर्भाव को लेकर नहीं किया। 29

जिस प्रगतिवादी कविता को आदर्श मान कर समीक्षको ने कभी कविता की उपेक्षा की उसमें वास्तविक मनुष्य का एक पक्षीय चित्रण था। प्रगतिवादी कविता मुख्यतः क्रान्ति के लिए तत्पर मानव की कविता थी जो अपने सारे अन्तर्विरोधों कमजोरियों, शंकाओं का त्याग कर चुका है। भारतीय मनुष्य ऐसा नहीं था ओर न है। प्रगतिवादी कविता करते हुए मुक्तिबोध लिखते है।– 'प्रगतिवादी कवियों का प्रगतिशील मानव एक निष्ठावान व

क्रान्तिकारी मानव था जो प्रगतिशील मूल्यो की स्थापना के लिए जूझ पडता है। उसके हृदय मे कही भी कोई शका, अपने व्यक्तिसुख के सबधो मे कोई चिन्ता अथवा अपनी परिस्थितियों से कोई घबराहट नही थी यद्यपि यह साफ था कि वास्तविकता बराबर यह सूचित करती रही थी कि वास्तविक प्रगतिशील मनुष्य जो कि हमे काम करते हुए दिखाई देता है। प्रगतिशील कविता मे दिखायी दे रहे प्रगतिशील मानव से कही अधिक उलझाव भरा कमजोर और विविध पक्षीय रूझान रखने वाला मनुष्य है। सक्षेप मे प्रगतिवादी मानव–बिम्ब जो काव्य मे उपस्थित हुआ प्रगतिवादी मानव के वास्तविक जीवन सघर्ष और वास्तविक व्यक्तित्व से बहुत कुछ दूर होकर अति सरलीकरण पर आधारित कल्पना के रूप मे था। साथ ही उसका केवल एक ही पक्ष सामाजिक राजनैतिक पक्ष ही सामने आता था दूसरे पक्ष नही। 30 मुक्तिबोध ने प्रगतिवादी साहित्य और समीक्षा की आलोचना विध्वसात्मक रूप मे नही की बल्कि उसको विकसित करने का ही प्रयत्न किया है। नयी काव्य प्रवृत्ति को समझने का दिशा निर्देश करते हुए उन्होंने कहा कि कोई भी भावना अपने में प्रगतिशील या प्रगतिवादी नही होती जिन सबधों से वह जुडी होती है उसी के आधार पर निर्णय दिया जा सकता है। उन्होने बताया कि रचना के वास्तविक संदर्भो तक पहुेचने के लिए कल्पना चित्रो मे बोधात्मक और सवेदनात्मक पक्ष को हृदयगम करना आवश्यक है उसी माध्यम से वस्तु सत्यों और जीवन स्थितियो का अनुमान किया जा सकता है–

किसी भी प्रवृत्ति विशेष का अध्ययन तब हो सकता है जब उस साहित्य पवृत्ति की आन्तरिक विशेषताओ के अध्ययन के साथ–साथ उस प्रवृत्ति के भीतर झलकती हुई व्यक्ति स्थिति, वर्ग स्थिति, समाज स्थिति और उन सबके परस्पर अन्तःसम्बन्ध हम आत्मसात् करें। और उस सबके स्वरूप का वस्तुगत विश्लेषण करते हुए हम उस प्रवृत्ति विशेष का प्रतिनिधित्व करने वाली मनुष्य और कुछ गौण कलाकृतियों का सर्वांगीण अध्ययन करे– व्यापक

जीवन दृष्टि से। 31 इस प्रकार मुक्तिबोध ने प्रगतिवादी समीक्षको की यात्रिक समझा और अहम्वादिता को सकेतित करते हुए उन्हे वास्तविक जीवन विवेक सम्मत दृष्टि विकसित करने का आग्रह किया। मुक्तिबोध की आलोचना मे मार्मिकता है जहाँ वे आलोचना करते है तो उपलब्धियो को भूल नही जाते बल्कि लेखक समीक्षक की पीठ पर सहानुभूति पूर्ण हाथ रखकर उसका ध्यान उसकी जडता की ओर दिलाना चाहते है।

मुक्तिबोध कलाकर की ईमानदारी को अभिव्यक्ति की ईमानदारी के अर्थ तक सीमित नही मानते है उनके अनुसार जो भाव या विचार जिस अनुपात मे जिस मात्रा मे उठा हो उसे उसी अनुपात मे या मात्रा में अभिव्यक्ति देना कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी नही है। 32 अपितु कलाकार की ईमानदारी वहाँ लक्षित होती है जहाँ वह वस्तुमूलक आकलन के आधार पर उसके प्रति सही–सही मानसिक प्रतिक्रिया करता है जो संवेदना और ज्ञान के समिश्रण से निर्मित होती है। यह सभव है कि लेखक मानसिक प्रतिक्रिया करते समय अपने दृष्टिकोण के प्रति सजग न हो लेकिन प्रतिक्रिया मे उसके दृष्टिकोण का सकेत अवश्य मिलता है। 33 व्यक्तिगत ईमानदारी प्राप्त करने के लिए कलाकार को अपने संवेदनात्मक ज्ञान को विकसित करना होगा, अंतर्निषेधो–विरोधो से जूझना होगा–इस कार्य में थकान और निराशा ही मिलेगी इस वयक्तिपरकता से वस्तुपरक होने के सघर्ष से घबराने वाले कलाकार पर मुक्तिबोध व्यंग्य करते हुए कहते है– उस वस्तुपरकता से हमें डर लगता है क्योकि जिस वास्तविकता के प्रति हम वस्तुपरक है उस वास्तविकता ने हमें झिझोंड कर रख दिया है। ऐसा दर्द किस काम का जो हमे वस्तु परक बना दे। वास्तविकता के प्रति उन्मुख करता जाय। 34

इस तरह मुक्तिबोध व्यक्तिगत ईमानदारी को स्वय सिद्ध नहीं बल्कि प्रयत्न साध्य मानते है। वे कलाकार से मानवता की हित साधक विश्व–दृष्टि क विकास करने के लिए कहते है। मुक्तिबोध का यह चिन्तन कलाकार की

व्यक्तिगत ईमानदारी को सीमित और सकीर्ण क्षेत्र से निकालकर व्यापक आयाम प्रदान कराता है। मुक्तिबोधो के साहित्य चिन्ता, जीवन चिन्तन का ही एक अग है। जीवन–यथार्थ को अपने चिन्ता का आधार बनाने के कारण उसमे सैद्धान्तिक त्रुटियॉ नही मिलती। मुक्तिबोध हिन्दी के ऐसे साहित्य–विचारक है जिन्होने रचना से प्रेरणास्रोत उसके उद्‌भव रचनाकार की वर्गीय स्थिति की और उसका रचना पर प्रभाव एव रचना प्रक्रिया, परिवेश और साहित्य का सबध परपरा की वर्तमान समय मे मूल्यवत्ता तथा रचना और समीक्षा के अत सबध आदि पर सूक्ष्म और गम्भीर चिन्तन किया हो। मार्क्सवादी दर्शन से अनुप्राणित होने पर भी उनके साहित्य विचारो मे विचार दर्शन अमर्यादित नही मिलता सर्वत्र उन्होने वस्तु स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जिससे सजग आलोचक वास्तविकता से परिचित होकर सत्य का पक्ष ग्रहण कर सके और अपने विचारो को दृढकर सके।

मुक्तिबोध की रचना–प्रक्रिया को समझने के लिए साहित्यिक–सामाजिक परिवेश के साथ ही उनकी रचना–प्रक्रिया विषयक मान्यताओं को भी समझ लेना आवश्क है। वे आलोचना के लिए कवि की रचना–प्रक्रिया को विश्लेषण और रचना–प्रक्रिया के लिए कलाकार के व्यक्तित्व का विश्लेषण आवश्यक मानते है। आलोचना के सम्बन्ध में यह उनकी स्पष्ट धारणा रही है। 'कृति की आलोचना अथवा कृति का प्रभाव–ग्रहण कवि के व्यक्तित्व की भी प्रभावर्गहण है। 35 व्यक्तित्व की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है, "जीवन मे जो कुछ अर्जित है, जो कुछ सवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सम्वेदना के रूप में प्राप्त है, अर्थात जो कुछ विशिष्ट अनुभव है, जो संस्कार है, जो आदर्श है, जो यथार्थ ह्रदय का अग बन गया है। वह सबका सब स्थिर रूप मे व्यक्तित्व का अंग होता है। "–36 इस पूरे व्यक्तित्व का विश्लेषण रचना–प्रक्रिया को समझने के लिए आवश्यक होता है।

मुक्तिबोध ने रचना–प्रक्रिया के मूल उपादानो का उल्लेख करते हुए सवेदनात्मक उद्देश्य, कल्पना, भावना और बुद्धि को इसका सर्वमान्य तत्व स्वीकार किया है। इस प्रकार कलाकार का जीवनानुभव, उसका अपना निजी इतिहास–भूगोल आदि भी रचना प्रक्रिया के उपादान है। यही नही वरन् वाह्य से प्राप्त ज्ञान विधि और भाव–परम्परा कलाकार के अन्तर्जगत मे स्थान ग्रहण कर, उसके व्यक्तित्व की आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हुई, अन्तर्वयक्तित्व द्वारा सशोधित–संपादित होती हुई, जिसकी अपनी ज्ञान निधि और भाव परपरा बन जाती है। ये सभी उसके अन्तर्व्यक्तित्व मे घुलमिलकर उसके निजी हो जाते है। रचना–प्रक्रिया के स्वरूप निर्धारण मे उक्त सभी तत्वो का समुचित योग होता है। काव्यालोचन मे इन सभी तत्वो का ध्यान रखना आवश्यक है। इसलिए कृति की राह से गुजरना, कृतिकार के व्यक्तित्व की राह से गुजरना है। मुक्तिबोध इसके बिना किसी कलाकृति के मूल्यांकन को पूर्ण नही मानते। इस तथ्य को ध्यान में रखकर उन्होने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पं0 नन्द दुलारे बाजपेयी, डा0 रामविलास शर्मा श्री शिवदास सिंह चौहान आदि की आलोचना पद्धति पर आक्षेप करते हुए लिखा है; "वह आलोचना, जो रचनाप्रक्रिया को देखे बिना की जाती है, आलोचक के अहंकार से निष्पन्न होती है। भले ही वह अहकार आध्यात्मिक शब्दावली में प्रकट हो चाहे, कलावादी शब्दावली मे, चाहे प्रगतिवादी शब्दावली में।"– 37

हिन्दी काव्यालोचन मे रचना–प्रक्रिया पर सभवत सबसे अधिक और गंभीर विचार मुक्तिबोध ने किया है। एक साहित्यिक की डायरी, नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध, और नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र शीर्षक उनके–समीक्षात्मक ग्रन्थ उक्त तथ्य के प्रमाण है। इनमें काव्य की रचना–प्रक्रिया पर स्वतंत्र निबन्धों के साथ ही अन्याय लेखों मे समीक्षा की व्यावहारिक समस्याओं के स्पष्टीकरण के सन्दर्भ मे भी रचना प्रक्रिया के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। 'कामायनी एक पुनर्विचार' में मुक्तिबोध ने 'कामायानी के मूल्यांकन का आधार ही प्रसाद की रचना–प्रक्रिया को

बनाया है। छायावादी कवियो विशेष पन्त पर विचार करते हुए, उनकी रचना–प्रक्रिया का सकेत मुक्तिबोध ने इस प्रकार दिया है "पहली बात तो यह है कि पन्त जी की वास्तोन्मुखता की जितनी भी जो भी प्रवत्ति है वह लान–पालन, परिवार, वर्ग, स्वय के जीवनानुभव परिस्थिति आदि–आदि से सीमित तो है ही, साथ ही वह मनोरचना से भी सीमित है।

जीवन अस्तित्व की रक्षा तथा विकास के घनघोर सघर्ष मे पडकर यह मनो–रचना अधिकाधिक वास्तोन्मुख भी हो सकती थी। प्रसाद और उससे अधिक निराला को जीवन सघर्ष के अपने–अपने ढंग के अनुभव है। . इससे पृथक, पन्त जी मे वास्तव के प्रति जो सवेदन क्षमता है, उस पर मूलत अपना निज का बोझ नही होने से वह वास्तव के प्रति अधिकाधिक उन्मुख होती गयी। ..किन्तु वास्तव का उनके अन्त करण से जो सम्बन्ध रहा, वह अधिकतर मनोमय ही है वास्तव से उनका सम्बन्ध का उनके अन्त.करण से जो सम्बन्ध रहा, वह अधिकतर मनोमय ही है। वास्तव से उनका सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक–सघर्षात्मक नही रहा। इसके विपरीत निराला और प्रसाद को अपने–अपने ढंग से, अपनी–अपनी दिशा मे द्वन्द्वात्मक स्थिति मे आना पडा वास्तविक जीवनानुभव की जितनी सम्पन्नता निराला और प्रसाद मे है, उतनी उस हद तक, उस मात्रा में पन्त जी के पल्ले नही पडी।–38 इसका स्वाभाविक परिणाम तीनो के काव्य मे आसानी से देखा जा सकता है।

एक साहित्यिक की डायरी में 'तीसरा क्षण' शीर्षक प्रथम लेख को मुक्तिबोध के रचना प्रक्रिया सम्बन्धी चिन्तन का प्रस्थान बिन्दु माना जा सकता है। इसमे यद्यपि उन्होने प्रकारान्तर से अपनी ही रचना प्रक्रिया के सम्बन्ध में इससे महत्वपूर्ण सकेत प्राप्त होते है। कला के तीन क्षणों का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है; "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र, अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते दुखते हुए मूलों से अलग हो जाना और एक फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानों वह फैण्टेसी अपनी ऑखों के सामने खड़ी हो तीसरा और अन्तिम

क्षण इस फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है, वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है। प्रवाह मे फैण्टेसी अनवरत रूप से विकसित–परिवर्तित होती हुई आगे बढती जाती है। इस प्रकार वह फैण्टेसी अपने मूल रूप को बहुत कुछ त्यागती हुई नवीन रूप धारण करती है।" ..39

काव्य की रचना प्रक्रिया के सम्बन्ध मे, अत्यन्त विस्तार के साथ उन्होने अपनी अन्य रचनाओ मे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। मुक्तिबोध फैण्टेसी को रचना प्रक्रिया की मध्य–स्थिति मानते है, जो प्रकारान्तर से सौन्दर्यानुभूति या कलात्मक अनुभूति का क्षण है। यह कलात्मक अनुभूति फैण्टेसी जीवनानुभव–प्रसूत होती है किन्तु अनुभव की प्रतिकृत नही। इसी प्रकार कलाकृति फैण्टेसी प्रसूत होने के बावजूद भी उसकी प्रतिकृति नही होती। किसी विशिष्ट जीवनानुभव से जिस प्रकार फैण्टेसी की अपनी सापेक्ष्य स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करती है। इन तीनो क्षणों की स्वायत्तता निरपेक्ष न होकर परस्पर सम्बद्ध, आत्म निर्भर अर्थात सापेक्ष्य होती है।

इस मान्यता से हमारे सामने कई तथ्य आते है। पहला तो यह कि किसी कलाकृति के निर्माण के लिए मात्र अनुभव ही पर्याप्त नहीं है। अपने नितान्त वैयक्तिक अनुभवों को ही 'समझा' मानकर, सत्य के रूप में उसकी प्रतिष्ठा करने वाले नयी कविता के रचनाकारों पर मुक्तिबोध ने गहरा आक्षेप किया है। उनकी दृष्टि से एक जीते–जागते सामाजिक प्रणाी के आत्मानुभव कभी 'विशुद्ध' हो ही नही सकते। इसलिए उन्होंने आत्मानुभवो को इतिहास की विकास प्रक्रिया और समसामयिक सामाजिक परिवेश मे रखकर उसकी पूरी जॉच–परख पर बल दिया हैं ऐसा करने के बाद ही कोई विशिष्ट या उत्कृष्ट तीव्र जीवनानुभव कलाकार का निजी बनता है, उसके वयक्तित्व का अभिन्न अंग बन पाता है। इस प्रक्रिया से गुजर कर विशिष्ट अनुभव अपने मूल उत्स से अलग होते हुए संवेदना और ज्ञान का रूप धारण करते है तथा एक व्यापक सत्य के रूप में प्रतिष्ठित होते है।

फैण्टेसी मुक्तिबोध की एक विशिष्ट और यथार्थपरक–अवधारणा है, कोई कपोल–कल्पित इकाई नही। सक्षेप मे उन्होने फैण्टेसी को 'जीवन–मर्म–सवृत्त सवोदनात्मक अभिप्राय से युक्त माना है। जब जीवनानुभव सौन्दर्यानुभूति या कलात्मक अनुभूति के रूप मे निर्वैयक्तिकता की स्थिति उत्पन्न करते है, तभी एक आभास रूप मे फैण्टेसी का जन्म होता है। लेकिन यह आभास एक गतिहीन चित्र बनकर स्थिर नही रहता, वरन् सोद्देश्यता की दिशा मे निरन्तर गतिशीलता इसकी विशेषता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है– 'फैण्टेसी डायनेमिक होती है कला के प्रथम क्षण के अन्तिम सिरे पर उत्पन्न होते ही उसकी गतिमानता शुरू हो जाती है। फैण्टेसी जो शुरू मे एक आभास–रूप मे होती है वह तुरन्त ही अनेक चित्रो की ससगत पात बनने लगती है एक–एक मर्म के आस–पास ये चित्र सगठित होकर प्रवहमान होते है।"–40

फैण्टेसी के निर्माण की प्रक्रिया पर मुक्तिबोध ने विस्तार से विचार किया है। प्रत्यक्ष जीवनानुभव अन्तस्थ अन्याय अनुभवो के मध्य अपनी जॉच परख ही नही कॉट–छॉट और सशोधन–सपादन की प्रक्रिया से गुजर कर, सवेदनात्मक ज्ञान के रूप ग्रहण करते है। इससे भी आगे बढकर ये ज्ञानात्मक सवेदन के रूप मे मूल्य–भावना या मूल्य दृष्टि का निर्माण करते है। निर्माण की इस प्रक्रिया के मध्य वाह्य से प्राप्त ज्ञान–निधि अपने समुचे इतिहास–भूगोल के साथ उपस्थित होती है। अनुभव से मूल्य दृष्टि तक की यात्रा मे संस्कार रूप में यह ज्ञाननिधि बाधक या ब्राधक के रूप मे अपना सक्रिय योग देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक विशिष्ट अनुभव इस लम्बी यात्रा के बाद ही कला या काव्य की वस्तु बन जाता है। यहॉ तक पहुॅचकर वह विशिष्ट नहीं, वरन निर्विशिष्ट बन जाता है।

इसे मुक्तिबोध ने निर्वेयक्तिकता की स्थिति माना है। यही निर्वैयक्तिकता उनके द्वारा निरूपित कला का दूसरा क्षण अर्थात् फैण्टेसी का क्षण ले इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है– "जो फैण्टेसी अनुभव की व्यक्तित

पीडा से स्वतत्र होकर, अनुभव के भीतर को ही सवेदनाओ के द्वारा उत्सर्जित और प्रक्षेपित होगी, वह एक अर्थ मे वैयक्तिक होते हुए भी निर्वैयक्तिक होगी। उस फैण्टेसी मे अब भावनात्मक उद्देश्य की सगति आ जायेगी। इस भावात्मक उद्देश्य के द्वारा ही वस्तुत फैण्टेसी को रूप–रग मिलेगा"।–41

इस तथ्य की 'कामायनी' एक पुनर्विचार मे मुक्तिबोध ने विस्तार से स्पष्ट किया। है।–42 फैण्टेसी सोद्देश्य निर्वैयक्तिकता की एक स्थिति है। यह निर्वैयक्तिकता ही सौन्दर्यानुभूति या कलात्मक अनुभूति का क्षण है, जो फैण्टेसी का आरम्भिक स्तर है। अपनी सोद्देश्य या सवोदनात्मक अभिप्रायो के कारण फैण्टेसी जीवन–मर्म से सवृत्त होकर अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख होती है। वस्तुत फैण्टेसी मे सवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदनाए निहित होती है, जो सृजन का कारण बनती है, रचना प्रक्रिया को आगे बढाती है। इसे स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है. कला के दूसरे क्षण में उपस्थित फैण्टेसी की इकाई मे संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदना कुछ इस प्रकार समाये रहते है कि लेखक, उन्हे शब्द बद्ध करने के लिए तत्पर हो उठता है–43 यहाँ से कला का तीसरा क्षण अर्थात कला सृजन का वास्तविक क्षण आरम्भ होता है। कला के इस क्षण को मुक्तिबोध ने एक नये और दीर्घतर सघर्ष की शुरूआत माना है। इस क्षण के सघर्ष की सफलता–असफलता पर ही कलाकृति की सफलता–असुलता निर्भर करती है। उस पर प्रकाश डालते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है:– चूँकि फैण्टेसी के उद्देश्य और दिशा के निर्वाह के लिए कलाकार को भाव–सपादन करना पडता है जिससे कि केवल मर्म के अनुकूल और उसको पुष्ट करने वाले स्वर करने वाले स्वर भाव तथा चित्र ही कविता मे आ सकें और इस बीच यदि कोई अन्य अनुकूलता मार्मिक अनुभव तैर आये तो इसे भी फैण्टेसी के मर्म की उद्देश्य–दिशा में प्रतिपादित कर दिया जाय अर्थात् भाषा प्रवाहित कर दिया जायें।" 44–शब्दाभिक्ति के इस संघर्ष की महत्ता पर आगे यथा स्थान विचार किया जायेगा।

मुक्तिबोध ने रचना–प्रक्रिया विषयक अपने अन्य लेखो मे फैण्टेसी का उल्लेख नही किया। नयी कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध, शीर्षक ग्रन्थ मे उन्होने काव्य की रचना–प्रक्रिया पर विचार करते हुए 'डायरी' के प्रथम् द्वितीय और तृतीय क्षणो को भिन्न शब्दावली मे स्पष्ट किया है। इसमे उन्होने मूलभूत आश्यतर वास्तविकता के सवेदनात्मक साक्षात्कार को कवि जीवन की प्रथम स्तरीय उपलब्धि उस अन्त प्रकृति से साक्षात्कार है, जो अपना कुछ विशेष चाहती है जिसके पास कुछ विशेष कहने के लिए है। इस आत्मचेतना के प्रत्यक्ष सवेदनात्मक ज्ञान के बिना कोई कवि मौलिक नही हो सकता।–45

वस्तुत यही कलाकार का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण है। आश्यंतर वास्तव के सवेदनात्मक साक्षात्कार के बाद जो सबसे महत्वपूर्ण बात होती है, वह है आलोचन–धर्म का उदय और विकास। इसकी सक्रियता के कारण दो अन्य विशेष बाते होती है। एक तो यह कि आभ्यतर वास्तव अपने विशेष भाषों की अभिव्यक्ति के लिए कुछ विशेष अभिव्यक्ति–रूपो को स्वीकार और अन्य को अस्वीकार करता है। रूप व पैटर्न सम्बन्धी ये निषेध उचित या तर्क संगत न हुए तो आगे चलकर अभिव्यक्ति दुर्बोध और विकलाग हो जाती है। इसमे दूसरी महत्वपूर्ण बात होती है आभ्यंतर का सम्पादनं इस सम्बन्ध मे मुक्तिबोध ने लिखा है। "रचना प्रक्रिया से अभिभूत कवि जब भावो की प्रवाहमान सगति सस्थापित करता चलता है, तब उस सगति की सस्थापना में भाषों का संपादन यानी एडिटिग करना पडता है। यदि वह इस प्रकार भावो की कॉट–छॉट न करे तो मूल प्रकृति उसे सम्पूर्ण रूप से अपनी बाढ में बहा देगी। और उसकी कृति, विकृति मे परिणत हो जायेगी"46

इस प्रकार के व्यापक संशोधन– सम्पादन के बाद आरम्भिक कथ्य में एक ऐसा तत्व जुड जाता है, जो आरम्भ में कथ्य नहीं होता। इस नवीन तत्व के आगमन का कारण भाव–संपादन के साथ ही शैली सम्बन्धी आग्रह भी है। यह कला का द्वितीय स्तर है, जिसमें प्राग्म्भतः स्वीकृत कथ्य नवीन

तत्वो के योग से काफी परिवर्तित होकर नया रूप धारण कर लेता है। इस द्वितीय स्तर तक आकार कवि अपने मूल अभिप्राय की अभिव्यक्ति कर चुकता है और उसके लिए एक विशेष स्तर तक आकार कवि अपने मूल अभिप्राय की अभिव्यक्ति कर चुकता है और उसके लिए एक विशेष रचना–रूप भी स्वीकार कर लेता है अब उरू स्वीकृत वस्तु और रूप को मात्र शब्दाभिव्यक्ति देना शेष रह जाता है, जो कला का तृतीय स्तर होता है।

कला का तृतीय स्तर अर्थात् शब्दाभिव्यक्ति का क्षण कलाकार के सम्मुख अनेक कठिनाईयो उपस्थित करता है, जिनमे सबसे महत्वपूर्ण है कडीशण्ड साहित्यिक रिफलेक्स संपादन निर्धारण मे जब कवि अपनी पुरानी आदतो और अभ्यासो का शिकार बनता है तो उसमे कथ्य और शिल्प–दोनो ही दृष्टियो से जडता आ जाती है। उसका विकासपथ अवरूद्ध हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि वह अपने अन्त तत्वो के साथ ही अपनी अभियक्ति के सॉचो का भी निरन्तर विकास करता जाए। इस सम्बन्ध में मुक्तिबोध ने लिखा है:– "भाव तथा उसकी अभिव्यक्ति की जडीभूतवृत्ति यदि हिला–डुलाकर जबरदस्ती चलीली न बनायी जाए तो अजीब दृश्य सामने आते है उदाहरणत तत्व तो होता है कि तत्व अपना स्वय का रूप विकसित करता है, किन्तु उसे अपना रूप विकसित करने की स्वतन्त्रता दी जाये तब न वास्तविकता यह है कि स्वयं के द्वारा विकसित किये गये व्यवधान जो कण्डीशड साहित्यिक रिफलेक्सेज का ही एक अंश होते है, उस आधुनिक तत्व की आधुनिक अर्थ सत्ता को समाप्त कर देने की राह देखते रहते है।"–47 अत कला के तीसरे क्षण में भी कवि के लिए आत्मनिरीक्षण और आत्मसघर्ष आवश्यक है। इस निरीक्षण और सघर्ष के द्वारा वह जितना विकास कर सकेगा उसी अनुपात मे उसके कल कला भी विकास होगा। इस प्रकार रचना– प्रक्रिया मुक्तिबोध की दृष्टि मे अत्यन्त मानवी–प्रक्रिया है जिसे उन्होंने सास्कृतिक – प्रक्रिया की संज्ञा दी है। अपने रचना क्षणों मे विभिन्न आनुषंगिक सन्दर्भो से जुड़ते–काटते हुए कलाकार आत्म संसकार के

माध्यम से स्वय आत्म–निर्माण भी करता है। यह तथ्य केवल काव्य ही नही, किसी भी क्षेत्र मे रचना प्रक्रिया पर समान रूप से लागू होता है। लेकिन ऐसा तभी हो सकता है, जब रचना क्षण मे आत्मसघर्ष, आत्मसस्कार और आत्मनिरीक्षण के साथ एक उत्कट लक्ष्योन्मुखता हो।

मुक्तिबोध ने आत्मसघर्ष और आत्मसस्कार के अन्तर्गत लक्ष्योन्मुखता को सर्वाधिक महत्व दिया है। यह लक्ष्य जीवन–र्म–संवृत्त सवेदनात्मक, अभिप्राय के रूप मे कला के द्वितीय क्षण मे ही उपस्थित हो जाता है। आगे की सम्पूर्ण रचना–प्रक्रिया मे जब तक वह लक्ष्य मार्ग–निर्देशक नही बनता तब–तक आत्मसघर्ष, आत्मसस्कार आदि सार्थक नही बन पाते। इसको स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध में लिखा है" अपने लक्ष्यों के प्रति हार्दिक स्नेह के बिना जिज्ञासा, आत्मसस्कार, आत्मनिरीक्षण तथा आत्मसघर्ष सब व्यर्थ है लक्ष्यो के प्रति दुर्दान्त स्नेह की आस्तिकता के बिना वास्तविकता अस्मिता का विकास नही हो सकता। और उन्हीं के सन्दर्भ से हमेशा यह जाना जायेगा कि कवि किस तरह से बोल रहा है, ध्यान रखना चाहिए कि कवि किस सतह से बोल रहा है, यह हमेशा महत्वपूर्ण होता है और यही उसके निवेदनो और चित्रणो को द्योतित करता है।"–48

मुक्तिबोध ,द्वारा काव्य की रचना–प्रक्रिया का अत्यन्त विस्तृत और पौढतम विश्लेषण 'नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र' नामक पुस्तक मे हुआ है। इसमे 'डायरी' के द्वितीय क्षण अर्थात् फैन्टेसी के क्षण को ही कला का प्रथम क्षण मानते हुए सौन्दर्य की प्रतीति का कलात्मक अनुभव का क्षण स्वीकार किया गया है। उत्कट तीव्र जीवनानुभव पर आधारित होते हुए भी उसकी स्वतन्त्र सत्ता होती है। सौदर्यानुभूति का यह क्षण आगे सामान्य जन के लिए भी सुलभ होता है। कला का द्वितीय अर्थात् कलात्मक अभिव्यक्ति का क्षण केवल कलाकार को ही प्राप्त होता है। इसमे रचयिता को भी दोहरा सघर्ष करना पडता है। एक ओर उसे शब्द–संवेदना और भाव–संवेदना में परस्पर सामन्जस्य स्थापित करना पडता है तो दूसरी ओर अपनी विद्या

विभक्त–दर्शक और भोगता–मन–को परस्पर एक दूसरे से सयमित–सतुलित करना पडता है। दर्शक, मन से मुक्तिबोध का अभिप्राय तट्स्थता से और भोगता, मन से तात्पर्य तन्मयता या लिप्तता से है। शब्दाभिव्यक्ति मे प्रवृत होने का कार्य दर्शक, मन करता है लेकिन भोक्ता, मन को साथ लेकर रचना–प्रक्रिया मे इनकी सहायता के सम्बन्ध मे मुक्तिबोध ने लिखा है– "यदि दर्शक मनोरूपो की गतियो से इतना निर्लिप्त है कि वह शब्द–सवेदनाओ मे खो जाता है और मनोरूपो की गति जड हो जाती है, तो ऐसी निर्लिप्तता उसकी काम की नही होती और यदि वह इन मनोरूपो की गतियो मे पूर्णत विलीन हो जाता है तो शब्द–संवेदनाओ के लिए अवकाशहीनता के फलस्वरूप अभिव्यक्ति निर्बल अथवा दुरूह हो जाती है।"–49 प्रकारान्तर से इसे ही मुक्तिबोध ने दृष्टि की स्थिति मुक्त वैयक्तिकता और सवेदना की स्थितिबद्ध वैयक्तिकता कहा है। कलाकार के लिए इनके मध्य अनवरत् रूप से एकीभूत और द्विधारूप स्थिति को बनाए रखना चाहिए। मुक्तिबोध ने यहॉ स्पष्ट रूप से काव्य रचना के सम्बन्ध मे यह अपेक्षा व्यक्त की है कि कवि को किसी वस्तु घटना या उससे सम्बद्ध अनुभूति की अभिव्यक्ति के समय नितान्त तटस्थता या निस्सगता न बरत कर अपने भोक्ता, मन को भी समाविष्ट करना चाहिए। रचना मे तभी लक्ष्योन्मुखता या सोद्देश्यता की सार्थक योजना हो सकती है। अभिव्यक्ति कर्म या कवि–कर्म का यह प्रारम्भिक स्तर है, जहॉ द्विधा–विभक्ति मन का सघर्ष और इसके समन्वय का कार्य मुख्य होता है। इससे आगे बढने पर अभिव्यक्ति–कार्य मे एक और बडी बाधा उत्पन्न होती है। शब्दाभिव्यक्ति के समय या अपने मूल–मर्म को भाषा–प्रवाहित करने के समय कवि के लिए एक नये सघर्षो की शुरूआत होती है। भाषा एक सामाजिक सम्पदा है। उसके शब्द–संयोग एक भाव–परम्परा अर्थात् एक विशिष्ट अर्थ–परम्परा मे ग्रस्त होते है। अतः अपने मूल अभिप्राय को अविकल रूप में व्यक्त करने के लिए कवि को नये सिरे से शब्द– साधना करनी पड़ती है। इस साधना मे

नये शब्दानुषग बनते है, जिनसे कवि के लिए अपेक्षित अर्थानुषग विकसित होते है। अभिव्यक्ति–सघर्ष के दौरान यह आवश्यक नही है कि ग्रहीत वस्तु तत्व भाषा के नवनिर्मित शब्दानुषगो द्वारा विकसित अर्थानुषगो के विकास मे बाधक बनती है। इसलिए कवि विवश होकर या तो अभिव्यक्ति मार्ग से ही विमुख हो जाता है। या फिर अपने स्वीकृत अभिप्रायो को ही कॉट–छॉट करने लगता है।

वह भाषा और भाव का संघर्ष कवि का मानसिक द्वन्द्व बन जाता है, जिसमे एक तरफ भाषा के परम्परागत अर्थ–सपादन उसके जीवन तत्वो के स्पन्दन कटकर सकुचित ही हो, यह आवश्चक नही। सामाजिक निधि होने के कारण भाषा मूल–मर्म को विस्तृत और सम्पन्न भी कर सकती है और संकुचित तथा विपन्न भी। यहॉ, सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि कवि कितनी जागरूकता और ईमानदारी से इस सघर्ष को झेलता है। और कितनी सजगता से इस सघर्ष को अपने अनुकूल मोड पाता है।

वस्तुत शब्द–सवेदना और वस्तु–संवेदना के द्वन्द्व को संयमित करने का कार्य बुद्धि द्वारा होना चाहिए। बुद्धि, तर्क–सगत विवेक के रूप को सशोधन–सपादन करते हुए भी उसे सही परिप्रेक्ष्य मे रखती है। इसलिए काव्य–रचना मे उसकी निर्णायक भूमिका होनी चाहिए। क्योंकि रचना क्षणो में अचानक तैर आने वाले विभिन्न भावस्वर और अनुभव–स्वर मूल मनोधारा अर्थात" जीवन–मर्म" सवृत– संवेदनात्मक अभिप्राय के अनुकूल है या प्रतिकूल इसका निर्णय बुद्धि द्वारा ही हो सकता है। इस प्रकार इतने लम्बे अर्न्द्वन्द्व, अन्तर्वाह्य के संधर्ष, इसकी लम्बी सहयात्रा और फिर शब्दाभिव्यक्ति के बीहड मार्ग से गुजरने के बाद कोई कलाकृति अपने अस्तित्व मे आती है इस तथ्य को ध्यान मे रखकर मुक्तिबोध काव्य या कला मे आत्माभिव्यक्ति न मानकर मात्र अभिव्यक्ति मानते है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है– "यहॉ तक कि प्रारम्भतः जिस उद्वेगपूर्ण भाव को लेकर कवि लिख रहा था कृति उस मूल भाव से दूर चली जाती है उससे भिन्न हो जाती है। इसलिए यह

मेरा मत रहा है कि कला मे वस्तुत आत्माभिव्यक्ति नही हुआ करती। अभिव्यक्ति होती है, किन्तु जीने और भोगने वाले मन की, अपनी आत्मा की, वह सच्ची अभिव्यक्ति है, यह कहने का साहस नही हो पाता।"—50 इसमे अन्याय कारणो के साथ एक प्रमुख कारण शैली या रूप सम्बन्धी आग्रह भी है। सभी प्रकार के अनुभूत वस्तुतत्व एक ही प्रकार की अभिव्यक्ति शैली मे नही बॉधे जा सकते। फलस्वरूप बहुत सारे अनुभूत तत्व काव्य क्षेत्र से बाहर कर दिये जाते है। या फिर उन्हें अभिव्यक्ति देने के बाद अपनी सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओ की तृप्ति न होने की स्थिति मे उसे नष्ट कर दिया जाता है। अनुभव क्षण या यथार्थ भोग से आरम्भ होकर कृति की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता' से मुक्तिबोध का क्या तात्पर्य है— यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अपने इस रूप मे कृति कलाकार के लिए भी अद्वितीय हो जाती है। यही कलाकार की अद्वितीयता है। अपनी ही कृति को देखकर कलाकार को यह महसूस होता है कि प्रारमीत. उसे कुछ कहना था, वह पूरी तरह कह नही सका और ऐसा बहुत कुछ कहा गया है जो आरम्भ मे उसे मालुम ही नही था।

मुक्तिबोध रचना—प्रक्रिया को एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया भी मानते है। इस सम्बन्ध मे उन्होने लिखा है—

"कवि की मनोवैज्ञानिक स्थिति और स्तर, जो काव्य में प्रकट होता है, कैसा है? किस प्रकार का है? प्रगतिशील काव्य के सतहीपन मे या यो कहिए कि सतही प्रगतिशील काव्य पर विचार करते समय उसके मनोवैज्ञानिक स्तर और स्थिति को देखा गया। आज की रचना—प्रक्रिया पर विचार करते समय हमें नयी कविता पर प्रकाश डालकर इस बात पर सोचना होगा कि क्या किया जाए जिससे नयी कविता जीवन के सुविस्तृत क्षेत्र के विविध रंगो से दीपित होकर एक ओर वैविध्यपूर्ण जीवन क्षेत्र का प्रतिनिधित्व कर सकें तो दूसरी स्वात्मकता के खरे और भरे रंग उसमें मिल सकें।"—51 इससे स्पष्ट है कि रचना—प्रक्रिया के अध्ययन द्वारा कृति का केवल तटस्थ

मूल्याकन करना ही नही वरन् उसकी त्रुटियो और पाठकीय अपेक्षाओ की ओर सकेत करना भी है। मनोवैज्ञानिक स्थिति या स्तर का प्रश्न उठाकर मुक्तिबोध कलाकार के व्यक्तित्व और उसके अन्तर्जगत को भी आलोचना का विषय बनाते है एक साहित्यिक की डायरी – विशिष्ट और अद्वितीय शीर्षक के अन्तर्गत उन्होने इसी आधार पर अपने समसामयिक साहित्यकारो की जवीन–पद्धति पर भी आक्षेप किया है। नयी कविता की अन्तर्मुखता–आत्मबद्धता, असामजिकता, निजी विशिष्टता, अलगाव अनजबियत आदि के कारणो की मुक्तिबोध ने कवियो के व्यक्तिगत–जीवन, पारिवारिक – जीवन ओर उनकी समपूर्ण मनोवैज्ञानिक स्थिति मे देखा है। इस सम्बन्ध मे उन्होने लिखा है–" वे अपने असग सवेदनशील प्रतिभाशालित्व को अद्वितीयता कहते है और मै कहता हूँ कि समय पर विवाह न होने से उनके सुकोमल तन्तुओ का विस्तार नही हुआ है और वे सुकोमल तन्तु समाज के विभिन्न सस्थाओ से, समाज के विभिन्न रूपों से घनिष्ट रूप से जुड नही पाए है। इसलिए समाज का वासतविक प्रत्यक्ष संवेदनात्मक बोध, समाज के भीतर व्यक्ति मानवता जो उसकी विभिन्न सस्थाओ को भीतर से ही किसी न किसी मात्रा में व्यक्त होती है– का हार्दिक परिचय उन्हे नही है। उनके लिए समाज केवल आत्म–प्रक्षेप है, रेत का ढेर है, ढोरो की खटपट करती हुइ भीड है।"–52 मुक्तिबोध की यह स्पष्ट धारणा रही है कि ऐसे लोगो का समाज–बोध गोष्ठी सभा प्रकाशक पैसे देने वाले मालिक अपने जैसे कर्मचारियो, एक सीमित गुट के मध्य प्राप्त अनुभवो पर आधारित होता है। फलस्वरूप उन्हे पूरे समाज मे केवल व्यक्ति ही महत्वपूर्ण दिखाई देता है। व्यक्ति मानव ही उनके लिए आधुनिक मानव और उसका बोध ही आधुनिक भावबोध है। उन्हें पारिवारिक या सामाजिक व्यक्ति दिखाई ही नहीं देते या नगण्य और हास्यास्पद रूप मे दिखाई देते है। कहने का तात्पर्य यह कि कला में सम्पर्णू मानव की प्रतिष्ठा के लिए कलाकार को जीवन में पूर्ण व्यक्ति बनना पडता है। ऐसा होने पर ही कविता मे जीवन की व्यापक गूॅज

आ सकती है। और काव्य–सत्य वायवी और नितान्त व्यक्ति–सत्य न रहकर मानवी–सत्य बन जाता है। मुक्तिबोध जिस मानव–व्यक्तित्व और व्यक्ति–मानवता को अपनी रचना और आलोचना के माध्यम से साहित्य मे प्रतिष्ठित करना चाहते है। उसके लिए वे कलाकार की सामाजिक चेतना का सामाजिक चेतना के विकास के लिए वे पारिवारिक जीवन का केन्द्रबिन्दु परिवार है, अत सामाजिक चेतना के विकास के लिए वे पारिवारिक जीवन को आवश्यक मानते है। स्त्री–बच्चो के सुख–दुख उनकी शिक्षा–दीक्षा और उनके उदपूर्ति के संघर्ष के माध्यम से ही कलाकार समाज से व्यापक स्तर पर सही ढंग से जुडता है तब उसे कदम–कदम पर व्यक्ति और अनेकानेक सस्थानो के रूप मे वास्तविक समाज के दर्शन होते है। इसमे रहकर वास्तविक जीवन को जो कि सामाजिक के दर्शन होते है। इसमे रहकर वास्तविक जीवन को जो कि सामाजिक होता है–जी कर ही वह सुख–दुख, अच्छा–बुरा न्याय–अन्याय, यथार्थ–आदर्श का बोध प्राप्त करता है, मित्रता–शत्रुता की भावना का विकास करता है। अपनी पारिवारिक समस्याओ के माध्यम से ही वह सामाजिक समस्याओ मॅहगाई, शोषण भ्रष्टाचार, उत्पीडन आदि से परिचित हो पाता है। इस प्रकर वह अपने उत्कट–तीव्र–अनुभव–क्षण को सम्पन्न बनाते हुए कलाकृति के लिए यथोचित कच्चा माल एकत्र करता है।

Xद्वितीय अध्याय तृतीय

मुक्तिबोध का काव्य और परिवेश

सन्दर्भ ग्रन्थ·

(अ) सामाजिक परिवेश

1. साहित्य का परिवेश – अज्ञेय – पेज – 13
2. साहित्य का परिवेश–अज्ञेय–103
3. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन–एम0एन0 श्रीनिवास–18
4. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि–डॉ0 अक्षय कुमार देसाई–154
5. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि–डॉ0 अक्षय कुमार देसाई–122, 144
6. आधुनिक भारत मे सामाजिक परिवर्तन–एम0एन0 श्रीनिवास–63
7. आधुनिक भारत मे सामाजिक परिवर्तन–एम0एन0 श्रीनिवास–122,144
8. आधुनिक भारत मे सामाजिक परिवर्तन–एम0एन0 श्रीनिवास–90
9. भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियां–ए0आर0 देसाई–124
10. भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तिया–ए0आर0 देसाइ–128
11. भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तिया–ए0आर0 देसाई–120
12. मुक्तिबोध रचनावली – चार – 316
13 मुक्तिबोध रचनावली – चार – 48
14 मुक्तिबोध रचनावली – छ· 25, 26
15. मुक्तिबोध रचनावली – चार – 48
16. मुक्तिबोध रचनावली – चार – 347
17. मुक्तिबोध रचनावली – तीन – 246

18. मुक्तिबोध रचनावली – चार – 181

19. डूबता चॉद कब डूबेगा – मुक्तिबोध – 48

20. डूबता चॉद कब डूबेगा – मुक्तिबोध – 49

21 डूबता चॉद कब डूबेगा – मुक्तिबोध – 129

22. ओ काव्यात्मन् फणिधर – मुक्तिबोध – 129

23. नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र – मुक्तिबोध – 128

24. डूबता चॉद कब डूबेगा – मुक्तिबोध – 51

25. डूबता चॉद कब डूबेगा – मुक्तिबोध – 51

26. डूबता चॉद कब डूबेगा – मुक्तिबोध – 52

27. मुझे याद आते है। – मुक्तिबोध – 78

28. मुझे याद आते है। – मुक्तिबोध – 80

29. अधेरे मे–मुक्तिबोध – 284

30. अधेरे मे – मुक्तिबोध – 287

(आ) आर्थिक परिवेश

1. भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तिया–ए0आर0 देसाई–32

2. भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तिया–ए0आर0 देसाई–61

3. भारत, कर्जन से नेहरू और उसके पश्चात–दुर्गादास–334

4. आजकल का भारत–रमेश थापर–67

5. भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तिया–ए0आर0 देसाई–84

6. भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियां–ए0आर0 देसाइ – 86

7. भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियां–ए0आर देसाई–90

8. भारतीय राश्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियां–ए0आर0 देसाई–90

9. आजकल का भारत–रमेश थापर–99

10. भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तिया—ए0आर0 देसाई—102

11 भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तिया—ए0आर0 देसाई—138

12 मुक्तिबोध रचनावली – छ –56

13 मुक्तिबोध रचनावली—छ –67

14 मुक्तिबोध रचनावली—छ –139, 140

15. नये साहित्य का सौन्दर्य—शास्त्र—मुक्तिबोध—81

16. नये साहित्य का सौन्दर्य—शास्त्र—मुक्तिबोध—73

17. नयी कवता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध—मुक्तिबोध—21

18 मुक्तिबोध रचनावली—एक—243, 244

19. मुक्तिबोध रचनावली—पॉच—191

20. मुझे याद आते है।—मुक्तिबोध—74,75

21. मुझे याद आते है—मुक्तिबोध—76, 77

(इ) राजनैतिक परिवेश

1. मेरी कहानी—जवाहर लाल नेहरू—100

2. सरदार भगत सिह—दस्तावेज—वीरेन्द्र सन्धू—57, 58

3. मेरी कहानी—नेहरू जी—261

4. एक कार्यकर्ता की डायरी—सीताराम सैक्सरिया—465

5. भारत वर्तमान और भावी—रजनीपाम दत्त—251

6. भारत वर्तमान और भावी—रजनीपाम दत्त—266

7. भारत वर्तमान और भावी—रजनीपाम दत्त—266

8. एक कार्यकर्ता की डायरी—सैक्सरिया—756

9. भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियां—ए0आर देसाई—61

10. भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियॉ—ए0आर0 देसाई—108

11. आज का भारत–रजनीपाम दत्त–589

12. आजकल का भारत – रमेश थापर–199–200

13 भारतीय कम्यूनिस्ट के इतिहास की रूपरेखा–80

14 कर्जन से नेहरू और उसके पश्चात्–दुर्गादास–276

15. एक जीवनी–जय प्रकाश–182

16. आजकल की भारत–रमेश थापर–21

17. भारतीय चिन्तन परम्परा–के0 दामोदरन – 501

18. एक जीवनी–जय प्रकाश–256

19. भारत के राजनीतिक दल–प्रेमभसीन–87,88

20. भारत के राजनीतिक दल–रामचन्द्र गुप्त–125

21 भारत के राजनीतिक दल – नम्बूदरी पाद – 57

22. भारत के राजनीतिक दल – ओम नाथ पाल– 33

23. प्लानिंग एण्ड द पोयेट – बी0एस0 मिनहाज–117

24. आजकल का भारत–रमेश थापर–57

25. एक जीवनी–जय प्रकाश–257

26. साम्प्रदायिकता ऐतिहासिक सदर्भ, भूमिका से–प्रभा दीक्षित–11

27. साम्प्रदायिकता ऐतिहासिक संदर्भ, भूमिका से–प्रभा दीक्षित–18

28. मुक्तिबोध रचनावली–चार–27

29. मुक्तिबोध रचनावली – चार – 57

30. मुक्तिबोध रचनावली – छ. – 377

31. मुक्तिबोध रचनावली – तीन – 109

32. मुक्तिबोध रचनावली – चार – 173

33. नया खून–26 जनवरी, 1951–22

34. नया खून–नौजवान अक, 1952–5, 61
35. नया खून–नौजवान अक, 1952–5
36. नया खून–26 दिसम्बर, 1952–7
37 नया खून–मासिक दिसम्बर–6, 7
38 नया खून–मासिक दिसम्बर–1952–8
39. नया खून–मासिक दिसम्बर, 1953–13
40. सारथी 1 अगस्त, 1954–17
41. सारथी 21 नवम्बर, 1954–17
42. सारथी 21 नवम्बर, 1954–18
43. नया खून–16 दिसम्बर, 1955–2
44. नया खून–23 दिसम्बर, 1955–2
45. नया खून–7
46. नया खून–6 जनवरी, 1956–6
47. नया खून–13 जनवरी,1956–6
48. नया खून–3
49. ना खून–20 जनवरी, 1956–2
50. नया खून–3 ु रवरी, 1956–2
51. सारथी'20 मई, 1956–8
52. नया खून 17 जून, 1956–2
53. सारथी–1 जुलाई, 1956–7
54. सारथी–8 जुलाई, 1956–18
55. नया खून–12 जुलाई, 1957–4
56. नया खून–26 जनवरी, 1958–2

57. सबेरा–सकेत 25 अगस्त, 1957–5

(ई) सास्कृतिक परिवेश

1 आलोक पर्व–हजारीप्रसाद द्विवेदी–37

2. परम्परा बन्धन नही–विद्यानिवास मिश्र–38

3. परम्परा बन्धन नही–विद्यानिवास मिश्र–38

4. परम्परा बन्धन नही–विद्यानिवास मिश्र–39

5. भारत का सामाजिक–सास्कृतिक और आर्थिक विकास–भाग–1–पुरी,दास,चोपडा–261

6. भारत का सामाजिक–सास्कृतिक और आर्थिक विकास–भाग–1–पुरी, दास,चोपडा–28

7. भारत का सामाजिक–सासकृतिक और आर्थिक विकास–भाग–1–पुरी,दास,चोपडा–29

8. भारत का सामाजिक–सांस्कृतिक और आर्थिक विकास–भाग–1–पुरी, दास, चोपडा–30

9. अशोक के फूल–आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी–63

10. सस्कृतिक का दार्शनिक चितन–डॉ0 देवराज–30

11. भारत की सस्कृति साधना–डॉ रामजी उपाध्याय–भूमिका

12. भारत का सामाजिक–सास्कृतिक और आर्थिक विकास–भाग–1–पुरी, दास, चोपडा–30

13. मानव मूल्य और साहित्य–धर्मवीर भारत–20

14. मार्क्सवादी साहित्य चिंतन–डॉ0 शिवकुमार मिश्र–133

15. प्रगतिवाद और सामानान्तर साहित्य–रेखा अवस्थी–22

16. प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य–रेखा अवस्थी–22

17. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–44

18. मुक्तिबोध रचनावली—पॉच—44

19. मुक्तिबोध रचनावली—पॉच—297

20. मुक्तिबोध रचनावली—पॉच—33

21 मुक्तिबोध रचनावली—पॉच—294, 295

22. मुक्तिबोध रचनावली—पॉच 166

23 मुक्तिबोध रचनावली—पॉच—315

24. मुक्तिबोध रचनावली—पॉच—284

25 मुक्तिबोध रचनावली—पॉच—281

26. मुक्तिबोध रचनावली—पॉच—191

27. मुक्तिबोध रचनावली—पाूच—195

28. चॉद का मुॅह टेढा है—मुक्तिबोध—164

29. चॉद का मुॅह टेढा है—मुक्तिबोध—198

30. चॉद का मुॅह टेढा है—मुक्तिबोध—159

31. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध—मुक्तिबोध—19

32. मुझे याद आते है—मुक्तिबोध—77

33. मुझे याद आते है—मुक्तिबोध—80

34. मुझे याद आते है—मुक्तिबोध—81

35. चॉद का मुॅह टेढा है—मुक्तिबोध—62

36. मुक्तिबोध रचनावली—पॉच—315

37. मुक्तिबोध रचनावली—पाूच—315

38. एक साहित्यिक की डायरी—मुक्तिबोध—49

39. चॉद का मुॅह टेढा है—मुक्तिबोध—277

40. मुक्तिबोध रचनावली – दो– 324

41 चाूद का मुॅह टेढा है– मुक्तिबोध–64, 65, 66

42 चॉद का मुॅह टेढा है।–मुक्तिबोध–80,81

43. चॉद का मुॅह टेढा है–मुक्तिबोध–76

44. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–197

(उ) साहित्यिक परिवेश

1. मुक्तिबोध का साहित्यिक विवेक और उनकी कविता–डॉ0 लल्लन राय–10

2. मुक्तिबोध का साहित्यिक विवेक और उनकी कविता–डॉ0 लल्लन राय–11

3. मुक्तिबोध की काव्य–प्रक्रिया–अधोक चक्रध–15

4. मुक्तिबोध की काव्य–प्रक्रिया–अशोक चक्रधर–14

5. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–26

6. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–50

7. मुक्तिबोध रचनावली–चार–224, 226

8. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–56

9. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–354, 355

10. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–45

11. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–49

12. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–49

13. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–268

14. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–426

15. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–426

16. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–25, 26

17. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–57

18. मुक्तिबोध रचनावली–पाूच–58

19 तारसप्तक द्वितीय सस्करण–37

20 मुक्तिबोध का साहित्यिक विवेक और उनकी कविता–डॉ0 लल्लन राय–12

21 नये साहित्य का सौन्दर्य–शास्त्र–मुक्तिबोध–83

22. मुक्तिबोध का साहित्यिक विवेक और उनकी कविता–डॉ0 लल्लन राय–73

23. मुक्तिबोध का साहित्यिक विवेक और उनकी कविता–डॉ0 लल्लन राय–70

24. मुक्तिबोध का साहित्यिक विवेक और उनकी कविता–डॉ0 लल्लन राय–79

25. नयी कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध–मुक्तिबोध–140

26. मुक्तिबोध का साहित्यिक विवेक और उकनी कविता–डॉ0 लल्लन राय–166, 167

27. नयी कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध–मुक्तिबोध–179, 180

28. मुक्तिबोध का साहित्यिक विवेक और उनकी कविता–डॉ0 लल्लन राय–170

29. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–131

30 मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–369, 370

31. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–153

32. मुक्तिबोध रचनावली–चार–121

33. मुक्तिबोध रचनावली–चार–123

34. मुक्तिबोध रचनावली–चार–139

35. नये साहित्य का सौन्दर्य–शास्त्र–मुक्तिबोध–71

36. नये साहित्य का सौन्दर्य–श्यास्त्र–मुक्तिबोध–90

37 नये साहित्य का सौन्दर्य–शास्त्र–मुक्तिबोध–92

38. नयी कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध–मुक्तिबोध–77, 78

39. एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–17

40 एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–20

41. एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–18

42 कामायनी एक पुनर्विचार–मुक्तिबोध–13, 14

43. एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–18

44. एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–22

45. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध मुक्तिबोध–23

46. नयी कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध–मुक्तिबोध–23

47. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध–मुक्तिबोध–25

48. नयी कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध–मुक्तिबोध–29

49. नये साहित्य का सौन्दर्य–शास्त्र–मुक्तिबोध–95

50. नये साहित्य का सौन्दर्य–शास्त्र–मुक्तिबोध–49

51. नये साहित्य का सौन्दर्य–शास्त्र–मुक्तिबोध–70

52. एक साहित्यिक की डायरी – मुक्तिबोध–10

चतुर्थ अध्याय
हिन्दी साहित्य के इतिहास का मुक्तिबोध की सामाजिक चेतना व कला चेतना पर प्रभाव

छायावाद (1936 ई0) के पतन के पश्चात हिन्दी मे प्रगतिवाद का आन्दोलन हुआ। फिर प्रपद्यवाद और प्रयोगवाद का समातर आदोलन एव प्रवर्तन हुआ। 'नई कविता' और 'नवगीत' का भी प्रवर्तन हुआ। लिगवापदमोतवाद, अन्यथावाद, ताजी कविता, सूर्योदय कविता शब्दवादी कविता, शुद्ध कविता इत्यादि काव्यादोनलनो का सघटन–सूत्रपात हिन्दी कविता की वर्तमान धाराा को अभिव्यक्त करने वाले वाद, प्रवृत्ति एव आन्दोलन है।

(अ) प्रगतिवाद :

मुक्तिबोध का विचार है कि प्रगतिवाद साहित्य–कला की अत्याधुनिक धारण है। वैज्ञानिक मनोभावो के अकन मात्र से कला महान नही होती जब तक कि उसमें सामाजिक तत्व का अभाव हो लेकिन मानव चरित्र के चित्रण का नाम ही कला है क्योकि व्यक्ति धारा जाब मानवता– सिन्धु मे डूब जाती है तब उसके संगम–स्थल पर जो कलरव होता है, वही कला बन जाती है और मानवता–सिधु इस मूल्य विश्व का काव्यात्मक नाम है। यह मूल्य विश्व मानवविकास का आकाश है जहॉ इस विकासशीलता को पानी तथा किरणे मिलती है।" चूॅकि कलाकार का व्यक्तित्व उसके सामाजिक अर्थ मे सामाजिक तत्वो से बना होता है तथा व्यक्ति समाज का अनुभव–केन्द्र भी है। अत इस महान वाह्य से वह स्वय महान होना चाहता है यह निजी तत्व प्रकृति का वैविध्य है जिसका केन्द्र और एकत्व स्वय प्रकृति है। प्राकृतिक क्रियमाणता के

एकत्व की अभिव्यक्ति इसी वैविध्य–सृजन और रखण के मार्ग द्वारा होती है। यदि व्यक्ति प्रकृति का स्फुर्लिंग है तो समाज प्रकृति की ज्वाला है।[1]

मुक्तिबोध मानते है कि प्रकृति के इस खेल मे ही सघर्ष है। प्रकृति स्वय वस्तु बनकर आत्मा को धक्का देती है। आत्मा धक्के खाकर अपने रूप का परिवर्तित करता है। व्यक्ति, समाज और समाजोत्तर प्रकृति–तीन हिस्से है। व्यक्ति के लिए समाज एक परिस्थिति है, दूसरी समाज–वाह्य प्रकृति। समाज के लिए केवल समाज–वाह्य प्रकृति एक मात्र परिस्थिति है और प्रकृति इन तीनो को अन्तर्भूत करती है। उसकी क्रियमाणता इन तीनो के परस्पर द्वन्द्वो के द्वारा चला करती है। व्यक्ति और समाज के मूल और अन्त मे समन्वयात्मक एकता का रूप है और यह साहित्य मनोविज्ञान का द्वन्द्ववाद है।[2]

वस्तुत साहित्य वह समन्वय है जिसकी रूप–रचना का आकार व्यक्तिगत शक्ति से बना होकर भी उसके तत्व सामाजिक है और जिसके तत्व समाज प्राप्त होकर भी वैयक्तिक शक्ति से शरीर प्राप्त है। साहित्य आत्मा की सस्कृति है और आत्म–सस्कृति समाज की अन्तश्चेतना है। आत्मा–सस्कृति के माध्यम से ही समाज की अन्तश्चेतन चेतना विकसित होकर अभिव्यक्त होती है। परिणामत साहित्य मे विशाल समन्वय होने के बाद भी उसकी व्यक्तिरूपता रक्षित होती है यहॉ प्रश्न यह उठता है कि क्या समाज के विकास के साथ कला का भी विकास हो जाता है ? मुक्तिबोध कहते है उत्तर स्पष्ट है" समाज के विकास के साथ मनुष्य की मनोवैज्ञानिक समृद्धि आन्तरिक तथा वाह्य समृद्धि बढती चलती है अतः साहित्य में प्रतिष्ठित मानव स्वरूप के तत्वो की दृष्टि से पश्चात् कालीन विकास युग का साहित्य पूर्वकालीन विकास युग के साहित्य से श्रेष्ठतर होना अनिवार्य है।[3] रहा कलात्मक श्रेष्ठता का प्रश्न। इसका उत्तर यह है कि श्रेष्ठता यह उत्कृष्टता बहुत कुछ परम्परा पर निर्भर है अर्थात जिस युग मे साहित्य एक नवीन आ–पूर्व–निश्चित दिशा की ओर मुडता है वहॉ किसी पूर्वकालीन परम्परा का आसरा न होने के कारण उसे

प्रयोगावस्था मे से गुजरना पडता है। नि सन्देह प्रयोगावस्था के इस साहित्य मे कलात्मक दृष्टि से कई अक्षम्य त्रुटियॉ भी होगी किन्तु परपरा के विकसित हो जाने पर उसी मे श्रेष्ठ कला के भी दर्शन होगे।

चूँकि साहित्य एक कला है, जिसमे समाज का नेतृत्व करने वाला प्रधान वर्ग (जो कि सस्कृति का भी नेतृत्व करता है अथवा विशेष सामाजिक–ऐतिहासिक विकास पर आधारित घटना–चक्रो के कारण, समाज का अध्वर्यु न होते हुए भी प्रमुख रूप से प्रभावकारी हो जाता है जैसा कि सामन्ती समाज रचना के भीर तर सनातनी ब्राह्मण धर्म के पूरे जोर के बावजूद, मध्य युग के भक्ति आन्दोलन मे निम्न वर्ग के कबीर रैदास, नामदेव आदि ईश्वर के सम्मुख मानव–साम्य के समर्थक क्रान्तिकारी कवियो का प्रादुर्भाव बतलाता है) – तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक स्थिति के द्वारा सामान्य रूप से नियत्रित मनोवृत्तियो के अनुसार अपने साहित्य – सृजन के विषयो का निर्वाचन करता है। साहित्य के विशेष विषयो को निश्चित करने वाली ये मनोवृत्तियॉ तत्कालीन स्थिति सापेक्ष्य है।

मुक्तिबोध मानते है कि यह सच है कि "अगति के सूचक तत्कालीन नियम विधान–आचार जो आज मे ग्राह्रय नही है, मर चुके है जो अशाश्वत है फिर भी उनका कुछ प्रभाव रूढिवादियो पर अभी भी मौजूद है।" लेकिन जो शाश्वत है प्रगति के सूचक है और हमारी सस्कृति की एक पूरानी मजिल के रूप मे आज भी उपस्थित है वह है – मानवता। यह जीवन–मूल्य मानव–सम्बन्ध तथा विश्व–दृष्टि उस वर्ग की विशिष्ट दृष्टि होती है जो साहित्यिक, सास्कृतिक क्षेत्र में अपने को अभिव्यक्त करती है। जिसे हम मानवता के सब उच्च सस्कृति की ओर किये गये प्रयत्नो का मुख्य दोष सामाजिक तत्वो की अपेक्षाकृत उपेक्षा रही है जिसके कारण विश्व–प्रगति उतनी नही हो सकी जितनी कि होनी चाहिए, कला उतनी बढ नही हो सकी जितनी कि बढ़ना चाहिए थी विचार उतने ऊँचे और व्यापक नही हो सके

जितने कि होने चाहिए थे। जीवन के कानून को आप तोड नही सकते यहाँ जीवन का अर्थ उसके व्यक्तिगत और सामाजिक या राजनैतिक अर्थ से ऊपर उस असीम सृजनशील सत्ता से लिया है जो भिन्न रूपो मे प्रकट ह। और एक रूप को छोड दूसरे का ग्रहण करना उसका स्वभाव है क्योकि वह गतिमय है ''डायनेमिक'' अवएव राजनैतिक, सामाजिक और व्यक्तिगत आदि उसी की सृजन धाराऐ है। हरेक युग की विशेष अवस्था होती है और उस विशेष अवस्था से उत्पन्न हुए विशेष गुण होते है जितना साहित्य मे हाना अपरिहार्य से बनते रहते है। लेकिन जगत और जीवन मे इतना अन्तर । मनुष्य की अपनी आन्तरिक मौलिक प्यास क्या यो ही अन्धेरे मे हर जाय सिसकती सी ? क्या यह जगत केवल सडको पर घूमन वाले खरीदनके लिए आतुर जनसमुदाय या सरकारी दफ्तरो मे बैठने वाले कृत्रिम महान मनुष्यो तक ही सीमित है ? इनसे बाहर, इनसे परे क्या जगत का फैलाव नही है ? फिर क्यो है जगत और जीवन का विरोध ? हिन्दी का गद्याकाल रोमैण्टिक था । कल्पना और भावना के जरिये अलौकिक को ग्रहण किया गया है। वास्तविक जीवन के वाह्य द्वन्द और अन्तर्द्वन्द्व को नष्ट कर, एक हारमनी उत्पन्न करना, स्वर–सगम का सृजन करना गतकाल की कला के क्षेत्र के बाहर की बात थी। म्लान सन्ध्या का रूप देखकर कवि के हृदय मे करूण अनुभूति उत्पन्न होती थी, परन्तु वाह्वय जगत मे होते आ रहे भयकर अत्याचारो और अमानुषिक व्यवहारो मे उनके दिल मे किसी कविता की आत्मा ने प्रवेश नही किया था।

परन्तु आज यह बात नही है अनुभूति क्षमता मानव जीवन की विशेषता है। हृदय के निविडतम तक कोनों मे से जीवन का बलवान प्रवाह इन्ही भावानुभूतियो के रूप में द्विगुणित होता है तीव्र हो पडता है। व्यक्तित्व का विकास भले ही अन्तर्वाहन सघर्ष से हो परन्तु फिर से कृतृत्व अनुभूतिया जीवन की स्वाभाविक रीति से बहने की न्यास–जीती ही रहती है, जागती रहती है। मुक्तिबोध के अनुसार ''मार्क्सवादी दर्शन एक यथार्थ दर्शन है, यथार्थ–विकास

का, मानव सज्ञा के विकास का दर्शन है। अतएव इसके लिए सर्वाधिक मूलभूत और महत्वपूर्ण है, जीवन तथ्यो की वास्तविकता जो राजनीति, समाजनीति कला आदि को उपस्थित करती है।

यह बात सच है कि जीवन तथ्यो की वास्तविकता अर्थात यथार्थ को दृष्टि से ओझल करके सिद्धान्तो को जब भी लागू किया जाता है, तब भूल होना स्वाभाविक होता है। महत्व की बात यह है कि जब मानव–यथार्थ को ठीक ढग से नही समझा जा रहा है तो उसके सामान्यीकरणो को उन सामान्यीकरणो के चित्र–रूपो को उनके प्रतीको को उनके विम्बो को कैसे समझा जायेगा ? साथ ही यह भी विचारणीय है कि 'यथार्थ की गति को अनुकूल दिशा मे मोडने के लिए, यथार्थ के व्यक्त रूपो का समग्र व्यक्त रूपो का – उसकी गति और स्थिति मे अध्ययन करना आवश्यक है, उनके बहिन्तर सम्बन्धो और परस्पर किया–प्रतिक्रियाओ का आकलन आवश्यक है यह मूल प्रधान अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रथम कार्य है क्योकि इसी के आधार पर आगे के कार्य किये जा सकते है। इसी आधारभूत, प्राथमिकता के महत्व को कभी भी कम करके नही देखा जा सकता नही देखा जाना चाहिए, अगर यह आधार खिसक गया तो सारा भवन ढह जायेगा।

मार्क्सवाद यदि एक विज्ञान है तो वैसी स्थिति मे उसके लिए तथ्यानुशीलन–जीवनगत और काव्यगत – दोनो एक साथ–प्राथमिक और प्रधान महत्व रखता है और यह तभी सभव हो सकता है तब मनुष्य स्वय मानव–जीवन से उसके विभिन्न रूपो और प्रवृत्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखे। किसी का प्रवृत्ति के आधारभूत मानव जीवन से जबतक समीक्षक एक–साथ आत्म–निरपेक्ष आत्म–सम्बन्ध स्थापित नही करता तब–तक समग्र तथ्यो को उन तथ्यो के अपने निजी विशेष स्वरूप मे, अपने मन के सामने उनके समग्र रूप मे, उनके अपने अन्त सम्बन्धयुक्त सर्वांगीण रूप, मे उपस्थित ही नही कर सकता। इसलिए ऐसा न कर पाने के अपराध के परिणाम स्वरूप, प्रगतिवादी

समीक्षको के लेखक–वर्ग की आदर–भावना जाती रही, उनकी श्रद्धा का क्षय हुआ और जब इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होकर विकसित और विस्तृत होने लगी, तब विपक्षी तत्वो द्वारा शीतयुद्ध के उद्देश्यो से परिचालित आक्रमण शुरू हुए अतएव प्रगतिवादी समीक्षको की इस असफलता का दोष मुख्यत– हॉ मुख्यत एक मात्र रूप से प्रतिक्रिया (जिसे वे साधारण शब्दावली मे राजनैतिक ढग से प्रतिक्रिया कहते है) के सिर पर मढना बिल्कुल गलत अनुचित और भ्रामक है। इस प्रभावक्षय के कारणो के मूल बीज प्रगतिवादियो की समीक्षा की अपूर्णताओ मे पहले ही से विद्यमान थे और अब तक मे ऐसा कोई प्रमाण नही मिला है जिससे यह सिद्ध हो सके वे अक्षमताये अब नही है। ध्यातव्य है कि अपने साहित्य चिन्तन मे प्रगतिवादियो ने तटस्थ और वैज्ञानिक दृष्टि से इस बात पर प्रकाश डालने की कोशिश नही कि आखिर वे कौन से तत्व है वे कौन सी भूल–शक्तिया जिन्होने काव्य–रूप बदला। मुक्तिबोध कहते है – यह क्योकर हुआ कि छायावादी और प्रगतिवादी काव्य–प्रणाली बदल गयी ? क्या इसका कारण केवल यह था कि स्वाधीनता के उपरान्त–मध्यमवर्ग–अवसरवादी होकर विशुद्ध प्रतिक्रियावादी हो गया ? और क्या इस प्रकार से इस स्थिति से काव्यरूप बदल सकता है ? क्या इस तरह कह डालने से यह प्रमाणित हो जायेगा कि प्रगतिशील प्रवृत्ति नष्ट हो गयी ? क्या इस तरह कह डालने से यह प्रमाणित हो जायेगा कि प्रगतिशील प्रवृत्ति नष्ट हो गयी ? क्या पहली बार भारत मे काव्य–परंपरा और काव्य–रूप बदला है ? और क्या यह जब–जब बदला है, समाज की अन्ध–न्यस्त स्वार्थवादियो शक्तियो के बदले हुए प्रभाव के कारण बदला है ? मुक्तिबोध के इन प्रश्नो पर विचार करना होगा कि काव्य रूप मे परिवर्तन की मूल कारक शक्ति क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? और क्या केवल काव्य–रूप बदल जाने से कोई काम प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी हो उठता है ? वस्तुतः प्रगतिवादियो ने कलाकार के दायित्व के प्रश्न को सामने उपस्थित करके लेखकों के अन्तःकरण को नये

प्रगतिवादी सस्कार देना चाहते थे किन्तु उन्होने यह काम इतने भद्दे ढग से किया कि उसका बहुत कुछ प्रतिकूल परिणाम हुआ। यह यच है कि जब तक जीवन–जगत से लेखक के सम्बन्धो के और उनके विभिन्न स्वरूपो का तथा एतद्सम्बन्धी अन्य समस्याओ को कोई समीक्षक स्वय आत्मगत नही करता तब तक वह न तो लेखक की सहायता कर सकता है और न ही कोई दिशादान कर सकता है। हमारा प्रगतिवादी समीक्षक स्वय जिन्दगी से कटा हुआ होने के कारण, वह इन प्रश्नो पर सुविचारित मन्तव्य प्रस्तुत नही कर सका, उसके पास इतनी सवेदन–क्षमता और सहानुभूति–सामर्थ्य ही नही था कि वह ऐसे प्रश्नो पर विचार कर सके, न उसमें इतनी नम्रता थी कि ठोकर खाकर उसी ठोकर से सीखने की कोशिश करे कि वह स्वयं आत्मलोचन करे और सब तरफ से जीवन–तथ्यो और ज्ञान–तथ्यो को समेटे हुए स्वय को अधिकाधिक परिष्कृत और समृद्ध बनाता जाये। ऐसी स्थिति मे अगर 'प्रतिक्रिया' की शक्ति हिन्दी मे बहुत बढ गयी है तो क्या इसका एक कारण यह नही कि ये समीक्षक नवीन–जीवन प्रक्रियाओ मे नही समझ सके और प्रयोगवादी कविता या नयी कविता के पूरे क्षेपको को बदनाम करके उसे प्रतिक्रिया' के हाथो मे खेलने के लिए छोड दिया, अपने ही हाथो, जान–बूझकर उसके हवाले से बच रहता है।

परन्तु यह गतिमान सामंजस्य जितना ही घनिष्ट होगा उतनी ही उसकी व्यक्तिमत्ता की छाप बलवान और व्यापक होगी। समाज के प्रचलित या सन्निहित तत्वो को अपनी आत्मज्वाला की आग मे स्वर्णिम कर विश्व के सम्मुख रखेगा। इस प्रकार वह आत्म बल के द्वारा उस समाज–वर्ग की विकास रेखा को आगे खीचता चला जायेगा और इसी मे वह आत्मपूर्ति के साथ ही साथ वर्गहित जिसमे कि वह पूरे समाज का हित समझता है, करता हुआ उस वर्ग–हित के माध्यम से अपने को ऊँचा करता और भागता हुआ समाज पर फिर प्रत्याघात करता चला जायेगा।

साथ ही साथ मुक्तिबोध कहते है कि "आज व्यक्ति के पास जिम्मेदारियॉ क्या है ? यह तब तक समझा मे नही आ सकता जब तक हम अपने युग की और उसके वर्तमान रूप की निर्मित और प्रवृत को शक्तियॉ थी, उसकी गति–प्रगति के विषय में ठीक तौर से जान नही लेते। इसके सुनिर्णीत ज्ञाग के बिना व्यक्ति अपनी भी ठीक स्थिति और स्थिति की कारण–शक्तियॉ नही जान पाता अपने जीवन को नही पहचान नही पाता और उसके आस–पास चलने वाले घटनाक्रम के पीछे कोई अर्थपूर्ण झकार नही सुन पाता।

लेकिन सदा यह हुआ है कि एक समाज का उच्चतर स्तर के समाज के द्वारा ग्रहण किए जाने पर, क्रान्तिकाल की अराजकता के उपरान्त जो उत्कर्ष की लम्बी अवधि आती है उसके आरंभिक काल मे ऐतिहासिक कथा–साहित्य उत्पन्न हुआ करता है। प्रत्येक सामाजिक क्रान्ति के उपरान्त स्थापित नवीन उच्चतर समाज के प्रारभिक उत्कर्ष काल मे इसी प्रकार के साहित्य प्रयास देखने को मिलते है। सम्भवत. प्रत्येक राष्ट्रीय जाति अपनी लम्बी जीवन परपरा का इस प्रकार स्मरण कर लिखा करती है और स्वय के द्वारा निर्मित नवीन समाज के पूर्वगत समाजो से इस प्रकार सम्बद्ध कर लिया करती है। इस ऐतिहासिक कथा साहित्य के पीछे पलायनवादी प्रवृत्तिया भी काम कर सकती है .... परन्तु प्रसग का आर्यबौद्ध – कालीन वातावरण–निर्माण पलायनशील प्रवृत्तियो से उत्पन्न नही है – यह निर्विवाद है। मुक्तिबोध के अनुसार प्रगतिवाद युग की आवश्यकताओ को लेकर चलता है। क्योकि उसी ओर ध्यान देना सबसे अधिक जरूरी है। आज समाज पर इतना अन्याय का बोझ रहते हुए, दारिद्रय का भार रहते हुए उसकी उपेक्षाकर कला अपना मार्ग बहुत दूर तक तय नही कर सकती। उसको बीच मे एक जाना होगा – वह ओछी और बौनी हो जायेगी, वह कमजोर और विक्षेपनयुक्त सत्वहीन और घोर आत्मकेन्द्री होकर आत्महत्या कर लेगी। ध्यान देने योग्य बात यह है कि समाज की अनेक विकास–स्थितियों मे कलाकार उस वर्ग का

प्रतिनिधित्व करता रहा है जो समाज का सचालन–केन्द्र है। सचालनकेन्द्र के यानी वह शक्ति जा तत्कालीन आर्थिकभित्ति को एक ओर तलवार और धन–बल के द्वारा तो दूसरी और धर्म और विचार भवनाओ के चतुर परिचालन के द्वारा समाज के तत्कालीन सगठन को चिरन्तन बनाए रखने के लिए मजबूत रखती है। यह सब किस प्रकार होता है इसका निर्देशन समाज–रूप से समझ लेने की है कलाकार अपनी विकास–तृष्णाओ को जो उस वर्ग का उसी वर्ग मे मूर्त कर सकता है जिस वर्ग की गतिमानता के तर्क से वह अपने व्यक्तिमत्ता के तर्क को मिला देता है। बिना यह किए, उस वर्ग से जिसमे उसकी तृष्णाओ की पूर्ति की सभावना है उसका सामजस्य नही हो सकता।

मुक्तिबोध के अनुसार जब मार्क्सवादी यह कहते है कि साहित्य का विकास समाज के विकास पर अवलम्बित है तो उसका आशय यह नही कि सामाजिक–राजनैतिक घटनाक्रम से पजानुबद्ध होकर साहित्य अपना मार्ग बनाता चलता है। उसका अभिप्राय यह है कि जिन सामाजिक ऐतिहासिक शक्तियो की अभिव्यक्ति–मात्र वे घटनावलिया है, वे ताकते ही साहित्य के रूप और स्वरूप, तत्व और विचार को जन्म देती है तथा विकसित करती रहती है। समाज के विकास, ह्रास तथा परिवर्तन के साथ ही, साहित्य मे उस विकास, ह्रास अथवा परिवर्तन का स्वरूप ही नही दिखायी देता वरन् साहित्य स्वय उस विकास ह्रास अथवा परिवर्तन का अग हो जाता है।

यह स्पष्ट है कि ह्रासकालीन पूँजीवादी समाज के अन्दर एक ओर ह्रासगत अत्याचारी शोषक वर्ग होता है, तो दूसरी ओर क्रान्तिकारी शोषितवर्ग भी सिर उठाता है। लेकिन जो लेखक इन दोनों तत्वो को देखता है और उस क्रान्तिकारी शोषित वर्ग की हिमायत करता है, उसका साहित्य ह्रासकालीन पूँजीवादी–सामन्तवादी समाज के अन्दर जन्म लेकर भी स्वय ह्रासगत नही हो पाता.

किन्तु उसी समाज मे यह भी होता है कि लेखक ह्रासकाल शोषक वर्ग की परिधि मे ही रहकर कला का सृजन करता है। तब हमारी कला स्वय ह्रासग्रस्त हो जाती है। साहित्यिक ह्रास के सभी चिन्ह उसके मौजूद होते है। हमारा रीतिकालीन साहित्य भी इसी प्रकार का है। मानव का रूप और तत्सम्बनधी भावना जो हमे रीतिकाल मे दिखायी देती है वह उत्थानशील समाज की व्याख्या कदापि नही हो सकती।

प्रत्यके युग अपनी सामाजिक–ऐतिहासिक स्थिति की अनुभूत आवश्यकता के अनुसार अपना साहित्य निर्माण किया करता है। प्रश्न यह है कि आखिर युग का अर्थ क्या ? निश्चय ही यहॉ उस क्षेत्र मे पहुॅच जाते है जिसे हम समाज–शास्त्रीय ऐतिहासिक विकास की स्थिति–परिस्थिति कह सकते है। अतएव युग–स्थिति का सच्चा अर्थ है उस विशेष श्रेणी की स्थिति जो सास्कृतिक–साहित्यिक क्षेत्र को नेतृत्व कर रही हो और इस नेतृत्व करने वाली श्रेणी पर राजनैतिक शासन होता है। तत्कालीन सर्वोच्च शासक वर्ग को जो कि सास्कृतिक–साहित्यिक नेतृत्व प्रदान करने वाली श्रेणी से मिला–जुला तथा सम्बद्ध होता है। इस वर्ग स्थिति के अनुसार किसी विशेष साहित्य–युग के अपने विशेष विषयो का चुनाव होता है। हिन्दी साहित्य–इतिहास के आदिकाल से लेकर आज तक हम विशेष युग के विशेष विषयो की प्रदर्शनी देख सकते है। युग–विशेष के विशेष विषय, तत्कालीन समाज के विकासावस्था के भीतर विभिन्न वर्गो की विभिन्न स्थितियों तथा उनके विविध सामाजिक मानव–सम्बन्धो से निर्धारित होते है। ये विविध विषय अपने का अभिव्यक्ति करने के लिए उस वर्ग के हृदय मे अकुलाते रहते है, जो उस काल मे साहित्यिक–सास्कृतिक क्षेत्र के भीतर निर्णायक रूप से प्रभावशाली हो उठते है।

साहित्य के विशेष विषयों को निश्चित करने वाली मनोवृत्तिया तत्कालीन स्थिति सापेक्ष्य है जैसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद, पूॅजीवादी समाज की

रचना ह्रासकाल का ही द्योतक था। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त वे मानवादर्श जो पूँजीवाद व्यक्तिवाद ने साहित्य तथा समाज मे खडे किए थे खोखले प्रतीत हुए। इस युद्ध ने यूरोपीय पूँजीवादी सभ्यता के आत्म विरोधो को खुलकर खेलने का मौका दिया। युद्ध परस्पर–सघर्ष और भयानक लोभ की वास्तविकता ने सास्कृतिक सकट उपस्थित किया क्योकि युद्ध के पूर्व सिपाही को यह बतलाया गया था कि वह अपने देश के लिए लड रहा है किन्तु बाद मे उसका यह पता चला कि वह धोखे मे था। इतने बडे पैमाने पर मनुष्य हत्या के व्यापक विद्रूप के यथार्थ चित्र ने पूँजीवाद के व्यक्तिवादी मूल्यो का पर्दाफाश किया। प्रगतिवाद भी इन्ही भ्रम मे पलते हुए को समार्ग पर लाने का प्रयास करता है लेकिन तत्कालीन पोषित वर्ग विवश था। एक ओर पूँजीवाद के भयानक विद्रूप का स्वरूप उसके सामने खुल चुका था किन्तु दूसरी ओर अपनी नौकरियो और आमदनियो के लिए वह न केवल उसी पर अवलम्बित था बल्कि अपनी उन्नति के लिए वह उसी की ओर देखता था।

यद्यपि यह सही था कि उसके सामने पुरान आदर्श टूट चुके थे और नये आदर्श स्वरूप तैयार होने के लिए व्यापक सामाजिक कर्तव्यो की चेतना सुगबुगा रही थी किन्तु सबके केन्द्र मे आर्थिक परवशता थी। निश्चय ही वह आत्म–विरोध ही उस अगति का जनक था जिसने विरक्ति के रूप मे काव्य की सृष्टि की। बदलते परिवेश और अन्दर व्यापत व्यामोह के बारे मुक्तिबोध बताते है कि 'एक जमाना था जब पूँजीवाद के विद्रूप की विभीषिका लोगो पर व्यापक रूप से खुली नही थी और आशावाद के पर्याप्त अवकाश और क्षेत्र प्रतीत होता था। इसी को स्वय करने के लिए उन्होने ब्राउनिग की निम्न पंक्तिया उद्‌धृत की – "ग्रो ओल्ड एलाग विथ मी/वेस्ट इज वेट टू वी/ दि लास्ट लाइफ फॉर ह्विच फर्स्ट वॉज मेड।।

इसके विपरीत पूँजीवादी शोषण पर आश्रित मध्यम वर्ग को उक्त पक्तिया खोखली दिखायी दी, वासविकता के प्रतिकूल मालूम हुई। इसीलिए

इस वर्ग की हिमायत करते हुए टी0एस0 इलियट ने कहा – वी ग्रो ओल्ड, वी ग्रो ओल्ड/वी वेयर दि बाक्स ऑफ अवर टाउजर्स रोल्ड।।

परिणामत' इस अगति के कारण ही मानवमात्र पर श्रद्धा उठ गयी। नवीन विषयो से नवीन प्रतीक चुने गये उसके काव्य–प्रतीक आत्मग्रस्त विरक्ति को सूचित करने लगे तथाा सभ्यता की जो भावात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गयी वह विरक्ति, व्यग्य और अश्रद्धा की व्यक्तिबद्ध दृष्टि से ही हुई थी। विश्व–व्यापी ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर ब्रिटेन के अगतिवादी काव्य का प्रभाव यूरोप के तमाम पूँजीवादी मध्यवर्गो पर पडा। प्रगतिवाद कला मार्ग बनाना चाहता है। कला शरीर की नसो मे नया रक्त और नवस्फूर्ति का सचार जनता के अथाह हृदय के सम्पर्क मे आने से होगा। लेकिन अब–तक की जितनी कला–प्रणालिया विकसित हुई है वे थोडे बहुत परिवर्तनो के साथ व्यक्ति के प्रधानता मे ही अवसित हुई ओर यह व्यक्ति की प्रधानता सामाजिक तत्व की दृष्टि से बाहर रहकर परिपुष्ट हुई। अतएव इस प्रकार की कला का अपने–आप मे पूर्ण होसकना सम्भव होते हुए भी वह आदर्श स्थान नही हो सकती क्योकि उसका वह व्यक्ति–भाव एक प्रकार से असम्पूर्ण हो जाने के कारण असगत हो जाता है।

इसलिए प्रत्येक सृजक कलाकार को जनता से चैतन्यमय सहानुभूति प्राप्त कर तेज प्राप्त करना होगा। कला या ईश्वर प्राप्त करने के लिए मन्दिरो या पुरानी श्रद्धेयताओं की ओर नही जाना होगा बल्कि उस सैनिक तत्व उस सग्रामशील धैर्य के अथाह आन्तरिक तेज और सन्तुलन के पास पहॅुचना होगा जहॉ उसका ईश्वर सैनिक रूप मे आ रहा है। विकराल मूर्तिभंजक के रूप में प्रकट हो रहा है। आज के युग मे साहित्य का यह कार्य है कि वह जनता के बुद्धि तथा हृदय की इस भूख–प्यास का चित्रण करे और उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करने के लिए ऐसी कला का विकास करे जिससे जनता प्रेरणा प्राप्त कर सके और जो स्वयं जनता से प्रेरणा ले सके। इसे कहते है – "जनता का

साहित्य''। वास्तविक बात यह है कि शोषण के खिलाफ सघर्ष तदन्तर शोषण से छुटकारा और फिर उसके पास दैनिक जीवन उदर–निर्वाह–सम्बन्धी व्यवसाय मे कम से कम समय खर्च होने की स्थिति और अपनी मानसिक–सास्कृतिक उन्नति के लिए समय और विश्राम की सुविधा–व्यवस्था की स्थापना जब तक नही होती तब तक शत्–प्रतिशत जनता साहित्य और सस्कृति का पूर्ण उपयोग नहीं कर सकती न उससे अपना पूर्ण रजन ही कर सकती है। मुक्तिबोध का विश्वास है कि ''इस सम्पूर्ण–मनुष्य–सत्ता का निर्माण करने का एक मात्र मार्ग–राजनीति है और सहायक है साहित्य। ''प्रगतिवाद कहता है आज जब समाज मे सघर्ष है, अव्यवस्था है, अन्याय है और शोषण है। तब अपनी व्यक्तित्व रेखा के दायरे मे स्वय को निबद्ध रखाना और उसका परात्मक न बनाना उसका समाज मे न डुबो देना – अपने अस्तित्व के अवचित्य को सप्रमाण उपस्थित करना न हुआ और जो मनुष्य अपने अस्तित्व का औचित्य उपस्थित नही कर सकता, घोर प्रतिक्रियावादी है और आत्मकेन्द्रीय होकर आत्महत्या कर लेगा।

लेकिन प्रगतिवाद इसका निदान करता है। वह कहता है कि यह परस्पर विरूद्धताये मानवता के ले मारेगी। यह सामाजिक भेद कभी भी व्यक्तिवादी पूर्ण नही होने देगा क्योकि आदर्श के स्वरूप मे सामाजिक तत्व अभिन्न रूप से कायम रहते है। उनका बहिष्कार करने पर महान और उस हद तक सच्ची काल कभी अवतीर्ण नही हो सकेगी क्योकि आदर्श–कला जीवन पूर्ण सगति का उद्भाष है और यह आदर्श–कला तब तक सभव नही जब तक कि उन सभी की ओर प्रयत्न नही होने लगता। और इस परिस्थिति निर्माण करने के लिए एक सघर्ष की आवश्यकता होती है। इस सघर्ष कलात्मक रूप देने के पहले उसके विश्वात्मक होने और वैसा मूल्य प्राप्त करने की जरूरत होती है। यदि यह संघर्ष प्रकृति की पुकार है, उसकी अनिवार्यता है तो उसका उद्देश्य भी है और उस उद्देश्य के गर्भ में एक आदर्श भी है। यह संघर्ष का

आदर्श व्यक्ति–अतीत इस अर्थ मे कि उसकी परिधि व्यक्ति आने पर भी उसका केन्द्र समाज–व्यापी आदि स्फूर्ति ही है जो समाज की विकास भावना के पीछे की प्राकृतिक आवश्यकता से सुलगती और पूर्ण होती है और इस सामाजिक मूल्य–स्फूर्ति की अग्निमय लहरे व्यक्ति की क्रान्ति–भावनाऍ है, सघर्ष–विचार है, भविष्य–कल्पनाए है।

आशय यह है कि विश्वात्मक सघर्ष की लहरो को अपने अन्दर पाने वाला व्यक्ति है और उसके अनुभव व्यक्तिगत है। वह महन्तर वाहन से किरेणे ओर पानी लेता है और ह्रदय मे नया ओज अनुभव करता है और इस ओज की अभिव्यक्ति फिर उसी विराट विस्तार में लीन होकर ही रूप प्राप्त कर पाती है। इस समाज–सिन्धु मे व्यक्ति–धारा की मग्नता का सगति व्यक्ति का अपने रूप मे दिया हुआ सामाजिक–तत्व है। इसी अर्थ मे वृहत्तर–विराट मे व्यक्ति अपने को ही अन्तत खोजता और पाता है। इसीलिए प्रगतिवादी कलाकार समाज के प्रचलित या सन्निहित तत्वो को अपनी आत्म ज्वाला की आग मे स्वर्णिमकर उसे विश्व के सम्मुख रखेगा। इस प्रकार वह आत्मवब के द्वारा उस समाज वर्ग पर प्रत्याघात कर अपने नये–नये काल्पनिक समन्वयो के द्वारा उस समाज–वर्ग की विकास–रेखा को आगे खीचता चला जायेगा और इसी मे वह आत्मपूर्ति के साथ ही साथ वर्ग–हित, जिसको कि वह पूरे समाज का हित समझता है, करता हुआ उस वर्ग–हित के माध्यम से अपने को ऊॅचा करता और भागता हुआ समाज पर फिर प्रत्याघात करता चला जायेगा नूतन समाजेपयागी तत्वों की तलाश को। पूॅजीवादी समाज मे यह सब स्वाभविक है। परन्तु यह तब तक पूरी तौर पर सभव नही हो सकता जबतक हम वस्तु–सत्य के प्रति उतनी ही आस्था न बतलाऍ जितनी कि आत्म सत्य के प्रति। इसके लिए मुक्तिबोध ने काण्ट का उदाहरण दिया जिसने अन्तत सारे वस्तुजगत के आत्मानुभव को एक ऐसे अलौकिक सत्य मे पर्यवासित कर दिया जो मनुष्य मात्र के ज्ञान के बाहर है अर्थात् जहॉ केवल श्रद्धा का स्थान है। लेकिन इस

बात को कहने मे वे तनिक सकोच नही करते कि – वैचारिक अराजकता पूँजीवादी के उसी प्रकार हित मे है जिस प्रकार घोर अध्यात्म। इसीलिए पूँजीवादी समाज मे यह सब स्वाभाविक है। मुक्तिबोध के अनुसार मानवता के विकासातिहास मे आज का क्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के कारण प्रगतिवाद, कला को एक विशाल जीवन के सम्पर्क मे लाना चाहता है और यह तभी हो सकता है जब कलाकार सकुचित वृत्ति को छोडकर सम्पूर्ण जनता के आवश्यक साम्य के सिद्धान्त के स्वीकार कर तदनुसार अपनी अनुभूतियो की रचना और उसको अधिक व्यापक और गभीर बनाये। लेकिन यह देखने पर कि मानवता के उच्च–सस्कृति की ओर किये गये प्रयत्नो मे मुख्य दोष सामाजिक तत्वो की उपेक्षा रही है जिसके कारण विश्व–प्रगति उतनी नही हो सकी जितनी की होनी चाहिए, कला उतनी नही जितने कि होन चाहिए थे।

प्रगतिवाद उस मुख्य कारण को चिन्ह लेता है और कहता है कि जबतक सामाजिक न्याय नही होता तबतक वह समाज के प्रति स्वय सुसगत न हो ले। परन्तु वह जानता है कि व्यापकता का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए भी अनुभूतिया ढाली नही जा सकती। किन्तु पूर्ण जीवन–साम्य की दृष्टि से, कम से कम कला का सृजन हो ही सकता है। इससे जो आलोचना–बिन्दु बनेगा, जो इच्छाकाक्षाऐ प्रस्फुटित होंगी उनका सम्मिश्रण दृढ रूप ही इस समय कला विशेषतया मध्यमवर्ग से उत्पन्न होती है। मुक्तिबोध की दृष्टि मे 'यदि साहित्य जीवन का उद्घाटन है तापे समीक्षक को तो यह जानना ही पडेगा कि उद्घाटित जीवन वास्ततिक जीवन है या नहीं। असल मे कसौटी वास्तविक जीवन का सवेदनात्मक ज्ञान ही है जो न केवल लेखक और समीक्षक मे होता है वरन् पाठक मे भी रहता है। वास्तविक जीवन सवेदनात्मक समीक्षा–शक्ति किसी बपौती नही है। इसी समीक्षा–शक्ति के सहारे बडे–बडे व्यक्तियो का निर्माण होता है। लेकिन हमारे उत्पीडित मध्यमवर्गीय सचेत युवकों के कष्टो का इतिहास केवल तात्कालिक व्यक्तिगत कारणो से ही नही है वरन् वर्ग के

अनेक रूप–पुराणपथी सस्कारो और विचारो से सघर्ष की रक्ताल वेदनाओ से, आच्छन्न है। अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा की आराम कुर्सी पर बैठे हुए ये मसीहा निर्णय दे सकते है, लेकिन–नवयुवक लेखक की बॉह पकडकर सहारा नही दे सकते। इसलिए हमारे गरीब मध्यमवर्गीय युवको इन बाहो से सावधान रहना होगा। अपनी कविता की पुष्टि के लिए उसे अपने मूल उद्वेगो की स्थिति–परिस्थितियो स्रोतो का पता लगाना होगा और उन परिस्थितियो को दूर करने के लिए उसे सही और निर्णायक कदम बढाने होंगे। मुक्तिबोध ने माना कि राजनैतिक दृष्टि से प्रगतिवाद प्रसार का हिमायती है, वर्गहीन समाज–सत्ता का पुजारी है। उसका विश्वास है कि राजनीति के द्वारा ही हम एक देश के दलित दूसरे देशो के शोषितो के सम्पर्क मे आ सकेगे और इस प्रकार एक वृहद्–मानवता का आलोचन होगा। आशय यह कि मुक्तिबोध को उस राजनीति मे मानवता के दर्शन होते दिखायी पडते है जो साम्यवादी सत्ता की पक्षधर हो लेकिन वे यह भी मानते है कि ऐसी वर्गहीन समाज–सत्ता इस समय न होने के कारण वह क्रान्ति का पुजारी है। इसीलिए वह जनता के साथ घनिष्ठतम, घोरतम सम्पर्क रखना चाहता है और कलाकारो से कहता है कि तुम अधिक से अधिक जन–हृदय के सम्पर्क मे आओ और क्रान्ति को शीघ्र–आगमनशील बनाओं। मुक्तिबोध के विचार से पतनोन्मुख पूँजीवादी साहित्य और दर्शन की दो विशेषताऐं है – प्रथमत घोर वैयक्तिकता दूसरे दृष्टिकोण की अवैज्ञानिकता। इन दोनो की जड एक ही है और ये दो विशेषताऐ एक सिक्के की दो बाजुए है। आज गाधीवादी नीति वर्तमान स्थिति मे और छायावादी साहित्य विद्यमान क्षण मे इसी पूँजीवादी कमजोरी के शिकार है। व्यक्ति की अपनी व्यावहारिक नीति की रक्षा और सामाजिक कर्तव्य के भान की रक्षा तबतक सभव नही जबतक वह इस वैचारिक सडाव से पूर्णतया परिचित नही हो पाता। .. .. ऐसे विगत युग के कल्पना–सुखद वातावरण मे आत्मकेन्द्री प्रवृत्तिया लहलहा सकती है जिसका पर्यवासान उसी

अवैज्ञानिकता के घेर अन्धकार मे हमेशा होता है जो कि पतनोन्मुख पूॅजीवाद के लिए अत्यन्त हितकारी है।   गाधीवाद की नीति धारणा और रामराज्य के परिकल्पनाओ मे सहस्रशीर्ष पुरूष सहस्रपाद वैध नही हो सकता। इसी लिए सच्चा आत्मस्वातत्रय प्राप्त करने के लिए सामूहिकता आवश्यक है। क्योकि सामूहिकता तभी होगी जबकि हम आर्थिक समानता उत्पन्न करे और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति के पूरे साधन और मौके दे। यह सामूहिकता की भावना आत्म स्वातत्रय और व्यक्ति स्वातत्रय के अत्यन्त अनुकूल है। अत पूॅजीवादी सस्कृति के विरूद्ध साम्यवादी समाज–रचना मे सामूहिक उन्नति के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आश्रय लेता है और विगतयुगो के पुनर्जीवन के स्थान पर नवीनयुग के सुव्यवस्थित भावी की ओर देखता है और आज हमारे साहित्य एव दर्शन, कला और विज्ञान के सामूहिक भावना का प्रभाव भरना ही हमारे विकास की दिशा है। तभी आत्मा का ताल सामाजिक लय मे लीन होगा।

प्रगतिवाद का परित्याग मुक्तिबोध ने क्यो किया इसके बारे मे उनके विचार है – सच तो यह है कि मैने काव्यजगत को आत्मीय क्षेत्र मे, प्रगतिवाद–विशिष्ट यौगिक रूप से चलने राजनैतिक सामाजिक विचार–भाव, यात्रिक और यात्रिक छन्द अस्वीकार कर दिए। मुझे प्रतीत हुआ कि काव्य में मनुष्य की सामाजिक–राजनैतिक इयत्ता ही प्रकट नही होना चाहिए किन्तु पूर्ण मनुष्य के दर्शन, मानव–जीवन के सभी पक्षो का दर्शन होने चाहिए, चूकि प्रगतिवाद एक क्षेत्रीय था, यत्रवत्·था, वह एक विशेष काल मे मध्यवर्ग की एक विशेष मनौवैज्ञानिक दशा का ही सूचक था। वह दशा समाप्त हुई और वह धारा भी समाप्त हो गयी किन्तु उसके द्वारा उठाये गये प्रश्न आज भी सुलझे नही, उसके लक्ष्य अभी भी पूरे नही हुए। सक्षेप में मेरे अपने मान्सिक क्षेत्र मे छाया वाद और तदन्तर प्रगतिवाद के विरूद्ध प्रतिक्रियाये होती रही। मै चुपचाप अपनी कविता का विकास करता रहा। लेकिन एक बात स्पष्ट है कि –

"छायावाद और प्रगतिवाद के बाद कोई ऐसी व्यापक मानवआस्था मैदान मे नही आयी जो जीवन को विद्युन्मय कर दे। मेरा मतलब साहित्यिक मैदान से है।" स्वाधीनता काल शुरू होते ही साहित्यिक क्षेत्र मे अवसरवाद की बाढ आ गयी। सरकारी नौकरियो मे तो साहित्यकार पहुॅचे ही, उन्होने अपने को साहित्यकार के क्षेत्र मे आयी हुई नयी पीढियो से पृथक कर लिया। इस अवसरवाद की बाढ मे प्रगतिवाद तो सूख ही गया, उसपर हमले भी शुरू हुए। उसका रहा–सहा प्रभाव खत्म करने की कौशिशे भी हुई।

प्रयोगवाद :

प्रयोगवाद के सम्बन्ध मे डा0 नगेन्द्र का मानना है – प्रयोग तो प्रत्येक युग मे होते आये है। किन्तु प्रयोगवाद का नाम उन कविताओ के लिए रूढ हो गया जो कुछ नये बोधो सवेदनाओ तथा उन्हे प्रेषित करने वाले शिल्पगत चमत्कारो को लेकर शुरू–शुरू मे 'तारसप्तक माध्यम से सन् 1943 मे प्रकाशन–जगत मे आयी।[1]

डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी कहते है – "इस तारसप्तक के प्रकाशन से हिन्दी साहित्य मे आधुनिक संवेदना का सूत्रपात माना जा सकता है। आधुनिकता की अवधारणा मूल्यबोधी होनी पर भी मूलत तो कालबोधी है। इतिहास की प्रक्रिया को समझकर उसकी गति को द्रुतकर करने का सजग मानवीय प्रयास यदि अधुनिकता का मुख्य लक्षण है तो साम्यवादी विचारधारा ने इस क्षण मे सैद्धान्तिक ढंग से पहल की इसमे सन्देह नही यो पश्चिम के देश औद्योगिक क्रान्ति और तत्सम्बन्धी अन्वेष्णों से हय कार्य व्यावहारिक रूप मे पहले से ही करते आ रहे थे।[2]

1943 मे 'तारसप्तक' का आयोजन और सम्पादन अज्ञेय करते है। और उसमे सबासे अधिक बलपूर्वक वे कवि शामिल होते है। जिन्होने अपने को साम्यवादी घोषित किया। तारसप्तक मे सकलित सात कवि है – मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारत–भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा, अज्ञेय। स्वाधीन पश्चिम और साम्यवादी रूस दोनो की विचारधाराएँ हिन्दी साहित्य के सजग रूप मे नियोजित आधुनिक काव्यान्दोलन मे परस्पर टकराती है। जिनके बीच मे ये सात कवि अपने निजी व्यक्तित्व की तलाश मे गतिशील दिखते है।

डा0 नामवर सिह ने कविता के नये प्रतिमान पुस्तक मे लिखा है – 'स्वय तारसप्तक की योजना जिस 'अखिलभारतीय लेखक सम्मेलन (1942) के अन्तर्गत बअनी थी वह वस्तुत प्रगतिशील लेखक सघ का ही आयोजन था।[3] इस दृष्टि से तारसप्तक की भूमिका में यदि उन्हे राहो के अन्वेषी कहा गया है तो ठीक है। – 'दावा केवल यही है कि ये सातो अन्वेषी है काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण ही उन्हे समानता के सूत्र मे बॉधता है . उनके तो एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नही है। किसी मजिल पर पहुॅचे हुए नही है अभी राही है, राहो के अन्वेषी है।[4] वैचारिक मतभेद के बावजूद इन कवियो को एक साथ लाने वाला मुख्यतत्व उनका प्रयोग पर आग्रह है समाज के हित मे जैसे क्रान्ति की सतत् प्रक्रिया काम्य है वैसे ही रचना के हित मे प्रयोग की। प्रयोगवाद नामकरण को अनुपयुक्त मानते हुए –

दूसरा सप्तक (1951) की भूमिका में अज्ञेय को स्पष्ट करना पडा कि प्रयोग का को वाद नही है . प्रयोग अपने आप मे इष्ट नी है वह साधन है और दोहरा साधन है क्योकि एक तो उस सत्य को जानने का साधन है जो कवि प्रेषित करता है। दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों

को जानने का भी साधन है अर्थात प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अच्छी तरह जान सकता है और अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है।[5]

अतएव वस्तु और शैली दोनो ही के क्षेत्र मे ये काव्य के पूर्ववर्ती उपदानो को सन्देह की दृष्टि से देखते है । और नवीन उपकारणो को आग्रहपूर्वक ग्रहण करते है। जीवन और काव्य दोनो म ही मे एतादृशत्व के ये घोर विरोधी है क्योकि 'छायावाद के भाव और रूप–आकार दोनो के प्रति उनको एक प्रकार का असन्तोष सा उत्पन्न हो गया था और धीरे–धीरे यह धारणा दृढ होती जा रही थी कि छाया वाद की वायवी भाव–वस्तु और उसी के अनुरूप अत्यन्त बारीक तथा सीमित काव्य–सामग्री एव शैली–शिल्प आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करने मे सफल नही हो सकते। निसगर्त उसके विरूद्ध प्रतिक्रिया हुई – दूसरी ओर सुनिश्चित वैदिक धारणाओ का जोर बढा, और शैली–शिल्प मे छायावाद की काव्य की और उत्यनत सूक्ष्म–कोमल काव्य–सामग्री को आग्रह के साथ ग्रहण किया गया।[6]

आज का जीवन सर्वथा विश्रृखलित ओर अव्यवस्थित है। जीवन मूल्यो की इतनी भयकर अराजकता पहले शायद ही कभी सामने आई हो राजनीतिक और आर्थिक दुर्व्यवस्था के साथ सांस्कृतिक और दार्शनिक उलझनो ने मिलकर जीवन मे अगणित गुत्थिसया डाल दी है जिनमे कि आज का मानव उलझकर रहा जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ये कवि व्यक्ति और समाज पूर्वागत आस्थाओ और मूल्यो को खण्डित होते देख चुके थे। इसलिए वे नयी राहो की खोज मे निकल पडे क्योकि उन्हे पुरान विश्वास अर्थहीन प्रतीत हुए । अत नये मूल्यो और भावबो की ओर प्रवृत्ति हुई। यही से प्रयोगवादी कविता का वस्तुपरक दृष्टिकोण को अधीक से अधीक वस्तुगत बनाये वस्तु पर अपने युग का रग न चढाकर वस्तु की आन्तरिक अर्थ–व्यजना को अनूदित करे।[7] वास्तव मे देखा जाय तो इन कवियो के लिए इस रूप में अपने व्यक्तित्व से बचना

सभव नही था। अब देखना यह है कि प्रयोगवाद के प्रति मुक्तिबोध जी के क्या विचार है ?

प्रयोगवाद के विषय मे मुक्तिबोध का कहना है – तथाकथित प्रयोगवाद की कोई विशेष व्याख्या नही की जा सकती, साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप मे ही उसे देखा जा सकता है।[8] यहाँ पर मुक्तिबोध ने साहित्यिक प्रवृत्ति को भाव–शैली दोनो ही रूपो मे माना है। वे आगे कहते है – ' अपने प्रारभिक रूप मे प्रयोगवादी कविताएँ तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के विरूद्ध व्यक्ति द्वारा की गयी भावनात्मक प्रतिक्रियाये है किन्तु अब व्यक्ति छायावादी नही उसमे अब बौद्धिकता आ गयी है। वह जो देखता है उस पर सोचना चाहता है जो अनुभवन करता है वह लिखना चाहता है। उच्च सामाजिक वर्गो मे वह हैव–नाट्स मे से है हैव्स मे से नही। जिस बात पर वह सोचना चाहता है। जिस स्थिति पर सोचने के लिए उसे मजबूर होना पडता है उसके प्रति उसका दृष्टिकोण घनघोर व्यक्तिवादी स्थिति से लगाकर तो अविकसित मार्क्सवादी स्थिति तक फैला हुआ है।[9]

तत्कालीन परिवेश के प्रति गहरी जागरूकता का परिचय देते हुए मुक्तिबोध कहते है – समाज उसका गला दबाता है, उसका अपना वर्ग भी उसकी आवाज को कुठित करता है। ऐसा इसलिए कि समाज मे पुरानापन है, दकियानूसी है जडता और कुचलने की शक्ति भी है। फलत व्यक्ति इससे विद्रोही करता है परनतु विद्रोह करने का उसे तरीका नही मालूम। इसीलिए मात्र भावनात्मक विस्फोट करके वह रह जाता है। दूसरी बात यह कि बौद्धिक लक्ष्यानुगामी होन के कारण उसके विद्रोह मे प्रगतिवादी फॅत्कार नहीं आ पाते।''

ऐसे समाज से सामंजस्य के आभव के फलस्वरूप तथाा उसके विरूद्ध उसमें प्रखर बौद्धिक व्यक्त्विाद का विकास हुआ। कुछ लोगो मे अन्तर्मुखी

चेतना उदित हुई तो कुछ मे बहिर्मुखी, लेकिन चेतना अधिक याथार्थोन्मुखी हुई चाहे वह अन्तर्मुखी हो या बहिर्मुखी। नवीन यथार्थोन्मुख (यथार्थ से मतलब हमेशा बाहरी यथार्थ ही नही होता)। प्रतीक, उपमाएँ सामने आयी घिसी–घिसाई शब्दावली का त्याग हुआ।[10]

प्रयोगवाद के कलापक्ष की व्याख्सया करते हुए मुक्तिबोध कहते है – वह कलातत्व से अधिक सचेतन है किन्तु अपने उदग्र और दमित भावना–मण्डल की यथातथ्यता को प्रकट करने के उसके पास केवल छायावादी शब्दावली है जिसका प्रयोग वह नहीं चाहता। उसके अनुसार छायावादी शब्द छायावादी भाव को ही प्रकट करते है वे नये मनोवैज्ञानिक यथार्थ को नही प्रकट करते[11] दूसरी ओर उस समय के शिक्षित समाज की अभिरूचि छायावादी ही थी। उनके लिए पीडा का अर्थ रोमैन्टिक या आध्यात्मिक ही था। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि उन्हे ये कविताएँ पसन्द न आती। जिसके परिणाम की ओर सकेत करते हुए मुक्तिबोध कहते है– आगे चलकर ये ही छायावादी तबके और उनके समर्थक, प्रशसक स्वाधीनता के उपरान्त साहित्य तथा समाज के प्रभावशाली पदो और स्थानो पर जा पहुँचे, उन्होने पर्याप्त रूप से ऐसा वातावरण धनीभूत किया जिसमे इस नवीन प्रवृत्ति का कष्ठरोध हो। किन्तु प्रयोगवादी प्रवृत्ति ऐतिहासिक कारणो से ही उत्पन्न हुई थी उसी से उसका विकास भी हुआ और हो रहा है इसलिए वह सामयिक विरोधो से दब नही सकती थी।[12] तारसप्तक तथा दूसरा सप्तक मे स्थिति तथा व्यक्ति का बहुत बडा भेद है। दूसरा सप्तक वालो को अच्छी परिस्थितिया मिली थी। जिन प्रश्नों को लेकर तारसप्तक वाले आगे बढे उन प्रश्नो को लेकर दूसरा सप्तक वाले नही। तारसप्तक वालो की रोमास–भावना की आयु बहुत अशो मे छायावाद मे ही बीत चुकी थी वे अपनी छायावादी अवधि पाकर उसके विरूद्ध प्रतिक्रिया करते हुए प्रयोगवादी थे तो दूसरा सप्तक मे यह एक मौलिक भेद है। व्यक्ति के विकास की दृष्टि से तार सप्तक

अधिक मजबूत है। दूसरा सप्तक रोमैन्टिक परिधान की दृष्टि से अधिक मनोरम ये रोमैन्टिक भावनाए जीवन की यथार्थकता है और मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी दृष्टि से वे प्रयोगवाद के लिए निषिद्ध नही ठहरती बशर्ते कि उनकी ओर देखने की दृष्टि कुहरिल न हो।''

इस प्रकार प्रयोगवाद के प्रति मुक्तिबोध की दृष्टि सजग, जागरूक की भाति अत्यन्त ही साफ–सुथरी छवि वाली है। इस प्रसगो के मध्य प्रयोगवाद की सारी विशिष्टताए विद्यमान है। जिन्हे प्रयोगवाद की प्रमुख प्रवृत्तियो के लिए विश्लेषित किया जाता है जैसे–मध्यवर्ग तथा श्रमिको के प्रति आत्मीयता प्रेम और रोमास की नई अर्थवत्ता परम्परागत सौन्दर्य का त्याग आदि।

मुक्तिबोध बताते है कि प्रारभिक उत्थानकालीन प्रयोगवादी कविता मे यदि हम उसे समग्र रूप मे देखे तो हमे मार्क्सवाद की छाया मिल जायेगी, जीवन–आलोचना की दुखात्मक किन्तु तीव्र ध्वनि सुनायी देगी। उस कविता मे भावतत्वो का आन्तरिक–गठन उनकी आन्तरिक रचना शैली ऐसी थी कि जिसमे यह ध्वन्यार्थ प्राप्त होता था कि वह इस ओर है उस ओर[13] सचमुच मे यह सक्रान्ति बेला होती है। वैसे भी साहित्य एक अविरल धारा है जिसकी गति (चाहे वह विकास की हो या अलगाव की) स्वभावत लचीली होती है।

साधरणतया वास्तविक दुखात्मक क्षणो मे ही मनुष्य अधिक तीव्रता से देखता है अधिक क्षणो को देखता है। हॉ यह भी सही है कि ऐसे क्षणो मे ऐसी कालावधि मे मन ही मन जीवन–व्याख्यान के जो सूत्र चलते रहते है कि वे सुसगत युक्ति–युक्त समुचित और आत्म–निरपेक्ष आदर्श–भावना से अनुप्रणित हो, यह भी एक अनिवार्य नियम नही है। किन्तु जीवन की यह आलोचनात्मक व्याख्या मन ही मन चलती रहती है। यह मनोवैज्ञानिक स्तर पर मूल्य–भावना से सयुक्त होकर ही चल सकती है अन्यथ नहीं।[14]

मुक्तिबोध कहते है कि इसी बात को प्रगतिवादियो ने नही समझा। मनुष्य को केवल उसके सामाजिक–राजनैतिक पक्ष मे समझने और उपस्थित करने वाले इन लोगो ने प्रयोगवादियो के प्रारम्भिक अभ्युदय के काल मे उन दु खपूर्ण और निराशपूर्ण, ग्लानिपूर्ण अगतिकता की भावना प्रकट करने वाले काव्य के वास्तविक अन्त सन्दर्भो को और वाह्य सन्दर्भो को– जीवन–जगत सम्बन्धी सन्दर्भो को समझने से इन्कार कर दिया। नये प्रयोगवादी काव्य के प्रति उनका ये शत्रुवत भाव चिरस्मरणीय रहेगा।[15]

यह शत्रुवत भाव चिरस्मरणीय क्यो रहेगा ? इसके सन्दर्भ मे भी उनके विचार अवलोकनीय है – इसलिए कि उन्होने मानव–दु ख की अवहेलना की मानव पीड की यथार्थ पर अहकार पूर्ण पदाघात किया। उसको कुचलने की भरकस कोशिश की। उन्होने ऐसे कवियो और लेखको को अपने पास उठाकर फेक दिया जो आधुनिक जीवन के अन्तर्विरोधो से ग्रस्त होकर काव्य रचना करते है। ये भी सच है कि अपने सैद्धान्तिक विश्वासो के कारण बहुत से कवि उन्ही के साथ रहने का प्रयत्न करते थे यद्यपि वे वहॉ से बार–बार हटा दिये जाते थे।[16]

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य को जो भी चीज रूचिकर लगी उसे जेब मे डाला सुरक्षित किया और जो अच्छी न लगी उसे उठाकर फेक दिया लेकिन साहित्य मे यह उपेक्षा पूर्ण रवैया – जो कि बुद्धिजीवियो, एक युग के प्रर्वतको द्वारा किया जा रहा हो – अत्यन्त ही दुर्भावना से ग्रस्त माना जायेगा उनको यह सूक्ति अवश्य ही मालूम रही होगी – अखाडा के लतमरूआ भी पहलवान होते है। फिर भी यह उपेक्षापूर्ण रवैया अख्तियार किये रहें।

सवेदनात्मक उद्देश्यो को देखकर लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व की रचना के अन्तर्गत जीवन तत्वो की ओर उनकी अभिव्यक्ति को देखा जा सकता है।

"प्रयोगवादी कविता के सवेदनात्मक उद्देश्यो को समझने के कारण ही उसके सम्बन्ध मे बहुत सी भ्रान्तियॉ फैलायी गयी उसे या तो राजनैतिक रूप से प्रतिक्रियावाद कहा गया या भारतीय सस्कृति के सन्देश और उसकी आत्मा के प्रतिकूल" जबकि होना तो यह चाहिए था कि सवेदनात्मक उद्देश्यो को समझकर उन सवेदनात्मक उद्देश्यो को जागृत करने वाली जीवन भूमि का विश्लेषण करते हुए उन सवेदनात्मक उद्देश्यो की सहज मानवीयता को उन रचनाओ की सहज मानवीयता को हृदयगम किया जाता। लेकिन इस प्रकार की कविताओ को एकदम असुन्दर प्रतिक्रियावादी की विद्रूप या निषेधात्मक कहकर टरका दिया गया।[16]

मुक्तिबोध कहते है। कि आलोचको का उद्देश्य इस काव्य प्रवृत्ति को समझना नही था वरन् उससे सघर्ष करके उसे नष्ट कर देना था। लगभग ऐसे ही उद्देश्यो से परिचालित होकर पं0 रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद का विरोध किया। उन्होने जब छायावाद से समझौता भी किया तो उसे "अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली" कहकर छुट्टी पायी लेकिन उन्होने यह नही देखा कि आखिर रचनाकार इस प्रकार की प्रणाली को क्यो अपनाना चाहते है। या यो कहिए कि इस प्रकार की अभिव्यक्ति प्रणाली आखिर कवियो के लिए क्यो स्वाभाविक हो उठी।

कहने का तात्पर्य यह है कि "अभिव्यक्ति की प्रणाली बदलते ही आलोचको की नाडी छूटने लगती है। मुझे इस बात का गहरा सन्देह है कि इसका कारण यात्रिक बुद्धि है। अपनी–अपनी थियरीज और सिद्धान्तो के कठघरे मे किसी नई प्रवृत्ति को न फसते देखकर उस नयी प्रवृत्ति को ही निदित किया गया है कि उन सिद्धान्तों को बदला गया अथवा उन सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे अब तक उनकी अपनी जो समझ थी उसमें परिवर्तन किया गया। आशय यह है कि उन्हे अपने–अपने बौद्धिक मानसिक सोचो की ज्यादा फिक्र थी, किसी नयी प्रवृत्ति के जीवन्त तथ्यो की नही।[17]

मुक्तिबोध की दृष्टि से कोई भी नयी साहित्यिक प्रवृत्ति अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे अनगढ होती ही है किन्तु हिन्दी मे केवल उसके कमजोर उदाहरणो को लेकर ही उस पर आक्रमण किया गया, उसकी शक्ति नही परखी गयी। जबकि हमे साहित्यिक मापजोख दो दृष्टियो से करनी चाहिए– एक रूप की दृष्टि से दूसरे वस्तु तत्व की दृष्टि से। वस्तु तत्व मे इतनी शक्ति होती है कि वह स्वय अपने रूप को लेकर आता है। अतएव मुख्यत हमारे लिए वस्तु तत्व प्रधान हो जाता है।[18]

मुक्तिबोध की दृष्टि मे "प्रगतिवादियो की तुलना मे ये निसन्देह नये लोग अधिक कला मर्मज्ञ थे किन्तु साहित्यिक प्रवृत्तियो को वे एक प्रकार की दिशा देना चाहते थे। वे साहित्यिक सास्कृतिक क्षेत्र मे एक विशेष प्रेरणा से अपने प्रभाव का विस्तार करना चाहते थे और वह प्रेरणा अपना एक राजदर्शन अपनी राजनीति रखती थी।[19] वे विश्व मे चलते हुए शीत युद्ध से और शीत युद्ध की भावनाओ से वे प्रेरित थे। प्रगतिवादी भाव धारा का हिन्दीवादी क्षेत्र से उन्मूलन करना उनका प्रधान उद्देश्य था। साथ ही एक ऐसी ही भाव धारा का प्रचलन करना उनका उद्देश्य था जो कि प्रगतिवाद का स्थान ग्रहण कर सके।

इसलिए स्वाभाविक ही था कि प्रयोगवादियो ने एक ही साथ या एक के बाद एक काव्य के विशेष पैटर्न, कलाव्यस्था, कलाकार का धर्म, सौन्दर्यानुभूति का सिद्धान्त आधुनिक भावबोध तथा उससे जुडी हुयी सभ्यता, समीक्षा, लघुमानव सिद्धान्त तथा अन्य इन सब को उपस्थित किया। साम्यवादी–प्रगतिवादी प्रभाव का मूल्योक्षेद – इस प्रधान लक्ष्य से ये सारे सिद्धान्त अनुप्रणित रहे और अब ये साफ–साफ दिखायी देने लगा कि लेखको के मस्तिष्को पर उनके मन प्राणों पर अधिकार जमाने के लिए यह लडायी लडी जा रहा है अर्थात भिन्न प्रकार की जीवन व्याख्या उनके हृदय मे मूलबद्ध करने का प्रयत्न करने का प्रयत्न कि जा रहा है। ठीक यही कारण है कि

बहुत से ऐसे लेखक जो कि उनकी प्रगतिवादियो मूल जीवन व्याख्याओ से और जीवन दृष्टि से सहमत नही थे– वे उनसे कटकर अलग हो गये। उन्होने इन महोदयो से कटकर अपना स्वतन्त्र किन्तु नि·जन और त्रास दायक जीवन पथ अगीकार करना ही उचित समझा। यह बात भूलने की नही के ये नये महादेय सब तरह से साधन सम्पन्न थे और आज भी खूब है।

अपनी स्वय की स्थिति को स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध बताते है कि मुझे इन महोदयो से हमेशा सदाशयता का भाव ही मिला, ये भी कह दू कि यह कोई व्यक्तिगत विरोध नही है। साथ ही मुझे व्यक्तिश (कवि रूप मे नही) प्रगतिवादी की सदाशयता प्राप्त होती रही। अतएव मुझे व्यक्तिश न इस पक्ष से असन्तोष है और न उस पक्ष से।[20]

प्रयोगवाद के सम्बन्ध मे मुक्तिबोध के ये विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि क्या प्रयोगवाद का आजतक का विकास ऐसा है। जो हमारी जनता के मुख्य लक्ष्यो को अग्रसर कर सके ? अथवा क्या उससे ये आशा हो सकती है ? ओर सगर्व उत्तर देते हुए कहते है – "अभी तक प्रयोगवादी कवियो म यह विशाल चेतना नही आ पायी है जिसे हम महत्व देते है इनको देखकर ये आशा होती है कि आगे चलकर नये कवि विशाल उत्तरदायितवो का निर्वाह अधिक सफलता पूर्वक कर सकेगे।[21] ये रहा प्रयोगवाद का वर्तमान जिसकी मजबूत नीव को देखकर ही मुक्तिबोध ने भविष्य मे भव्यमहल की परिकल्पना की और दिन–प्रतिदिन ठोस ईट को (नयी कविता तक) रखते चले गये।

नयी कविता की प्रारभिक अवस्था की रेखा को रेखाकित करते हुए मुक्तिबोध कहते है –

सन् 1940–43 के आस–पास हिन्दी के कुछ नये लेखक यह अनुभव कर रहे थे कि छायावादी काव्य और साहित्य के मनोवैज्ञानिक–दार्शनिक भाववादी आदर्श जिन्दगी के तकाजों को पूरा नही कर पाते, वास्तविक पीडा

की श्रेणी मे बैठती दिखायी न दी। उनका ख्याल था असल जिन्दगी–जिसे जिया जाता है–वह बहुत ही उलझनभरी, अपने–आप मे सम्पन्न, साथ ही बडी कठोर भी है। उनका यह ज्ञान अनुभव–जन्य था। ये लोग अपने अनुभव की सवेदनात्मक प्रक्रियाओ और रूपो को प्रकट करने लगे। यथार्थ के अनुभवो से मुक्त होकर, आत्मप्रकटीकरण की दिशा मे उन्होने अपने प्रयास आरभ किए। 1 राजनैतिक दृष्टि से राष्ट्र मे काग्रेस के भीतर वामपक्षी विचारधाराओ के उदय तथा विकास का वह काल था। व्यक्तिगत–सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ से सचेत रहते हुए, उनका वैज्ञानिक समाधान पाने और उसको व्यावहारिक रूप देने की तलाश हुई। इस प्रकार एक वैज्ञानिक विश्व–दृष्टि की खोज आरभ हुई–ऐसी दृष्टि जो व्यक्तिगत–सामाजिक समस्याओ से लगाकर तो अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ तक का वैज्ञानिक उत्तर दे सके। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि ऐसे लोगो के लिए हृदय की दृष्टि बौद्धिक होती।।

यह बात स्वत सिद्ध है कि समाज और व्यक्ति की भीतरी आत्म–सगति मे बहुविधि दरारो और दोषो के तीव्र सवेदनात्मक बोध को लेकर चलने वाला व्यक्ति यहद वैज्ञानिक रूप से सिद्ध समाधानो को सवेदनात्मक स्तर पा धारण कर न चले तो अन्तत उसे मात्र काल्पनिक आत्म–सगति या विश्व–सगति को लेकर ही तो आना होगा। मुक्तिबोध जी कहते है–'सगति का प्रश्न मामूली प्रश्न नही है। लेखक के जीवन की अपने साहित्य से सगति, उद्घोषित आदर्शों की समाज से सगति, व्यक्ति से समाज का सामजस्य, व्यक्ति की भीतरी आत्म–सगति–'इन सब' की दृष्टि से जब उसने अपनी तरफ और सब तरफ देखना आरभ किया तो उसे घृणा, जृगुप्सा, निराशा के वास्तविक अनुभवो से गुजरना पडां उसने इस सम्बन्ध मे अपने आपको भी क्षमा नहीं किया। वह बहुत बार आत्म घृणा से भी भर उठा।

इस दृष्टि का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि उसका 'समाज' से जो सामजस्य चाहिए, वह बिगड गया। अपने व्यक्तिगत जीवन मे उसने न केवल ' समाज' के प्रति अश्रद्धा, आस्था की सवेदनात्मक प्रतिक्रियाये की वरन् उससे समझौते के अभाव मे वह उससे अलग, अकेला अपने –आप मे ढ़ँका–मुँदा रहने लगा। यही से उसकी आत्म–ग्रस्तता शुरू होती है। दूसरी ओर उसे जीवन मे भी सघर्ष करना पड रहा था। जीवन स्तर लगातार गिरता जा रहा था। समाज से उसके सन्तुलन तथा समझौते के अभाव मे, उसे अपने व्यक्तिगत व्यावहारिक जीवन मे असफलता मिलनी ही थी। परिणामत वह अधिक आत्मग्रस्त, अधिक अहग्रस्त हो उठा। अब अपनी अह–चेतना को पुष्ट करके ही वह जी सकता था।

मुक्तिबोध कहते है कि ' इस भाव–भूमि को लेकर सन् 1940–43 के काल की उन कविताओ का आविर्भाव हुआ, जिनमे से कुछ ' तार सप्तक ' मे सग्रहीत है। इन कविताओ की विशेषता यह थी कि इन्होने छायावादी मानदण्ड स्वीकार नही किए। नये यथार्थ ने, नये प्रतीक और नयी उपमाऐ प्रदान की। 3

बनी बनायी परपरा के खिलाफ बगावत करना आसान तो नही होता, उसे पुरानी परंपरा से मोर्चा लेना होता है और साथ ही साथ स्थानापन्न नये की प्रकृति को भी स्पष्ट करना होता है–सच्ची ईमानदारी के साथ, जिससे आगत, आगन्तुकों को स्वागत किया जा सके–यही नयी कविता के भी साथ हुआ। उस समय और स्थिति के बारे मे बताते हुए मुक्तिबोध कहते है कि ' तार सप्तक ' के प्रकाशन की ओर तीन–चार बडे आदमियो को छोडकर भद्र साहित्य मे किसी का ध्यान आकर्षित नही हुआ किन्तु पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी , इलाचन्द्र जोशी और रामचन्द्र टण्डन ने विशेष लेख लिखे और उसका खूब स्वागत किया। किन्तु वह काल ' बच्चन' , अंचल, नरेन्द्र और बाद मे शिवमगल सिह सुमन का काल था। 4 फिर भी ' तारसप्तक ' नये लेखको मे खूब प्रचलित हुआ। । तारसप्तक ने उन नये लेखकों के लिए पार्श्वभूमि भी

पैदा कर दी थी। एक तरफ तारसप्तक के लेखक स्वय अपना विकास कर रहे थे तो दूसरी ओर मासिक पत्रो ने प्रकाशन का दरवाजा उनके लिए बन्द कर रखा था। स्वाधीनता –पूर्व के काल मे बहुत जोर से ' नयी कविता ' बढी है, लेकिन वह अलग –ढग से बढी है। ' नयी कविता ' के उत्थान या आरभ का श्रेय 'स्वाधीनता –पूर्व के काल मे एक व्यक्ति को देना अनैतिहासिक होगा। हम लोग किसी के प्रभाव मे नही थे, न हम किसी को प्रभावित कर रहे थे। [5]

' तारसप्तक ' के प्रकाशन सन 1956 तक उसके चार कवि प्रगतिवादी थे और दो कवि प्रगतिवाद से प्रभावित हुए। एक केवल श्री अज्ञेय प्रगतिवादी न हो सके–यह भी ध्यान देने की बात है कि साधारण रूप से ' तारसप्तक' मे सग्रहीत कविताये सन 42 के उत्तरार्द्ध के पूर्व की ही कविताये है। इसलिए उन कविताओ मे पूँजीवाद के विरूद्ध क्षोभ के बावजूद व्यक्ति –चेतना का ही प्राधान्य है। साथ ही काग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनने के अनन्तर सन 42 तक वामपक्षी विचारधारा युवको मे फैल चुकी थी। 6

प्रथम तारसप्तक और द्वितीय तारसप्तक के भेदगत अन्तर को स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध कहते है – दूसरा सप्तक निकलने तक परिस्थिति बदल चुकी थी ' नयी कविता का टेकनीक प्रचार पा चुका था। जिन व्यक्तिगत और सामाजिक –राजनैतिक स्थिति परिस्थितियो से तारसप्तक वालो को जूझना पडा वे परिस्थितिया दूसरा तारसप्तक वालों के पास न थी। जिन प्रश्नो को तारसप्तक मे उठाया गया उनका विकास भी दूसरा सप्तक मे न हो पाया।

वे आगे भी बताते चलते है कि – ' तारसप्तक के कवियों मे वर्तमान दु स्थिति के भाव से ग्रस्त रहने की मनोदशा के कारण उत्पन्न नकारवादी नैराश्यमूलक निवेदन, राजनैतिक विरोध, सामाजिक व्यग्य, व्यक्ति के भीतर के वास्तविक अन्तर्विरोध जिनके स्पष्टीकरण का बहुत बडा सामाजिक महत्व है। व्यक्ति –चेतना का आभ्यन्तर विकेन्द्रीकरण जो समाज मे स्पष्टलक्षित होता है

सामाजिक क्राति के प्रति निष्ठा, मनुष्य की उन्नयनशीलता के प्रति आस्था और विश्वास दृष्टिगोचर होती है। दूसरा सप्तक मे न इतना सामाजिक व्यग्य है और न राजनैतिक विरोध और न इतना निषिद्ध आत्म –चेतना । 7

उसके विपरीत , उसमे मनोहर प्राकृतिक दृश्याकन , निसर्ग सौन्दर्य का अनेक रूपो मे चित्रण वातावरण के अनुसार सुधार रेखाचित्र और काव्य–शिल्प की रमणीयता के दर्शन होते है। दूसरा सप्तक वालो का टेकनीक सधा हुआ है और उनके काव्य–विषय भी अपेक्षाकृत सरल है। सामाजिक व्यग्य, प्रगतिशील प्रवृत्ति और राजनैतिक स्वर क्षीण है और वह भी सिर्फ गूॅज भर है। तारसप्तक वालो ने जितने मनोभावो को और मनुष्य दशाओ को मथा है उतना दूसरा सप्तक वालो ने नही। 8

मुक्तिबोध बताते है कि जो वाम पक्षी विचारधारा हस के जरिए हिन्दी साहित्य क्षेत्र मे फैल रही थी उस वामपक्षी विचार आवर्ती ने दो प्रकार के लेखक पैदा किए–एक वे जो सीधे–सीधे राजनैतिक विचार–प्रवाह के साहित्यिक रूपान्तर थे। और दूसरे वे थे जिन्होने छायावादी साहित्यिक आदर्शो और मनोदशाओ के विरूद्ध तीव्र प्रतिक्रियाए की थी। यह दूसरे प्रकार के लेखक सन 1939 के आस –पास से ही छायावादी –आदर्शवादी भूमि के वैचारिक दृष्टि त्याग रहे थे। उनमे सबसे महत्वपूर्ण विरोध केवल एक बात को लेकर था कि छायावाद ने अर्थ–भूमि को संकुचित कर दिया। सौन्दर्य, दुख कष्ट लक्ष्यादर्श, क्रोध, क्षोभ आदि का जो चित्रण छायावाद मे हुआ वह वास्तविक मनोदशाओ का नही वरन् कल्पित , दुख, कष्ट, क्रोध आदि का है। अत छायावादी मनोदशा वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व नही करती –वह जो जीवन जिया जाता है उसकी करूणा वास्तविक करूणा नही है।9

यही है वह मूल प्रतिक्रिया जो नई कविता ने उन दिनो छायावाद के विरूद्ध की थी । अतएव नई कविता का जन्म छायावादी व्यक्तिवाद के विरूद्ध

यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद की ही बगावत थी। यह बगावत इसलिए सभव थी कि देश की बिगडी हुई दशा मे मध्यम वर्ग के साधारण व्यक्ति का जीवन असह्य हो उठा था। आशय यह है कि नयी कविता की वैचारिक भावभूमि छायावाद के समय से ही तैयार होने लगी थी या यूँ कह लिया जाय कि नयी कविता के 'उत्स' छायावाद मे ही देखने को मिल सकते है।

नयी कविता की दूसरी बद्धमूल धारणा यह थी कि 'छायावाद जीवन के प्रश्नो को भावुकता –प्रधान, कल्पनामूलक , आदर्शवादी दृष्टि से देखता है अर्थात हर चीज का कल्पना –प्रवण आदर्शीकरण और उदारीकरण , इस प्रतिक्रिया का फल यह हुआ कि नयी कविता जीवन की समस्याओ की बौद्धिक दृष्टि से देखने और मिटाने के लिए छटपटाने लगी और चित्रण पद्धति बौद्धिक हो उठी। 10

चूकि नयी कविता कल्पना–प्रवण भावुकतापूर्ण, वायवीय, आदर्शवादी व्यक्तिवाद के विरूद्ध यथार्थवादी व्यक्तिवाद की बगावत थी इसलिए उसमे –1 बौद्धिकता की यथार्थवादी आत्मचेतना और 2 व्यक्तिवाद का आत्मकेन्द्री स्वरूप अर्थात् वास्तविक सुखदुख की सामाजिक पार्श्वभूमि और ऐतिहासिक शक्तियो के प्रति सघन रागात्मक सम्बन्ध की क्षीणता पायी जाती है।

मुक्तिबोध बताते है कि – ' ध्यान रहे कि इन्ही दो मूलभूत बातो से शेष सब बाते या विशेषताये प्रादूर्भत होती है। '' 11

मुक्तिबोध कहते है कि आज की कविता पर्सनल सिच्युएशन की , स्वस्थिति की कविता है। किन्तु अब जिन्दगी का यह तकाजा है कि वह अपनी इस निज –समस्या को वर्तमान युग की मानव सन स्थानो के रूप मे देखे और उन्हे वैसा चित्रित करे। 12 क्योंकि एक कला–सिद्धान्त के पीछे एक विशेष जीवन दृष्टि हुआ करती है, उस जीवन दृष्टि के पीछे जीवन–दर्शन होता है और जीवन –दर्शन के पीछे आजकल के जमाने में, एक राजनैतिक दृष्टि भी

रहती है। 13 इसीलिए कलाकार के लिए तीन प्रकार का सघर्ष करना आवश्यक है। पहला –सुन्दर कलाकृति की रचना के लिए अभिव्यक्ति का सघर्ष , दूसरा –कलात्मक चेतना के अगरूप सवेदनात्मक उद्‌देश्यो के अनुसार जीवन–जगत मे भीगने, रमने , अपने को निज –बद्धता से अधिककाधिक दूर करने और अधिकाधिक मानवीय बनाने के लिए आत्म –सघर्ष , तीसरा –वास्तविक जीवन के बुनियादी तथ्यो के कारण बनने वाली हलचलो को जिन्दगी के अलग –अलग ढग के तानो–बानो का तजुर्बा हासिल करने के लिए, मानव–समस्याओ को (गहराई से ज्ञानात्मक और सवेदनात्मक रूप मे) अनुभूत करके मानवता के उदार –लक्ष्यो से एकाकार होकर, वास्तविक जीवन अनुभवो की समृद्धि प्राप्त करने के हेतु।

मुक्तिबोध की दृष्टि मे ' सच्चे मनीषी कलाकार के जीवन मे ये तीनो सघर्ष एक साथ स्वाभाविक रूप से चलते रहते है फलत कलाकार का जीवन पीडा से ग्रस्त जीवन होता है, केवल सृजन–पीडा से नही अपितु अन्य पीडाओ से भी। 14 चूकि नयी कविता उस प्रकार की आयवरी टॉवर की रोमैण्टिक स्वप्नशीलता की , एकान्त प्रिय आत्म–रतिमय आध्यात्मिकता की कविता नही है जैसे की पुराने रोमैण्टिक युग की हुआ करती थी। वह मूलत एक परिस्थिति के भीतर पलते हुए मानव हदय की पर्सनल सिच्युएशन की कविता है। इसीलिए उसमे कही आत्मालोचन है तो कही वाह्य स्थिति –परिस्थिति और समय पर व्यग्य है, तो कही जीवन–आलोचना है। यहॉ तक की उसमे जहॉ रोमैण्टिक रग है वहॉ भी व्यक्ति –स्थिति –परिस्थिति का दबाव या उभार है। उस विस्तारित अवस्था के या फैलाव के बारे मे मुक्तिबोध का कहना है ' यह पर्सनल सिच्युएशन यहॉ तक बढ गई है कि बहुतेरे कवियो ने उसे व्यक्त करने के लिए अपनी एक निजी अभिव्यक्ति शैली और प्रतीक –सपदा भी बढा ली है। 15 लेकिन यह स्थिति घातक भी हो सकती है स्वंय

मुक्तिबोध पैटर्न बनाकर वे इतनी जडी भूत हो गये है कि कविगण एक दूसरे की गइराईयो को सचमुच नही समझ पाते । 16

मुक्तिबोध के विचार से नयी कविता मे तनाव और घिराव का एक वातावरण है और यह उस द्वन्द्व के फलस्वरूप है या यूँ कहिए कि उन द्वन्द्वानुभवो से परिणाम के रूप मे है कि जिन द्वन्द्वानुभवो की पूर्ण व्याख्या करने मे वे असफल है या हम असफल है। यह तनाव और घिराव तो है ही किन्तु उनके सारे सामाजिक गर्भितार्थ निकालने के लिए जो विद्रोहशील मनस्विता या क्रातिकारी विश्व–दृष्टि चाहिए, वह अभावरूप मे अथवा क्षीण दयारूप मे स्थित है। 17 आशय यह कि नयी कविता मे केवल तनाव ही नही अपितु घिराव भी है। वस्तुत नयी कविता ऐसे मध्यवर्ग की कविता है जिसने पुरानी श्रद्धाऐ तो छोड दी है किन्तु नयी श्रद्धाऐ विकसित नही की है। भले ही वे मानवीय आस्था की बात करे, सच तो यह है कि उनकी मानवीय आस्था न केवल बहुत वायवीय है, वरन् उसकी प्रवृत्तियॉ ऐसी है जो उन्हे उन मानव–सम्बन्धो की ओर ले जाती है कि जो मानव–सम्बन्ध पूँजीवादी वर्ग के होते है।

फलत उनके काव्य मे तनाव का जो वातावरण है वह किसी विद्रोह का सूचक नही है। साथ ही अब तनाव का यह वातावरण कुछ कवियो मे प्रणय–प्रेम के ढाचे मे बदल रहा है। इस सम्बन्ध मे हमे सिर्फ इतना ही कहना है कि 'यात्रिक रूप से लागू किए गये सिद्धान्त जिस प्रकार असफल हो उठते है उसी प्रकार जिनके पास यह दृष्टि है वे भी असफल हो जाते है। कारण है अपने दैनिक सवेदनशील जीवन को अनुशासित करने वाली, व्याख्या करने वाली, कर्म की ओर प्रवृत्त करने वाली भावावेश उत्पन्न करने वाली केन्द्रीय आस्था का अभाव है। 18

यह बात पहले भी व्यक्त की जा चुकी है (काव्यन्दोलन और कविता के सम्बन्ध मे) कि 'काव्य का मनस्तत्व भीतर की अर्नृत्य–व्यवस्था का ही एक

भाग है जो बाहर के धक्के से तरगायित ,उद्घाटित और आलोकित होकर काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए छटपटा उठता है। कविता या तो वाह्य से सामजस्य व्यवस्थित करती है या द्वन्द्व अथवा इन दोनो का समिश्ररूप । नयी कविता मे बाह्य से द्वन्द्व के फलस्वरूप उत्पन्न तनाव का ही वातावरण अधिक है। " मुक्तिबोध या मानते है कि निम्न –मध्यवर्ग अपनी अवसरवादिता के कारण भले ही विचार भावो की नोक –भोथर कर ले। उसके द्रव्य मे व्याप्त जो मानव–स्थितिया, मानव –सम्बन्ध और मानव मूल्य है वे उसके हदय मे उस तनाव की सृष्टि करते है कि जो तनाव बाह्य जीवन जगत मे उसकी और उसके वर्ग कर स्थिति के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। 19 नयी कविता मे यह तनाव प्रगाढ रूप से पाया जाता है। साथ ही इस वर्ग की कृतियो मे यत्र–तत्र स्पष्टत अथवा साकेतिक रूप से उपस्थित प्रगतिशील तत्व भी मिलते है।

ये तनाव ऐतिहासिक तनाव है – ऐतिहासिक इस दृष्टि से कि समाज के भीतर चलने वाली जीवन '–प्रक्रियाओ का वे महत्वपूर्ण अग है। इन तनावो का मर्म समझना, उनको उनके वास्तविक सन्दर्भ मे देकर सवेदनात्मक ज्ञान के हार्दिक माध्यम द्वारा काव्य मे (अथवा उपन्यास आदि में) प्रकट करना लेखक का ऐतिहासिक कार्य है। 20

मुक्तिबोध स्पष्ट भाव से यह इंगति करते है कि गरीब –श्रेणी के परिवारो मे भी (1) सामन्मी प्रभाव 2 व्यक्ति स्वातत्रयवादी नयी पीढी और 3 पुरानी और नयी पीढी को अपने अजगर –पाश मे बाधने वाली एक सी दु स्थितियॉ होने के कारण , नये मूल्यो का सघर्ष पेचीदा हो जाता है। 21

वैसे भी भारत की पूरी ऐतिहासिक स्थिति ही ऐसी है कि गरीब वर्ग अधिकाधिक गरीब होते जा रहे है और अमीर वर्ग अधिकाधिक श्रीमान। मध्यवर्ग की खाती–पीती शिष्ट श्रेणी उसी वर्ग की गरीब श्रेणी के बीच भयानक खाई

पडी हुई है जो दिन–व –दिन बढती जा रही है। ये गरीब श्रेणी अब इस नतीजे पर पहुँच रही है कि उसका पूरा उद्धार सभी गरीब –वर्गो की मुक्ति के साथ है, उनसे अलग हटकर नही। फलत उस वर्ग से उत्पन्न और इस वर्ग से तदाकार लेखक अपनी परिस्थितियो से जूझता हुआ उन्ही भाव स्थितियो को व्यक्तिगत धरातल पर प्रकट करता है जो उस वर्ग की अपनी होती है। लेखक की ये भाव–स्थितिया अपनी श्रेणी की परिस्थितियो की पेचीदगियो से पैदा हुए विविध तनावो से उत्पन्न होती है। किन्तु साथ ही जीवन के अधिकाधिक अनुभव के फलस्वरूप उसकी सवेदनात्मक ज्ञान–क्षमता गहरी और विस्तीर्ण होती है और वह –यह पाता है कि केवल सामन्ती प्रभाव ही (जिससे जूझने के कारण उसमे स्नेह–सम्बन्ध तोडे–मरोड गये है) परिवार के अन्दर बाहर उसकी परिस्थिति खराब होने का एकमात्र मूल कारण नही है वरन् उसके मूल मे और भी तथ्य है जिसे धन यानि आर्थिक क्षमता और तज्जन्य और तनदुषगी सामाजिक प्रतिष्ठा कहा जाता है। जिसे समाज मे जीवन की सफलता, (घोषित –अघोषित रूप से) कहा जाता है तथा परिवार के अन्दर उसी की दृष्टि से और उसी आधार पर ऊँच –नीच की कल्पना, सफलता–असफलता की कल्पना घर किये बैठी है। 22 आशय यह है कि जितना– जितना उसका अनुभव बढता जाता है, वह इस नतीजे पर पहुँच जाता है कि व्यक्तिगत आर्थिक क्षमता और सामाजिक –पद प्रतिष्ठा के पुजारियो का कार्य इस बात का प्रमाण है कि हमारा समाज निकृष्ट किस्म के इस सिद्धान्त पर आधारित है कि प्रत्येक् व्यक्ति केवल अपने लिए , दूसरो को चूल्हे मे जाने दो – इस सिद्धान्त की पुष्टि , उसका अपना अनुभव, अपना जीवन करता है। अनुभव में ज्ञान के अधिकाधिक विकास के साथ उसे यह भी दिखाई देने लगता है कि वर्तमान समाज–प्रणाली दूषित है, पूँजीवादी है। चाहे जितने लोग उसे सुधारने का प्रयत्न करे– इस समाज के मूलाधार बदले बिना सुधर नही सकती। लेकिन इस ईमानदारी, लगन और तत्परता के बारे मे

मुक्तिबोध कहते है इस ज्ञान तक आते–आते तनावो की दुनिया मे रहने वाला व्यक्ति अपनी आधी शारीरिक और मानसिक शक्ति खो देता है। पच्चीस वर्ष की आयु होने के बाद, जब नयी आशा और नये उत्साह की रचनात्मक आवश्यकता होती है तब वह वृद्ध हो जाता है। आजीविका का सघर्ष उसे पछाड देता है, स्नेह की भूख उसे दबा देती है। ज्ञान की पिपासा जाग्रत होते हुए भी ,उसके साधन, उसके पास नही होते। इसलिए उसके स्थायी भाव, क्षोभ, घृणा अविश्वास तिरस्कार रहते है और साथ ही , स्नेह सम्बन्धो क निर्वाह का अनुरोध , अपने व्यक्गित सघर्ष को सामाजिक सघर्ष मे बदलने की लालसा और तत्सम्बन्धी जिज्ञासा पैदा हो जाती है। यह भावुक से अब बौद्धिक होने लगता है। 23 नतीजा यह होता है कि मनुष्य –सत्य का जो अर्थ वह लेता है मानवीयता का जो अर्थ उसके द्वारा ग्रहण किया जाता है वह अर्थ से कुछ भिन्न होता है। 24 मुक्तिबोध के अनुसार अपने साहित्य की जीवन–भूमि मे ऐसे लोग मुख्यत. तीन बातें अर्जित करते है –

क व्यक्तिगत संघर्ष को सामाजिक सघर्ष मे बदलने की प्रक्रिया और सामाजिक –सघर्ष मे व्यक्तिगत –सघर्ष का महत्व ।

ख नये मानवतावादी मूल्यो के लिए किए जाने वाले सघर्ष मे चरित्र का महत्व वैज्ञानिक विचारधारा का महत्व, जिस पर उसकी विश्व–दृष्टि के विकास के महत्व–इस विश्व–दृष्टि मे चरित्र की मानवीय मनोहरता और सुदृढता भी शामिल है।

ग अनुभवजन्य तथा विचारधारा ज्ञान की प्राप्ति का अनुरोध

सारांशत व्यक्तित्व को अब ऐसे गुणो की आवश्यकता होती है जो नये मानवीय मूल्यो की नयी–नयी मंजिलों तक पहुँचने के संघर्ष मे टिकने के लिए उसे सक्रिय सहायता कर सके, उसे जीवन ज्ञान की गहराई दे सके और उस

ज्ञान के कार्यात्मक तकाजो की पूर्ति के लिए आवश्यक हार्दिक , बौद्धिक और कार्यात्मक क्षमता प्रदान कर सके। 25

इस प्रकार अपने विकास मे इस श्रेणी के व्यक्ति की दो प्रतिक्रियाए परिलक्षित होती है। एक सामन्ती प्रभावो और प्रतिच्छायाओ के विरूद्ध व्यक्ति–स्वातत्रय भावना से सचालित प्रतिकियाऐ। दूसरे आर्थिक , सामाजिक व्यक्तिवाद के विरूद्ध , यानी तदनुषगी समस्त विकृतियो के विरूद्ध(चाहे से समाज –रचना से सम्बन्धित हो या व्यक्ति से) मानव–मुक्ति और मानव –गरिमा की भावना से सचालित प्रतिक्रियाऐ। जिसे देखकर प्राय यह कहा जाता है कि नयी कविता की जन्म सघर्षो और तनावो से उत्पन्न विभिन्न भाव–स्थितियो से हुआ और साहित्य की वास्तविक जीवन–भूमि (जो इन्होने पायी हैं) वस्तुत उनकी कविता से अधिक सम्पन्न गरिमागय, वैविध्यपूर्ण और नये मूल्यो से समन्वित है। लेकिन मुक्तिबोध इस सम्बन्ध मे अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहते है नयी कविता तो तनावो के मनोविज्ञान का भी पूर्णत बिम्बित नही कर पाती सवेदनात्मक ज्ञान–क्षमता और अनुभव –सामर्थ्य की रौ से स्वय सम्पन्न होते हुए भी लेखक तनावो के अत्यन्त लघु, अत्यन्त अल्प क्षेत्र को ही कविता मे प्रतिबिम्बित कर पाता है। 26

आशय यह कि वास्तविक जीवन मे महान भावनाऐ जो मूर्त होती है और बराब अनुभव की जाती है (वह लेखक का मानव –सामर्थ्य हैं) नयी कविता मे बिम्बित नही हो पाती। कही–कही, इधर–उधर ऐसी मानसिक प्रतिक्रियाओ के खण्ड–चित्र भले ही दिखायी देते हो। रचनाकार के इस तरह गैर–जिम्मेदारना व्यवहार के बारे मे मुक्तिबोध कहते है – इसका एक कारण जो मुझे सूझ पडता है, वह यह है कि कविता ऐसे लोगो के लिए प्राइवेट चीज हो गयी है। . ...अर्थात् वह अपने भीतर के मानव–सामर्थ्य की ऊचाइयो के प्रति कला के क्षेत्र मे अनुत्तरदायी व्यवहार करता है। 27

इससे स्पष्ट होता है कि नयी कविता मे नये मूल्यो के सघर्ष के तनावो के , तथा मानव आस्था के मनोवैज्ञानिक चित्र कितन कम है, यह किसी से छुपा नही है। बडी –बडी राजधानियो मे रहने वाले युवा साहित्यिको की महत्वपूर्ण कविता मे, साबुन और टॉयलेट के रोमास से लगाकर तो न जाने किन–किन श्रृगारिक वृत्तियो को (शहरी उच्चवर्गीयो की अभिरूचि का) सम्मोह दिखायी देता है। 28ऐसी कथनी और करनी पर असन्तोष व्यक्त करते हुए मुक्तिबोध कहते है –खेद है कि मानव –मुक्ति की राजनीति की महान मनुष्यता का विश्वदर्शी काव्य हिन्दी मे नही आ सका, इसके विपरीत इन सारे लक्ष्यो का समवाय एक ही सूत्र मे है और वह , वस्तुत है मानव मुक्ति, जिसके अन्तर्गत जीवन के सभी पक्ष आ जाते है चाहे वह श्रृगार हो या राजनीति। हर पक्ष मे मुक्ति का सघर्ष है। कोई भी पक्ष इससे खाली नही है। . . इस संघर्ष के द्वन्द्वो को पहचानना, उसके मनोवैज्ञानिक तुत्वो का चित्रण करना क्या नयी कविता का , नये साहित्य का कर्त्तव्य नही है ? काव्य मे नये जीवन–मूल्यो की सस्थापना के लिए हमे प्रयास करना ही होगा, यह निसन्देह है। .

लेकिन आत्मगत और बहिर्गत यथार्थ की दृष्टि से ही देखा जाना जरूरी है। 30 मुक्तिबोध कहते है कि हॉ यह सही है कि नयी कविता की भी आलोचना हो सकती है, और खूब हो सकती है। लेकिन कब ? जीवन –यथार्थ के वृत्ति सवेदनशील होकर ही ,उसमे संवेदनात्मक सूक्ष्म –दृष्टि रखकर ही , वह हो सकती है, अन्यथा नहीं। 31 प्रगतिवाद ने मनुष्य जीवन का केवल राजनैतिक पक्ष उठाया। एकागी हो जाती है तो उसके लिए यह कल्याणकर सिद्ध नही होगा। 32

आज बहुत –से कवियो के अन्तकरण मे जो बेचैनी, जो ग्लानि, जो अवसाद जो विरक्ति है उसका एक कारण (अन्य कई कारण है) उनके एक ऐसी विश्व–दृष्टि का अभाव है कि जो विश्व –दृष्टि उन्हे आभ्यन्तर आरभिक

–शक्ति प्रदान कर सके। ऐसी विश्व–दृष्टि अपेक्षित है, जो भाव–दृष्टि का , भाषा का भावात्मक जीवन को अनुशासित कर सके। 33 लेकिन आज के जीवन के जो बुनियादी तथ्य है उनके वास्तविक तर्क–सगत निष्कर्षो और परिणामो की ओर जाने मे हमे डर मालूम होता है कि कही कोई हमे राजनैतिक न कह दे , कही कोई हमारी कविता को गद्यात्मक न कह दे। मुक्तिबोध कहते है कि –इस साहसहीनता का मूल कारण है वह चरित्रहीन, जिसे हम अवसरवाद कहते है। यह अवसरवाद अत्यन्त सूक्ष्म और तीव्र रूप धारण कर अन्त करण मे पैदा हुआ। वह हमे साफ–साफ कहने नही देता। 34

यही कारण है कि कविता मे आज जो निज –समस्या अकित होती है वह वास्तविक सन्दर्भो से हीन होने से मानव –सभ्यता का रूप धारण नही कर पाती। यह आध्यात्मिक हास के फलस्वरूप उत्पन्न उस अन्धदृष्टि के कारण है कि जो दृष्टि जीवन–जगत के बदलते हुए कैनवास पर , उसकी पार्श्व–भूमि मे, निज–समस्या को नही कर पाती। उस निज समस्या को व्यापक महत्व और व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान नही कर पाती कि जिससे वह वस्तुत एक जीवन्त मानव –सभ्यता के रूप मे इस प्रकार प्रस्तुत हो कि पाठकों की दृष्टि , उस निज समस्या को मानव सभ्यता के रूप मे देखे और मानव– सभ्यता की खिडकी मे से जीवन–जगत का पर्यावलोकन करे। नये कवियो के सामने आज जितनी समस्याऐ है उतनी कदाचित उनके पूर्वजो और अग्रजो के सामने न थी। आज की दुनिया मे बैठा हुआ आज का मनुष्य विरोधी, अनुकूल अथवा भिन्न– भिन्न प्रतिक्रियाएं करता हुआ जिस ढंग से उसकी सवदेनाओ के इतिहास की शैली बनकर, उसके चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण या सहार करता हुआ, उसके जीवन को एक विशेष प्रकार का रूपाकार, एक विशेष प्रकार का डिजाइन , देता चलता है। 35

मुक्तिबोध यह मानते है कि आज की नयी कविता के भीतर जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया लक्षित होती है वह नि सन्देह छायावादी या प्रगतिवादी अथवा उसके पूर्व की काव्य –प्रक्रिया से बिल्कुल भिन्न है। रोमैण्टिक कवियो की भाति आवेशयुक्त होकर आज का कवि भावो के अनायास, स्वच्छन्द अप्रतिहत प्रवाह मे नही बहता। इसके विपरीत वह किन्ही अनुभूत मानसिक प्रतिक्रियाओ को ही व्यक्त करता है। कभी वह इन प्रतिक्रियाओ की मानसिक रूपरेखा प्रस्तुत करता है और कभी वह उस रूप–रेखा मे रग भर देता है। 36 इसीलिए आज की नयी कविता मे तनाव का वातावरण है। यह तनाव भले ही विभिन्न क्षेत्रो को यथा–प्रणय जीवन को , अपूर्ति ग्रस्त व्यक्तिमानस को तो कभी–कभी आत्मालोचन के स्वर मे फूट पडता है तो कभी वह मात्र नपुसक अहकार का विस्फोट बनकर प्रकट होता है। वैसे भी बहुत थोडा ऐसा काव्य होगा जिसमे यह वातावरण न हो। कभी–कभी तो स्वय कवि अपने मन के भीतर के उस तनाव को सामाजिक प्रश्नो के साथ जोड देता है और बिना हिचक , बडे शान से वह सभ्यता के प्रश्न भी उपस्थित करता है। आशय यह है कि नयी कविता, वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्म–चेतना व्यक्ति की प्रतिक्रिया है। चूकि आज का वैविध्यमय जीवन विषम है और आज की सभ्यता हासग्रस्त है इसलिए आज की कविता मे तनाव होना स्वाभाविक ही है। साथ ही साथ नयी कविता के भीतर कई स्वर है, सुकोमल तीव्र गीतात्मक स्वर है तो दूसरी ओर तीव्र आलोचना का स्वर भी। वस्तुत किसी भी युग का काव्य अपने परिवेश से या तो द्वन्द्व रूप मे स्थित होता है या सामजस्य के रूप मे। मुक्तिबोध की दृष्टि मे नयी कविता अधिकतर द्वन्द्व रूप मे उपस्थित है या आन्तरिक द्वन्द्व वस्तुत बहुत बार उसके भीतर नयी आवश्यकताओ के अनुसार व्यक्तित्व के नये रूपायन के अनुरोधों और पुराने मूल्यों के अनुसार बने हुए आन्तरिक चरित्र के बीच द्वन्द्व होता है। पुराने मूल्यो और नये मूल्यों का आन्तरिक संघर्ष कहॉ तक सफल होता है यह व्यक्ति की अपनी तेजस्विता और आत्मबल पर निर्भर है।

यह द्वन्द्व सब मे समान रूप से तीव्र ही हो यह आवश्यक नही, लोग सघर्ष के अलग–अलग स्तरो पर पहुँचकर रूक जाते है। नतीजा यह होता है कि कुछ पुराने मूल्य साथ–साथ चले–चलते है और कुछ नये मूल्य आत्मसात हो जाते है 37

नयी कविता की वकालत करते हुए मुक्तिबोध कहते है –विगत दो दशाब्दियो से हिन्दी कविता ने जो रग पकडा है उससे घबराकर बहुतो ने अलग–अलग कोणो से उसका विरोध भी किया किन्तु आज यह प्रकट सत्य है कि नयी कविता को साहित्य के मैदान से कोई भी नही हटा सकता । .
उसके भीतर अनेक शैलियॉ, अनेक भावधाराऐ अनेक वैचारिक दृष्टियॉ काम कर रही है। प्राकृतिक सौन्दर्य और स्नेह भावना से लेकर सभ्यता –समीक्षा तक, जो –जो भाव –श्रेणिया सभव हो सकती है वे सब सम्मिलित है। 38

फिर भी नयी काव्य–प्रवृत्ति अभी तक पण्डितो, आचार्य प्रवरो द्वारा और आलोचक–वरेण्यो द्वारा हृदयगम नही हो सकी । 39 जबकि वह अब हिन्दी साहित्य –क्षेत्र मे प्रधान –धारा बन उपस्थित हुई है। यही नही, अब वह कहानी –साहित्य को भी प्रभावित कर रही है। नयी कहानी नामक जो एक नये ढग की कहानी हिन्दी साहित्य क्षेत्र मे आ रही है, वह एक तरह से कहा जाये तो नयी कविता की देखा–देखी या उससे किसी न किसी प्रकार से प्रेरित नयी कहानी है। 40

ध्यातव्य है कि किसी भी अध्ययन–अनुशीलन के लिए प्रारभिक तथ्य अपनी समग्रता, अपनी सम्पूर्णता मे अपने मन के सामने उपस्थित करना आवश्यक है। फिर वह विज्ञान कोई भी है, शास्त्र कोई भी हो, इसमे सम्पूर्ण आत्मनिरपेक्षता , सतर्कता और जाग्रत दृष्टि आवश्यक है, साथ ही मार्मिकता भी आवश्यकता है। यथार्थ के व्यक्त रूपो की अर्थात तथ्यो की अगर गलत तस्वीर खडी की (अपने पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होकर, स्वंय आत्म–ग्रस्त होकर) तो ऐसी स्थिति मे

आपकी जाग्रत दृष्टि आपके पूर्वाग्रहो के रग मे रग जायेगी। इसका परिणाम यह होगा कि तथ्यो के केवल एक पक्ष या अग को ही आप देख सकेगे, विभिन्न पक्षो को नही देख सकेगे, समग्र को नही देख पायेगे और अपने देखे हुए उस एक अग को ही समग्र समझने लगेगे अथवा उस एक अग को ही आप सर्वप्रधान मानने लगेगे, सारभूत मानने लगेगे। इसका परिणाम यह होगा कि आप गलत तस्वीर खडी करेगे, आपका अध्ययन भी एकाकी होकर उसका प्रभाव, विश्लेषण पर ही होगा, विश्लेषण मे त्रुटिया रह जायेगी और मूल्याकन विकृत हो उठेगा। 41

मुक्तिबोध कहते है— नयी कविता के विरोधियो के निन्दा के तुच्छ भाव से प्रयोगवाद शब्द चला दिया। लेकिन हमारे पाठक यह जान ले कि नयी कविता, कविता है प्रयोग नही । अगर आज उसमे अधकचरापन दिखायी देता है तो यह तो नयी कविता की प्रारंभिक अवस्था का ही लक्षण है जैसा कि छायावाद मे भी था, या कि अन्य साहित्यिक प्रणालियो की प्राणालियो की अवस्था मे हो सकता है। 42

प्रभाव और भाव की अन्विति नयी कविता के टेकनीक की पहली शर्त है। और कल्पना तथा शैली के सम्बन्ध मे उसमे वैज्ञानिकता बरती जाती है। तथा भाव—तत्व के यथार्थ स्वरूप चित्रण को अत्याधिक महत्व दिया जाता है। इसका प्रधान कारण है नयी कविता का कवि, जगत और जीवन से वस्तुवादी यथार्थोन्मुख दृष्टि लेकर जन्मा है चाहे वह अपने मन के निगूढतम भावो की सूक्ष्म श्से सूक्ष्म छटाओ को प्रकृति रूपतामक उपादानो के द्वारा चित्रित करता हो, अथवा अपने मन की भाव—स्थितियो के विश्लेषण और चित्रण —व्यग और विद्रोह सभी सम्मिलित है। 43 सारांश यह कि नयी कविता मे कोई भी विषय नही छूटता। ध्यान मे रखने की बात सिर्फ इतनी है कि नयी कविता भाव या अनुभूति को , स्थिति या दृश्य को उसके मूर्त स्वरूप सत्ता मे पकडती है। कल्पना उसके लिए सिर्फ एक वैज्ञानिक अस्त्र है, जिसके जरिए अकन किया

जाता है। लेकिन , बावजूद इसके नयी कविता का विरोध अभी भी होता रहता है। यह विरोध कभी दबे और कभी खुले स्वर से कभी आदर्श के नाम से तो कभी भाषा के नाम पर होता ही आया है, अभी भी जारी है। 44

इस अवसर पर यह कहने मे कोई सन्देह नही कि नयी कविता एक मानसिक सवेदनात्मक प्रतिक्रिया है जो जीवन–परिवेश मे उपस्थित बातो के प्रति की गयी है। वह तीव्र मानसिक प्रतिक्रिया के रूप मे उपस्थित होने से ही उसकी लय गद्यात्मक है। वह मुख्यत पद्याभास गद्य है। उसका सौन्दर्य, उसकी गहराई और प्रभाव, न केवल उसकी तीव्रता मे है, वरन उसके व्यापक मार्मिक अभिप्राय से है। बशर्ते कि ऐसा व्यापक अभिप्राय हो। 45

कहने का तात्पर्य यह है कि जो प्रतिक्रिया व्यापक अभिप्राय रखती है– ऐसा अभिप्राय , जो हमारे जीवन तथ्यो या सत्यो को उद्घाटित करता है –तो उस स्थिति मे वह प्रतिक्रिया –विशेष सूचक शक्ति और महत्व रखती है। अर्थात् उसके सिग्नीफिकेन्ट है उसे निर्देश तत्व है लेकिन प्रयोगवादी नयी कविता मे सामाजिक –राजनैतिक पक्ष की प्रधानता न होने के कारण, प्रगतिवादीयो मे इतनी मानसिक तत्परता नही थी कि जो मानसिक तत्परता अपने कार्य द्वारा विस्तृत कला–समीक्षा तथा विस्तृत समीक्षा–साहित्य हमे प्रदान कर जाती। 46

वस्तुत आज की कवि एक असाधारण असामान्य युग मे रह रहा है। वह एक ऐसे युग मे है, जहॉ मानव–सभ्यता सम्बन्धी प्रश्न महत्वपूर्ण हो उठे है। समाज भयानक रूप से विषमताग्रस्त हो गया है। चारों ओर नैतिक हास के दृश्य दिखायी दे रहे है, नोच–खसोट, अवसरवाद, भ्रष्टाचार का बाजार गर्म है

मानव –सम्बन्ध टूट–फूट कर गये हैं, उलझ गये है। समाज मे शोषको उत्पीडको और उनके साथियो का जोर बढ गया है नयी कविता के क्षेत्र मे भी दो दल तैयार हो गये हैं। एक दल वह है जो उच्च–मध्यवर्ग का अग है,

दूसरे वे है जो निचले, गरीब , मध्यवर्ग से सम्बन्धित है। उनकी वर्गीय प्रवृत्तियो न केवल उनके काव्य मे, वरन साहित्य सम्बन्धी उनके सिद्धान्तो मे परीलक्षित होती है। 47

आशय यह है कि नयी कविता व्यक्तिमन की प्रतिक्रिया है। प्रथम उन्मेषकाल मे उसके पास आदर्शवाद था, सामाजिक विषमताओ को दूर करने के कार्य मे लगने के अतिरिक्त, विषमताहीन समाज व्यवस्था का स्वप्न और व्यक्ति –विकास की अनन्त सभावनाओ का स्वप्न भी उसके पास था। फलत यदि उसके काव्य मे समाज के वर्तमान पूँजीवादी समाज के प्रति क्षोभ और कष्ट भावना थी तो दूसरी और वैफल्य का मान भी था। किन्तु यह वैफल्य उसका व्यक्तिगत था । . . .. . यदि कवि अपनी आत्मपरक कविता मे अपनी व्यथा प्रकट नही करेगा तो फिर चाहे वह वास्तविक जीवन –समस्याओ से उत्पन्न है। 48 सक्षेप में काव्य–रचना उसके जीवन से सम्बद्ध है ऐसे जीवन से जो उसके काव्य की मूलभूमि है। अतएव वह अपने व्यक्तिगत सुख–दुख के परे जाकर खतरा मोल लेते हुए , राजनैतिक ,सामाजिक विषय की कविता लिखने के पहले उस क्षेत्र मे स्वत. कार्य करता है और उसके साथ राजनैतिक , सामाजिक विषय भी चुनता है।

मुक्तिबोध इस बात से सहमत है कि नयी कविता का प्रयोग वादी कविता की सबसे बडी हानि तो इस कारण हुई या हो रही है कि उसके रचयिताओ की समीक्षा ठीक–ठाक न हो सकी। यद्यपि कि नयी कविता के सामान्य विरोध या सामान्य समर्थन मे तो बहुत से लेख देखने मे आये और आते है किन्तु उसे विशिष्ट कवियो की रचनाओ की ऐसी समीक्षा , जिनसे कला सम्बन्धी समस्याऐ प्रस्तुत की जा सके, नही देखने मे आयी । 49

चूकि समीक्षा एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है और नयी कविता के क्षेत्र मे विभिन्न अभिव्यक्ति पद्धतियो और भाव परंपराओ का अविर्भाव हुआ इसलिए

उन सबकी समुचित व्याख्या और उन व्याख्याओ के आधार पर मूल्याकन करने के अतिरिक्त, कला–सम्बन्धी समस्याओ को मूर्त–रूप मे प्रस्तुत करना आवश्यक है। तभी अर्थात उस स्थिति मे, रचना'–प्रक्रियाओ के वैविध्य पर दृष्टि रखकर उनके स्वरूपो की विशिष्ट है–प्रवृत्ति विशिष्ट, व्यक्ति विशिष्ट उन सबकी व्याख्या और विश्लेषण किया जा सके।

मुक्तिबोध के विचार से–किसी जमाने मे प्रयोगवादी कविता प्रगतिवाद के अधिक निकट थी किन्तु प्रगतिवादियो ने उसकी खूब उपेक्षा की। 50 प्रगतिवादी तथा आदर्शवादी समालोचक पूरी तरह नयी काव्य–शैली के विरोधी है विरोध का उतना प्रश्न नही, जितना इस बात का कि यह विरोध वे बनते हुए साहित्य की जीवन–भूमि से असपृक्त रहकर, साहित्याकित जीवन और साहित्य–सृजन की वास्तविक मानवभूमि, इन दोनो के घनिष्ठ परस्पर–सम्बन्धो के स्वस्थ काा, उन दोनो के अपने–अपने विशिष्ट–विशिष्ट स्वरूप का, आकलन न करते हुए या छिछली–सतही दृष्टि से प्रगतिवादियो के व्यवहार द्वारा यह सूचित होता है कि वे मुक्ति–सघर्ष राष्ट्रप्रेम, प्रकृतिक सौन्दर्य, नारी–सौन्दर्य, यथार्थ आलोचन–भावना, आशा–उत्साह तथा सत्समान अन्य भावो को प्रगतिशील समझते है किन्तु शेष सब भावनाऐ जैसे भयनक, ग्लानि, निराशा–अनास्था, वैफल्य तथा इसी श्रेणी की अन्य भावनाऐ प्रतिक्रियावादी है। यह उनकी पसन्दगियो से,त्र उनके व्यवहार से, उनकी बातचीत ढग से और उनके सम्पादकीयो अथवा लेखो से सूचित होता था। इस प्रकार लगता था मानो वह एक योजनावद्ध विभाजनीकरण हो।

मुक्तिबोध के विचार से नयी कविता की अपनी कोई दार्शनिक धारास या विचारधारा नही रही। वह तरह–तरह के झकावो, दृष्टियो और विचारों का ढेर बन गया। लगभग सभी कवियो मे विकसित विश्व–दृष्टि का अभाव है, सागोपाग विचारधारा का अभाव है। अगर किसी मे कोई विश्व–दृष्टि है भी, तो वह ऐसी स्थिति में है कि वह उसकी भाव–दृष्टि का अनुशासन, प्राय नही कर

सकती। 52 इस रिक्तता दार्शनिक धारा का उत्तर देते हुए वे कहते है लेखक–कलाकार के लिए यह आवश्यक नही है कि वह समग्रता पूर्ण किसी विश्व–दृष्टि का विकास करे। यह काम दार्शनिको, चिन्तको तथा अन्य विचारको का हो सकता है लेखक–कलाकार का नही। इसी सिलसिले मे ऐसे साहित्य युगो की ओर भी सकेत किया जा सकता हे जबकि किसी दार्शनिक धारा को लेखक–कलाकार ने अपनी कला का आधार नही बनाया, नही ही बनाया जैसे हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य अथवा कहिए वीरगाथा काल।53

लेकिन यह कहा जायेगा और कहा जा सकता है कि नयी कविता, वस्तुत एक नयी तर्ज है, नया काव्य प्रकार है और उसमे विभिन्न विश्व–दृष्टियो या विचारधाराओं को स्थान प्राप्त है फिर भी यदि वैसी विचारधाराओ उसमे नही आ पाती है तो इसका कारण यह है कि समाज ने उन विचारधाराओ के लिए फिलहाल कोई उपाजाउ जमीन तैयार नही की है। यदि तैयार भी की होती तो यह आवश्यक नही कि कलाकार किसी बॅधे–बधाऐ वैचारिक ढॉचे को अपनी कला की श्रेष्ठता उपस्थित करने के लिए यौगिक रूप से उसे स्वीकार करे।

मुक्तिबोध बताते है कि किसी भी कलाकृति मे लेखक भी जीवन दृष्टि प्रकट होती है। भले ही लेखक जाने या न जाने, उसी जीवन दृष्टि के भीतर और उसके आस–पास जीवन–जगत–सम्बन्धी तरह–तरह की धारणाऐ और विचार होते है। यह भी एक तरह की विचारधारा ही है, जिसे हम पूर्णत सुसम्बद्ध, सुसगत वैचारिक व्यवस्था भले ही न कहे।54 वे आगे बताते है– यदि कवि अपनी आत्मपरक कविता मे अपनी व्यथा प्रकट नहीं करेगा तो फिर काहे मे करेगा। उसकी उदासी, और विफलता रोमैण्टिक नही है वरन इसके विपरीत वह वास्तविक जीवन–समस्यओं से उत्पन्न है। उसके पास आदर्शवाद और आशावाद भी है। अतएव वह अपने व्यक्तिगत सुखदुख के परे जाकर खतरा मोल लेते हुए, राजनैतिक–सामाजिक विषय भी कविता लिखने के पहले उस क्षेत्र मे स्वंत. कार्य करता है और उसके साथ राजनैतिक–सामाजिक

काव्य'–विषय भी चुनता है। इस प्रकार कोई भी भाषा न अपने–आप मे प्रतिक्रियावादी होती है न प्रगतिशील। वह वास्तविक जीवन–सम्बन्धो से युक्त होकर ही उचित या अनुचित, सगत या असगत सिद्ध हो सकती है। किसी भी भावना के जीवन–सम्बन्धो को देखना आवश्यक है। घृणा यदि उचित के प्रति है तो वह स्वय घृण्य है, यदि वह अन   चित के प्रति है तो वह प्रशसनीय है। उसी प्रकार वैफल्य और निराशा किन जीवन–सम्बन्धे के आधार पर है? उस निराशा की जन्म–भूमि जो मानव–जीवन है उसको ध्यान मे रखकर ही, उसका विश्लेषण और मूल्याकन किया जा सकता है।

नयी कविता के प्रति तिक्त भाव तथा अरूचि के बारे मे मुक्तिबोध का कहना है–सच तो यह है कि वे अपने–अपने सिद्धान्तो की तर्क–व्यवस्था के उची आयवारी टॉवर पर बैठे, बनते हुए साहित्य को देखते है। वहा से उन्हे आदमी छोटा नजर आता है,,,,,,,,,,,55 वास्तव मे बात यह है कि वे अपने सिद्धान्तो के ऑवर पर से नीचे उतरकर वास्त्वव मानव–यथाथ्र और उसकी काव्यात्मक प्रतिक्रियाओ से सपर्क स्थापित करना, और निरपेक्ष भाव से उसके स्वरूप का अध्ययन करना नही चाहते। मेरा अभी विश्वास है कि यदि वे अभी भी नीचे उतरे और नदी के कागार पर खाडे, होकर उसके बौके–तिरछे बहे जाने को उतना न कोसे वरन उसका स्वय सर्वांगीण समीक्षा करे, तो उसमे इतनी बराई नही दिखेगी। 56

नयी कविता के प्रति यह कैसा अजीब आग्रह है कि कविता एक खास किस्म के ढॉचे मे बॅधी हुई होनी चाहिए। आज भी वे उसी छायावादी'–प्रगतिवादी युग के काव्य पैटर्न से नयी कविता को परखते है। इसलिए नयी काव्य–प्रवृत्तियो के आधार भूत मानव–जीवन के प्रति उन्हे कोई अनुराग न था। फलत· वे उन प्रवृत्तियों के विशेष सन्दर्भ को भी न समझ सके। जिसका परिणाम यह हुआ कि उन प्रवृत्तियों को गलत सन्दर्भ मे देखा गया। मजे की बात तो यह है कि निराला की सधन–बिम्ब–व्यवस्था और महादेवी की सघन–प्रतीक–व्यवस्था

उन्हे समझ मे आ सकती थी किन्तु नयी कविता की नही। इसकी स्पष्टीकरण के लिए मुक्तिबोध उदाहरण पेश करते है आत्म–ग्रस्त व्यक्तिकेन्दी काव्य का। वे पूछते है। क्या शैले का काव्य आत्म–ग्रस्त व्यक्तिकेन्दी नही था? क्या रवीन्द्र का काव्य आत्म–ग्रस्त व्यक्तिकेन्द्री नही था? क्या महादेवी और प्रसाद का काव्य आत्मग्रस्त व्यक्तिकेन्द्री नही था? और उत्तर देते है बलपूर्वक– था, था, था किन्तु उनमे जीवन के व्यापक आदर्श, जीवन की प्रबुद्ध चेतना, मानव–प्रेम और सौन्दर्य–दृष्टि थी। उसमे उन्तरात्मा का सौन्दर्य था और प्रयोगवादी कविता तथा नयी कविता मे यह सब नही है–उसमे वैयक्तिक विफलता निराशा, ग्लानि और दूसरे कई भावो मे व्यक्त आत्मग्रस्तता है इसलिए उसका विरोध होता है। 57 आज के व्यक्ति स्वातत्रय और आत्म–स्वातत्रय के युग मे प्रवाहित नयी कविता का अभी पूरा विवेचन नही हो पाया, न अभी उसका पूरा का पूरा साहित्य प्रकाशित हुआ है। फिर भी अभी से उसमे चर्वित–चर्वण देखा जा सकता है। 58 लगता है कुछ ही विषयो की आवृत्ति हो रही है, मानो पूरा जीवन–जगत जो हृदय मे समाया हुआ है, उसके कुछ ही अश महत्वपूर्ण है– वे ही अश जिनके बारे मे रचनाऐ हो चुकी है, प्रकाश मे आ चुकी है। यदि वस्तुत व्यक्ति–स्वातत्रय और आत्म–स्वातत्रय है, तो हमारे इस और–छोरहीन जीवन–जगत के वास्तविक महत्व रखने वाले पक्षे को कला मे प्रकट किया जाता। वस्तुत. नयी काव्य–प्रवृत्ति के अन्त स्वरूप की सबसे पहली बात जो जानने की है वह यह कि आज की सभ्यतावस्था मे, आज की समाजावस्था मे, जिसमे जीवन–प्रसंग उपस्थित होते है, जो वास्तविक अनुभूतिया हमे होती है, जो वास्तविक अनुभव हमे होते है, वे बार–बार उत्पन्न ऐसी सवेदनात्मक प्रतिकियाए है जो हम अपनी परिस्थिति और परिवेश के साथ किया करते है। ये संवेदनात्मक प्रतिक्रियाए वास्तविक जीवन–प्रसगो मे होने के कारण मूर्त होती है और उनके सन्दर्भ का एक सूत्र परिस्थिति और परिवेश मे होता है तो उसी सूत्र का दूसरा छोर मानव

अन्तकरण मे होता है। 59 अर्थात् नयी काव्यधारा का प्राण है–वास्तविक सवेदनात्मक और बौद्धिक समसायिकता।

इसीलिए आज के कवि अन्तकरण मे जो कडुवाहट, दुखानुभव, आत्म–ग्लानि, सौन्दर्यासक्ति, आलोचनाशीलता आदि–आदि भाव है वे सब आधुनिक समाजावस्था के अन्तर्गत उपस्थित जीवन–प्रसगो मे अर्थात् वास्तविक और परिस्थिति के प्रति सवेदनात्मक प्रतिक्रियाओ के पुज है अथवा उनके आधार पर किए गए सामान्यीकरण है। उनमे जो भाव–दृष्टि प्रकट होती है, वह भाव–दृष्टि उस सवेदनात्मक स्थिति मे पडे हुए मनुष्य की भाव–दृष्टि है।

मुक्तिबोध कहते है कि इस सम्बन्ध मे एक और बात निवेदनीय है वह यह कि बहुतेरे कविजन यह सोचते है या सोचने के लिए मजबूर हो जाते है कि 'चूकि प्रत्येक कवि की अपनी विशेष अभिव्यक्ति शैली हुआ करती है इसलिए उस विशेष अभिव्यक्ति शैली के विकसित होने पर कवि ने एक मजिल तय कर ली। महत्व की बात यह है कि अभिव्यक्ति–प्रयास के दीर्घकाल मे जो शैली विकसित हो जाती है वह आगे चलकर उसी कवि का एक बहुत बडा बन्धन भी हो जाती है और सभी तरह के अनुभूत वस्तु–तत्व एक ही प्रकार की अभिव्यक्ति शैली मे तो बॉधे नही जा सकते।

इस प्रसग के माध्यम से सभवत यह सकेत करना चाहते है कि परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है अत 'लकीर के फकीर' बने रहना या उसी पुरानी परपरा से चिपके रहना न्यायोचित नही होगा।

(अ) प्रगतिवाद

1 एक दृष्टि–मुक्तिबोध रचनावली – पॉच–28

2 एक दृष्टि–मुक्तिबोध रचनावली – पॉच–29

3 सामाजिक विकास और साहित्य – मुक्तिबोध रचनावली पॉच–44

4 सामाजिक विकास और साहित्य – मुक्तिबोध रचनावली पॉच–45

5 साहित्य ओर समाज – मुक्तिबोध रचनावली – पॉच 52

6 एक दृष्टि–मुक्तिबोध रचनावली – पॉच–28

7 एक दृष्टि–मुक्तिबोध रचनावली – पॉच–29

8 आधुनिक हिन्दी साहित्य और नवयुग की समस्याये मुक्तिबोध रचनावली पॉच–20

9 आधुनिक हिन्दी साहित्य और नवयुग की समस्याये मुक्तिबोध रचनावली पॉच–20

10 मानवजीवन स्रोत की मनोवैज्ञानिक तह मे–मुक्तिबोध रचनावली पॉच 26

11 आधुनिक हिन्दी साहित्य और नवयुग की समस्याये मुक्तिबोध रचनावली पॉच–20

12 समीक्षा की समस्याये–मुक्तिबोध रचनावली – पाच–135

13 समीक्षा की समस्याये – मुक्तिबोध रचनावली – पाच–137

14 समीक्षा की समस्यायें – मुक्तिबोध रचनावली – पाच–138

15 समीक्षा की समस्याये – मुक्तिबोध रचनावली – पांच–145

16 समीक्षा की समस्याये – मुक्तिबोध रचनावली – पाच–147

17 समीक्षा की समस्याये – मुक्तिबोध रचनावली – पाच–150

18 समन्वय के लिए सघर्ष चाहिए –मुक्तिबोध रचनावली–पाच–36

19 साहित्य मे सामूहिक भावना–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–37

20 साहित्य मे पौराणिक ऐतिहासिक सन्दर्भ–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–42

21 प्रगतिवाद एक दृष्टि–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–29

22 समन्वय के लिए सघर्ष चाहिए –मुक्तिबोध रचनावली–पाच–34,35

23 सामाजिक विकास और साहित्य –मुक्तिबोध रचनावली–पाच–42,43

24 सामाजिक विकास और साहित्य –मुक्तिबोध रचनावली–पाच–42,43

25 सामाजिक विकास और साहित्य –मुक्तिबोध रचनावली–पाच–46

26 सामाजिक विकास और साहित्य –मुक्तिबोध रचनावली–पाच–48

27 सामाजिक विकास और साहित्य –मुक्तिबोध रचनावली–पाच–53

28 समाज और साहित्य–मुक्तिबोध रचनावली–पांच–51,52

29 समाज और साहित्य–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–53

30 प्रगतिवाद एक दृष्टि–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–28

31 प्रगतिवाद एक दृष्टि–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–29

32 प्रगतिवाद एक दृष्टि–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–29

33 जनता का साहित्य किसे कहते है–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–76

34. जनता का साहित्य किसे कहते है–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–77

35 प्रगतिवाद एक दृष्टि–मुक्तिबोध रचनावली–पांच–28

36 प्रगतिवाद. एक दृष्टि–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–29

37 साहित्य मे व्यक्तिगत आदर्श–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–31

38 साहित्य मे व्यक्तिगत आदर्श–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–32

39 साहित्य मे व्यक्तिगत आदर्श–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–37

40 साहित्य मे व्यक्तिगत आदर्श–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–31

41 साहित्य मे व्यक्तिगत आदर्श–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–31

42 साहित्य मे व्यक्तिगत आदर्श–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–31

43 नवीन समीक्षा का आधार–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–84

44 प्रगतिशीलता और मानवसत्य–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–76

45 प्रगतिशीलता और मानवसत्य–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–80

46 प्रगतिवाद एक दृष्टि–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–29

47 साहित्य मे सामूहिक भावना–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–38

48 साहित्य मे सामूहिक भावना–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–39

49 वस्तु और रूप तीन–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–111

50 वस्तु और रूप तीन–मुक्तिबोध रचनावली–पाच–115

51 वस्तु और रूप तीन–मुक्तिबोध रचनावली–पांच–115

(आ) प्रयोगवाद

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास– डा0 नगेन्द्र–पेज–635

2 हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास – डॉ0 राम स्वरूप चतुर्वेदी–226

3 कविता के नये प्रतिमान–डॉ0 नामवर सिंह–60

4 तारसप्तक की भूमिका—अज्ञेय

5 दूसरा सप्तक—1953—भूमिका—अज्ञेय

6 आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियॉ—डॉ0 नगेन्द्र—117

7 आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियॉ—डॉ0 नगेन्द्र—121

8 प्रयोगवाद—मुक्तिबोध रचनावली—पाच—286

9 प्रयोगवाद—मुक्तिबोध रचनावली पाच—287

10 प्रयोगवाद—मुक्तिबोध रचनावली—पाच—287

11 प्रयोगवाद—मुक्तिबोध रचनावली—पाच—287

12 प्रयोगवाद—मुक्तिबोध रचनावली—पाच—286

13 समीक्षा की समस्याये—मुक्तिबोध रचनावली—पाच—160

14 समीक्षा की समस्याये—मुक्तिबोध रचनावली—पाच—158

15 समीक्षा की समस्याये—मुक्तिबोध रचनावली—पाच—156

16 काव्य की रचना—प्रक्रिया दो—मुक्तिबोध रचनावली—पाच—227

17 काव्य की रचना—प्रक्रिया दो—मुक्तिबोध रचनावली—पाच—228

18 प्रयोगवाद—मुक्तिबोध रचनावली—पाच—280

19 समीक्षा की समस्याये—मुक्तिबोध रचनावली—पाच—161

20 समीक्षा की समस्याये—मुक्तिबोध रचनावली—पाच—160

21 प्रयोगवाद—मुक्तिबोध रचनावली—पाच—228

(इ) नयी कविता

1 हिन्दी काव्य की नयी धारा–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–316

2 हिन्दी काव्य की नयी धारा–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–317

3 हिन्दी काव्य की नयी धारा–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–317

4 हिन्दी काव्य की नयी धारा–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–317

5 वस्तु और रूप–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–115

6 छायावाद और नयी कविता–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–312

7 छायावाद और नयी कविता–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–312

8 छायावाद और नयी कविता –मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–312

9 छायावाद और नयी कविता –मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–311

10 छायावाद और नयी कविता –मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–312

11 छायावाद और नयी कविता –मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–312

12 आधुनिक कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–206

13 आधुनिक कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि –मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–207

14 आधुनिक कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि –मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–211

15 नयी कविता की प्रकृति–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–322

16 नयी कविता की प्रकृति–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–322

17 वस्तु और रूप एक–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–127

18 वस्तु और रूप. एक–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–123

19 वस्तु और रूप एक–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–125

20 नयी कविता एक दायत्वि–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–299

21 नयी कविता एक दायत्वि–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–299

22 नयी कविता एक दायत्वि–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–299

23 नयी कविता एक दायत्वि–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–299

24 नयी कविता एक दायत्वि–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–300

25 नयी कविता एक दायत्वि–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–302

26 नयी कविता एक दायत्वि–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–302

27 नयी कविता एक दायत्वि–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–303

28 नयी कविता एक दायत्वि–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–305

29 नयी कविता एक दायत्वि–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–303

30 नयी कविता एक दायत्वि–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–305

31 समीक्षा की समस्याये– मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–138

32 कला की रचना–प्रक्रिया–मुक्तिबोध रचनावली'पॉच–200

33 आधुनिक कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–203

34 आधुनिक कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–204

35 नयी कविता एक दायित्व–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–297

36 काव्य एक सास्कृतिक प्रकिया–मुक्तिबोध रचनावली–194

37 नयी कविता एक दायित्व–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–298

38 नयी कविता और आधुनिक भावबोध–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–306

39 नयी कविता का आत्मसघर्ष–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–327

40 नयी कविता की अत प्रकृति–वर्तमान और भविष्य–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–334

41 समीक्षा की समस्याये–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–138

42 छायावाद और नयी कविता–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–313

43 छायावाद और नयी कविता–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–314

44 नयी कविता की अत प्रकृति–वर्तमान और भविष्य–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–334

45 वस्तु और रूप चार–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–125

46 समीक्षा की समस्याये–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–140

47 कला की रचना–प्रकिया– मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–196

48 नयी कविता की अत प्रकृति– मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–319

49 आत्मबद्ध आलोचना के खतरे– मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–91

50 समीक्षा की समस्याये– मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–134

51. समीक्षा की समस्याये– मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–134

52 नयी कविता की प्रकृति– मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–319

53 नयी कविता की प्रकृति–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–320

54 नयी कविता की प्रकृति– मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–321

55. समीक्षा की समस्याये– मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–131

56 समीक्षा की समस्याये– मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–134,135

57 नयी कविता की प्रकृति– मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–138

58 वस्तु और रूपःचार– मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–121

59. नयी कविता की अंत प्रकृति– मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–334

60. नयी कविता की अत.प्रकृति– मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–339

अध्याय–5

मुक्तिबोध के काव्य में सामाजिक चेतना एवं कला चेतना की पारस्परिकता या सामंजस्य

(अ) सामाजिक चेतनाः–

गजानन माधव मुक्तिबोध अपने काव्य के केन्द्र मे समाज के वचित, उपेक्षित पिछडे, दलित, गरीब, असहाय लोगो के मनस्थित तथा उनकी पीडा व वेदना की सजीव व जीवत चित्रण किये है। मुक्तिबोध के काव्य मे सामाजिक चेतना से तात्पर्य यह है कि सामाजिक सरोकारो से उनका काव्य सृजन और चितन कितना आच्छादित है। इनकी कविताओ के अध्ययन से यह पता चलता है कि नयी कविता के प्रतिनिधि कवि मुक्तिबोध जीवन और जगत के जिस यतार्थ को भोगा व भुगता था, उस पीडा और दर्द को इतने गहरे अर्थो मे कविता को सम्प्रेषित करते है कि पाठक यह महसूस करने लगता है कि उसके दर्द और वेदना को एक नैसर्गिक अभिव्यक्ति और वाणी मिल गयी है। मुक्तिबोध ने अपनी रचनाओ के माध्यम से समाज के हर पहलू और आयाम को छुआ है। उनकी तीव्र दृष्टि से जगत और जीवन का कोई पक्ष अधूरा नही रह पाया है। विशेष कर समाज का मध्यम वर्ग जिसे हम दूसरे शब्दो मे साहित्यकार, अधिवक्ता, प्रवक्ता, रगकर्मी, कलाकार, चित्रकार, पत्रकार एव ऐसे बुद्धिजीवी जिनके पास समय और समाज को समझने की एक पैनी दृष्टि है जो देश और समाज को एक नयी दिशा दे सकने में सक्षम है जिनकी वैचारिक एव सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता संदिग्ध नही है। फिर भी वे जब सामाजिक यथार्थ से

टकराते है, तो उनके मन मे अर्न्तद्वन्द्व, दिशाहीनता और दिगभ्रमित चेतना का द्वन्द्व शुरू होता है। जिसको मुक्तिबोध ने अपने काव्य मे बडे ही बारीकी और मार्मिक ढग से उकेरा है। समाज का यह मध्यम वर्ग क्रान्तिकारी विचारो से लैस तो है लेकिन जब उसके ऊपर सामाजिक, पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन का दायित्व सामने आता है तो वह सामाजिक व राजनीतिक सघर्ष का रास्ता छोड अपने जिम्मेदारियो से बचते हुए अपने छोटे–मोटे हितो की सुरक्षा व सरक्षण के लिए सिद्धान्तो से समझौता कर लेता है। लेकिन हम यहॉ स्पष्ट करना चाहते है कि मुक्तिबोध का काव्य–नायक समाज के हलचलो से उथल–पुथल एव विचलित तो होता है लेकिन तमाम मानसिक अर्न्तद्वन्द्वो के बावजूद भी वह सामाजिक परिवर्तन व बदलाव के उस क्रान्ति सूत्र को नही छोडता, वह भयभीत आतकित तो होता है लेकिन जब उसे यह एहसास होता है कि पीछे हटने पर उसका अस्तित्व खतरे में पड सकता है तो वह तनकर खडा हो जाता है। इसका सजीव चित्रण मुक्तिबोध की कविता 'अधेरे' मे होता है।

हम इस प्रकार कह सकते है कि मुक्तिबोध जीवन तथ्यो के कवि थे। ऐसे कवि जिसकी कविता अपने युग और परिवेश की हर सास, हर धडकन और हर सन्दर्भ को उसकी पूर्णता से जीती रही है।

यह चेतना क्या है ? कैसे बनती है ? यदि महत्वपूर्ण सवाल है जिनसे गुजरते ही संघर्ष चेतना की भी गहराई से जाच पडताल

सम्भव लगती है। मारिस कानेफोशे का कहना है कि जब कडीशड रिफ्लेक्स बनने की प्रक्रिया मे उत्तेजना, जो पशु मे भी होती है, सकेतो का काम (सिगनल) करने लगती है तो जीव इन सकेतों को पहचानने लगता है और अपने व्यवहार को उन्ही के मुताबिक ढाल लेता है, उस समय नाडियों के जाल मे एक नया गुण पैदा होता है जिसे चेतना कहा जाता है।

पदार्थ और चेतना के बारे मे विचार प्राचीन काल से ही होता आया है। चेतना को भारत मे पारलौकिक सत्ता जैसे आत्मा, ब्रह्म या ईश्वर द्वारा नियमित या परिचालित माना जाता था। भारतीय वाड्गमय मे दो परस्पर विरोधी जीव–दृष्टियां रही है एक दृष्टि भाव या ब्रह्म को प्रमुख सत्ता मानती रही और दूसरी पदार्थ और प्रकृति को। यजुर्वेद मे सृष्टि की रचना पहले से व्याप्त पदार्थ से मानी गई जिसे 'हिरण्यगर्भ' कहा गया––

"हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्। सदाचार पृथिवी द्यामुतेया कस्मै देवाय हविषा विघेम।" (यजु0अ0 1314)

छादोग्य उपनिषद मे मन को अन्नमय कहकर उसका सम्बन्ध पदार्थ से जोडा गया है– "अन्नमय हि सौम्य मन.।"

पाश्चात्य दर्शन मे भी सुकरात और प्लेटों ने क्रमश· अवधारणा और भाव को ही आत्यतिक सत्य के रूप में माना और चेतना को उसी भाव सत्ता का स्वरूप माना।

पाश्चात्य दर्शन और भारतीय दर्शन मे इन्ही के केन्द्र मे और भी विचाराधाराए चलती रही और भाववाद और भौतिकवाद का यह वैचारिक सघर्ष मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के रूप मे प्रतिफलित हुआ जिसे व्यापक मान्यता मिली है। एगेल्स ने कहा– यदि यह सवाल उठाया जाय कि विचार और चेतना क्या है और कहा से आते है तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि वे मनुष्य के मस्तिष्क की उपज है और कहा से आते है तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि वे मनुष्य के मस्तिष्क की उपज है और मनुष्य खुद प्रकृति की ऐसी उपज है जो परिवेश के साथ–साथ उसी परिवेश मे विकसित हुआ है। मार्क्स ने भी कहा– "भाव मानव–मस्तिष्क मे प्रतिबिम्बित भौतिक जगत ही होता है और वही विचार मे बदल जाता है।" लेनिन ने इसी को पुष्टि करते हुए 'प्रतिबिम्बन सिद्धान्त' द्वारा चेतना की रचना–प्रक्रिया पर प्रकाश डाला– "हमारी चेतना बाहरी जगत का बिम्ब है और यह बात साफ है कि बिम्ब अपने वस्तुगत आधार के बिना अस्तित्व नही रख सकता और वस्तुगत आधार बिम्ब बनाने वाले से अलग स्वत्रंत होता है।"

इस विवेचना से हम कह सकते हैं कि चेतना वाह्य वातावरण या परिवेश के प्रति एक प्रतिक्रियात्मक प्रभाव परिणति है और उत्तेज्यता की उपस्थिति सभी जीवों में स्वाभाविक और प्राकृतिक मौलिकता के रूप में सिद्ध हो चुकी है। सभी जीवो में आत्म रक्षार्थ या अस्तित्व के सकट में इसी योग्यता से उस स्थिति का समाना करते हैं— "उत्तेज्यता

का गुण है, जो सजीव को अजीव से अलग करता है और वाह्य प्रभावो से अपने को सुरक्षित रखने की योग्यता को दिखाता है।" पशुओ मे उत्तेजना का यह गुण आत्मरक्षार्थ तो अवश्य उन्हे सक्रिय बनाकर सघर्ष के लिए प्रेरित करता है लेकिन इस सघर्ष को एक निश्चित दिशा या लक्ष्य नही मिल पाता यह एक अनियत्रित और अनियमित प्रक्रिया से गुजरते हुए एक अनिश्चितता मे अधेरे मे हाथ पैर मारना जैसा बन जाता है। फिर भी तात्कालिक रूप मे जो सामर्थय स्वय को बाहरी खतरो से बचाये रखने के लिए पशुओ को उस उत्तेज्यता के गुण से प्राप्त होती है और उन्हे सक्रिय बना देती है– वह अति महत्वपूर्ण है। इसी सन्दर्भ मे कहा जा सकता है कि यह गुण चेतना का अल्प–विकसित रूप है। प्रारम्भिक अवस्था मे मनुष्य मे भी यही उत्तेज्यता प्रमुख थी परन्तु धीरे–धीरे उसकी चेतना का विकास होता गया है। शुरूआत की इद्रिय–सवेदन की सकेत प्रणाली, जो पशु मस्तिष्क को सक्रिया बनती है, के बार–बार घटित होने पर मनुष्य ने उसे एक 'अनुभव' के रूप मे विकसित किया और यही अनुभव मस्तिष्क मे बौध का रूप ग्रहण करता है। कालान्तर मे पशुओ की सकेत प्रणाली के साथ–साथ मनुष्य क़ी एक और सकेत प्रणाली 'भाषा' भी विकसित हुई। 'बौध' के बाद मस्तिष्क द्वार सोचना–विचारना सम्भव हुआ। निश्चय ही यह भाषा और शारीरिक क्रियाशीलता के कारण हुआ और इस अतिरिक्त कुण ने मनुष्य को पशु से अलग कर दिया– 'मनुष्य मानस (चेतना) को पशु मानस से भिन्न बनाने वाली एक महत्वपूर्ण विशेषता – चिन्ता को जन्म श्रम और भाषा की बदौलत हुआ।

इस चिन्तन के अन्तर ने मनुष्य को विशेष शक्ति दी जिससे वह अपने बाह्य को इच्छानुकुल बदलने के लिए सोचने लगा और इसके प्रयत्न भी शुरू किया। जबकि पशुओ मे सिर्फ बाह्य के अनुकूल ढल जाने की योग्यता ही महत्वपूर्ण बनी रही अत उनका कार्यक्षेत्र सीमित ही रह गया। अज्ञेय ने इसी बात को ध्यान मे रखते हुए मानव के कहत्व को सर्वोपरि मानते हुए पशुओ मे 'सघर्ष' के अस्तित्व को ही नही माना। हालाकि यह मानव के कहत्व को अतिरजित रूप देने की आग्रही मानसिकता कही जा सकती है क्योकि सघर्ष का भले ही अल्प विकसित रूप ही हो लेकिन पशुओ में इसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। इस सदर्भ मे अज्ञेय का वक्तव्य है– .. ... मनुष्य विकास–क्रम का चरम बिन्दु है– इतर प्राणी अपने को प्रकृति के अनुकूल बदलते है पर मनुष्य अपने परिवेश को अपने अनुकूल बनाता है। इसी बात को दूसरी तरह बहकर उसके प्रासगिक महत्व को तीव्र रूप से सामने लाया जा सकता है– इतर प्राणियो में सघर्ष नही होता, केवल मनुष्य मे सघर्ष होता है।

इस विशद विवेचन के बाद सामाजिक चेतना का स्वरूप काफी स्पष्ट हो जाता है। हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि सामाजिक चेतना एक विशिष्ट मानसिक गुण है जा निश्चय ही सजीव में अल्प विकसित या विकसित रूप मे स्थित होती है और उन्हें एक निश्चित सक्रियता के लिए क्षमता देती है। अत संघर्ष चेतना, वह मानसिक

विचार–सवेग है– "जो विरोधी तत्वो के परस्पर उत्तेजनात्मक मौलिक प्रतिक्रियात्मक व्यवहार को नियत्रित, नियोजित और सयमित करत हुए उनमे किसी निश्चित सार्थक परिणाम, परिवर्तन और दिशा या लक्ष्य के प्रति सकल्पशील क्रियात्मक उत्पन्न करके, उन्हे सतत प्रयत्न के लिए प्रेरित करता रहता है। इस तरह सघर्ष चेतना एक विशिष्ट मानसिक विचार–शक्ति या क्षमता है जो निरन्तर सार्थक प्रयत्न से निश्चित लक्ष्य या परिणाम के प्रति प्रेरणात्मक वातावरण मस्तिष्क मे बनाए रखती है जिससे कि क्रियात्मक को बल और दिशा प्राप्त होती है। यह क्रियात्मकता वस्तु, परिवेश, स्थिति, मूल्य आदि किन्ही तत्वो के बीच उत्पन्न होकर उनमे एक विशेषत्व के प्रति आग्रह के कारण परिवर्तन की मूल इच्छा से प्रेरित होती है।

मुक्तिबोध जीवन–तथ्यो के कवि थे, ऐसे कवि जिसका कविता अपने युग और परिवेश की हर सॉस, हर धडकन और हर सन्दर्भ को उसी पूर्णता से जीती रही। तमाम अन्तविरोधी, सघर्षो और त्रासदियो को झेलते हुए भी वह यही चाहते रहे कि भारत के प्रत्येक आदमी की जिन्दगी कुछ जीने लायक हो जावे, समाज–वर्ग–विषमता, शोषण, अत्याचार और जडत्व की गिरफ्त से छूटकर मुक्त होकर खुली हवा में सॉस ले सके। उनके इसी सघर्ष और इससे जुडी कामना से ही उनका कविता का कथ्य जुडा हुआ है। कथ्य कथन मात्र नही होता। वह तो कवि का अपना प्रेष्य होता है, कवि की अनुभूति का संकेत होता है। इसके लिए रचनाकार

का कल्पना का सहारा लेकर अपनी अनुभूतियो का सम्मूर्तन करना पडता है। अत कविता के अन्तर मे छिपी कवि की भावसत्ता का शाब्दिक रूपान्तरण ही कथ्य कहलाता है। मुक्तिबोध के काव्य का भी अपना एक कथ्य है और वह कथ्य है– शोषण, अत्याचार, विषमता और पीडा से मुक्त, स्वस्थ व बन्धनहीन समाज का निर्माण व स्थापना। उन्होने यह भी बताया है कि यह कार्य आत्म–सघर्ष, आत्मान्वेषण और आत्मसाक्षात्कार के सहारे ही सम्भव हो सकता है। उनके काव्य का प्रमुख कथ्य वह सघर्ष है जो आत्मसघर्ष से बाह्यसंघर्ष की ओर बढता हुआ एक मुक्त और वर्गहीन समाज की स्थापना से सम्बद्ध है। इस बढने मे ही अनेक प्रवृत्तियॉ उनके काव्य मे अभिव्यक्त पायी गयी है। उनके काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियो का विवेचन निम्न रूप मे प्रस्तुत है–

व्यक्तिपरकता छायावाद की उल्लेखनीय प्रवृत्ति रही है। 'तार सप्तक' की अनेक कविताओ मे भी यह व्यक्तिवादी स्वर मुखरित हुआ है। इसके अनेक सामाजिक और ऐतिहासिक कारण है। द्वितीय विश्व युद्ध के भयानक रक्तपात और नर–सहार ने मानव को जिस अनिश्चित और असुरक्षा के दरवाजे पर ला पटका वहॉ व्यक्तिपरकता से जुडने के अलावा और और कोई चारा नही था। वह अपने को तुच्छ और नगण्य समझने के लिए विवश हो गया था। इसके साथ वैज्ञानिक अन्वेषणों ने भी यह बता दिया कि – देश और काल अपने आप में कोई स्वतत्र भौतिक वस्तु नहीं हे, वे तो हमारी चेतना के विचार है। देश और काल की असीमता के बोध

से मनुष्य न केवल छोटा महसूस करने के लिए विवश हुआ अपितु उसके मानस मे यह तथ्य भी घर कर गया कि वह कुछ नही है, नगण्य है। उनकी प्रारम्भिक कविताओ मे हम इसी व्यक्तिपरकता को देख सकते है जो उनके कथ्य और शैली दोनो पर छायी हुई है–

मै अपने से सम्मोहित, मन मेरा डूबा निज मे ही।
मेरा ज्ञान उठा निज में से, मार्ग निकला अपने से ही। – "अर्न्तदर्शन"

मुक्तिबोध की कुछेक कविताओ मे इसी व्यक्ति व्यक्तिपरकता की प्रवृत्ति के कारण नैराश्य, कुण्ठा, धनीभूत, अवसाद और मनोनग्नता के चित्र भी उभरे है लेकिन कवि की यह विशेषता है कि वह एक सॉस मे व्यक्तिवादिता का आभास देता है और दूसरे ही क्षण समाजोन्मुख हो जाता है। कारण आत्मशोधन की प्रवृत्ति और अपने को समग्र न मानना ही है–

याद रखो–

कभी अकेले मे मुक्ति नहीं मिलती
यदि वह है तो सबके साथ ही। – "ब्रह्मराक्षस"

मुक्तिबोध अकेले मे भटकते भी है और कभी–कभी हताश–निराश भी हो जाते है। अनेक बार उनकी लम्बी कविताओं मे सूनेपन, टूटने, भटकन, अकेलापन, कुहासा और आन्तरिक हलचल के बिम्ब भी आये हैं किन्तु ये सभी चित्र आत्मशोधन की प्रक्रिया को पूर्ण बनाने के लिए है। निम्नलिखित पंक्तियों में अकेलापन और वैराग्य की अभिव्यंजना हुई है–

"मै एकमात्र थमा आवेग/रूका हुआ एक जबरदस्त कार्यक्रम/मै एक स्थगित हुआ अंगला अध्याय/अनिवार्य/आगे ढकेली गयी प्रतीक्षित/महत्वपूर्ण तिथि/ मै एक शून्य मे छटपटाता हुआ उद्देश्य।"

उपरोक्त पक्तियो मे कवि अपने अकेलेपन मे भी साफ कर रहा है कि– मै रूका हुआ एक जबरदस्त कार्यक्रम/और शून्य मे छटपटाता हुआ उद्देश्य हूँ। तात्पर्य यह है कि मुक्तिबोध निसग होकर भी अपने भावी उद्देश्य के साथ है।

मुक्तिबोध हर हालत मे समाज से सयुक्त है। यह सम्पृक्ति जन–सम्पृक्ति का ही पर्याय है। उन्होने अपने युग के मानव की पीडाओ, असमर्थताओ और विडम्बनाओ को देखा भी था और स्वयं भोगा भी था। इसी से उनका काव्य युग से सघर्ष करते–करते जन–जन के अन्तकरण और भौतिक मानसिक सघर्ष को प्रतिरूपित करता है। मुक्तिबोध ने एक जासूस की भॉति मानव समाज से सम्बन्धित हर सन्दर्भ प्रत्येक घटना, पीडा तथा सगत–असगत स्थिति की करीब से जाच–पडताल की है इसलिए इनमे जन–जन की पीडा का इतिहास छिपा है और वह हुआ 'मै' पूरे समाज व जनजीवन मे विचार करके उसी तस्वीरें प्रस्तुत करता है। यही वजह है कि 'मै' मात्र कवि नही है, पूरे समाज का 'मै' है।

उनकी सामाजिक चेतना के गोलक मे गांधी, तिलक–जैसे समाज सुधारको के सिद्धान्त भी है, विभिन्न क्रान्तिधर्मो चेतना के गवाह प्रोसेसन आन्दोलन भी है। इन आन्दोलनों के सहारे ही कवि उस जनता

की छवि उभार सका है जो मर्दित और शोषित है। इस शोषण के शिकार जन समूह से मुक्तिबोध की निगाह सभी पर पडी है। चित्रकार, मूर्तिकार, कलाकार, कारखाने, धुऑ भरी चिमनिया, अभिशप्त जिन्दगी जीते हुए लोग, शिशु, श्रमरत नर–नारी, कपडे धोने वाली और पानी के वजनदार घडे उठाती नारिया, लकडी बिनती माताए, हरिजन बस्ती की गन्दी गलिया, शेवर लेट और डाज के नीचे घुसकर गन्दे लिबास मे काम करने वाले कारीगर, मिस्त्री, आफिस मे तडातड टाइप करती लडकियॉ, पैसो के लिए कौमार्य दान देने वाली पोडसियॉ, सभ्यता का नकाब ओढे विकृत जिन्दगी जीने वाले इन्सान, दूध के लिए छटपटाती बच्चियॉ, डाकू, मृत्यु दल की शोभायात्रा में जरीदार ड्रेस पहले बैण्ड दल, प्रतिष्ठित पत्रकार मुरझाये सैनिक दल, प्रकाण्ड आलोचक कवि गायक, मन्त्री, उद्योगपति, पूॅजीपति, लुटे–पिटे चेहरे वाले ढेर के ढेर लोग मुक्तिबोध की कविता मे आकर कैद हो गये है। इन सभी दृश्यो और इनसे निर्मित परिवेश की – 'अन्धेरे मे', 'मुझे याद आते है', 'चम्बल की घाटियॉ,' 'चॉद का मुॅह टेढा है,' 'ब्रम्हाराक्षस,' 'स्वप्न कथा,' 'मेरे लोग चकमक की चिनगारियॉ' आदि–अनेक कविताओ की राह से गुजरते हुए देखा जा सकता है। समकालीन परिवेश के ये चित्र मुक्तिबोध की यथार्थ परिदृश्यो का सर्जक अन्वेषक और कलाकार प्रमाणिक करते है। कवि द्वारा अकित समाज की अनगिनत तस्वीरो से कुछ चित्र प्रस्तुत है–

(1) "अचानक सनसनी भौचक/कि पैरो के तलो को काट खाती कौन–सी यह आग? भयानक, हाय अन्धादौर/जिन्दा छातियो पर और चेहरो पर/कदम रखकर चले है पर ——–।"

(2) हॉ वहॉ एक गाव उठा/गरीबो का गॉव एक बिना गॉव/खतरनाक लूट–पाट आग डकैतियॉ/चम्बल की घाटियॉ/ वही कही मै भी हाय–हाय करते हुए/भाग चले लोगो मे भागता/ गठरी है सिर पर कन्धे पर बालक/फटे हुए अगौछे से बधी हुई/बच्ची है कसी पीठ पर/————"चम्बल की घाटियॉ।"

(3) प्रत्येक चौरहे, दुराहे व राहो के मोड पर /सडक पर खडा हूँ/ कही आग लग गयी, छठी गोली चल गयी। सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक, चिन्तक, शिल्पकार, नर्तक चुप है। उनके ख्याल से यह सब गप है, मात्र किवदन्ती है। रक्तपायी वर्ग है नाभिनाल बद्ध थे सब लोग/समाचार पत्रो के पतियों के मुख–स्थूल/बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास/किराये के विचार का उद्‌भास ——– "चॉद का मुँह टेढा है।"

उपरोक्त उदाहरणो मे सामयिक परिवेश के न केवल चित्र है, अपितु मुक्तिबोध की आत्मानुभूतियो का सैलाब भी है। वह सैलाब जिसे देखने–दिखाने और भोगने के बाद कवि का अन्वेषक हर गली हर सडक, हर परिवेश और हर सन्दर्भ से जुडता हुआ हरेक चेहरे, चरित्र और हरेक गतिविधि को कविता में नक्श करता गया है। अपनी सामयिकता और

समाज ससक्ति के निरूपण क्रम मे मुक्तिबोध ने वर्तमान परिवेश की सास्कृतिक मान्यता के तलघर मे छिपे विद्रूप, गलित, लिजलिजे, दर्शक, त्रासदी, स्वार्थ गधित और बाहरी पालिस के भीतर छिपे रोग को अनावृत है कि वह मात्र यथार्थ को अभिव्यजित करने वाला कलाकार मात्र ही नही है अपितु दृष्टा–भोक्ता स आगे जाकर नचे आयामो का स्रष्टा भी है। मात्र स्वप्नो के सहारे किसी भविष्य के चमकदार कपडे को बुनने की लालसा उसके मन मे नही है, वहतो कर्म प्रवृत्त है।

मुक्तिबोध एक वर्गरहित और शोषण मुक्त समाज का स्वप्न देखा करते थे। वे जानते थे कि मानवीय समाज, सस्कृति और जीवन दृष्टि को स्वस्थ जीवन मूल्यो से जोडना अनिवार्य है। इसके लिए व्यक्ति को आत्मसाक्षत्कार की गलतियो से गुजरना पडेगा, अपने स्वप्न सशोधन, परिशोधन करना पड़ेगा तभी वर्गहीन और शोषणहीन स्वस्थ समाज का ढॉचा खडा हो सकेगा। स्वार्थ सकीर्णता और भौतिक सुख–सुविधाओ के मतलब को हटाना पडेगा–समस्या एक। "मेरे सभ्य नगरों और सभी मानव सुखी, सुन्दर व शोषण–मुक्त कब होंगे?" मुक्तिबोध मानते है कि वर्गहीन समाज का निर्माण तभी सम्भ्व है, जीवन मूल्यो की प्रतिष्ठा का स्वप्न संस्कार होगा उस समय हम शोषण और स्वार्थ के हथियारो को छोड देगे। कारण– "शोषण की अति मात्रा/स्वार्थी की सुख यात्रा/जब जब सम्पन्न हुयी। आत्मा से अर्थ भर गयी भर गयी सभ्यता।" वर्गहीन और शोषणहीन समाज की स्थापना के लिए कवि देर तक प्रतिक्षा नही करना

चाहता है और न ही उसे चुप होकर जीना काम है क्योकि भूखे बालको के श्याम चेहरे उसे चकोटते रहते है, जगत की स्याह सडको पर मानव भविष्यत्, युद्ध मे रत तप्त मुख्य दिखायी देते रहते है– "जहॉ सूखे बबूलो की कटीली पात/भरती है हृदय मे धुन्ध – डूबा दु:ख/ भूखे बालको के श्याम चेहरो के साथ/मै भी घूमता हूॅ शुष्क आती याद मेरे देश भारत की।"

इतना ही नही मुक्तिबोध ने वर्गहीन स्वस्थ सामाजिक मूल्यो की नीव पर निर्मित समाज की कल्पना मे उन सुविधाजीवियो और अवसरवादियो को बाधा माना है जो पूॅजीवादी मनोवृत्ति की पूॅछ पकडकर जीना चाहते है। जब तक ये अवसरवादी बदल नही जाते तब तक वर्गहीन समाज स्थापना का स्वप्न पूरा नही हो सकता। वह कहते है–

"वर्तमान समाज मे चल नही सकता। पूॅजी से जुडा हुआ हृदय बदल नही सकता, स्वातत्र्य व्यक्ति का वॉदी/छल नही सकता/मुक्ति के मन को/जन को।"

मुक्तिबोध शोषण और अत्याचार की चक्की मे पिसते जन समाज के प्रति पर्याप्त सहानुभूतिशील थे। इसी प्रक्रिया मे इन्होने उस व्यवस्था का विरोध किया, उस मनोवृत्ति के प्रति घृणा प्रकट की जो दूसरो के रक्त पर जा रही है। इसी पर–रक्त जीवी व्यवस्था ने अपने प्रयत्नो से एक नपुंशक जमात खडी कर ली है जो अपने सुविधा के लिए उक्त व्यवस्था की हॉ में हॉ मिलाती रहती है। कवि ने पूॅजी मनोवृत्ति का स्पष्ट

शब्दो मे वर्णन किया है – "छोडो हाय, केवल घृणा और दुर्गन्धो तेरी वह रेशमी सस्कृति अध/देती क्रोध मुझको खूब जलता क्रोध/तेरे रक्त मे भी रक्त मे भी सत्य का अवरोध/तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र/तुझको तेज मिलती उमड आती शीघ्र/तू है मरण तू है रिक्त तू है व्यर्थ/तेरा हवस केवल एक तेरा अर्थ।"

मुक्तिबोध की आस्था का केन्द्र जन–मन है। असत्य और अत्याचार की काली करतूतो वाले इस व्यवस्थाधीश की सस्कृति कवि की दृष्टि मे शोषण सस्कृति है। 'नाश देवता' कविता मे जहॉ वह पूँजीवादियों को मिटाने पर तुला है, वही वह नयी जमीन पर नये साधारण मनुष्य को प्रतिष्ठिता करने का आकाक्षी है। कारण–उसका लगाव जन साधारण से इतना अधिक है कि वह पूँजीवादी को सम्बोधित करते हुए कहता है– "मै तुम लोगो से इतना दूर हूँ/तुम्हारी प्रेरणा मे से मेरी प्रेरणाएँ इतनी भिन्न है कि जो तुम्हारे लिए विष है। मेरे लिए अन्न है।" मै तुम लोगो/से इतना दूर हूँ। पूँजीवादी सभ्यता ने शहरी जीवन को चकाचौंध और शान–शौकत से तो भर दिया है किन्तु उसे खोखला अेर दोगला बना दिया है। पूँजीवादी के शोषण रूप का मुक्तिबोध ने बर्बर फौज के खूनी चेहरे, कंस के क्रूर चरित्र और यातुधान से उपमित किया है।

मार्क्सीय चिन्तन की भूमिका पर जहॉ मुक्तिबोध का कवि सर्वहारा मजदूर वर्ग का अभिषेक सहानुभूति और करुणाजल से करता है वहीं उसे ऊंचा भी उठाना चाहता है। आर्थिक शोषण से उसे मुक्त भी

करना चाहता है। उन्होने शोषक वृत्ति व उसका शिकार बने समाज का शब्दायन भर नही किया है। अपितु उन्हे अपनी आर्द्र सवेदना भी अर्पित की है। "चाद का मुह टेढा है", कवता मे श्रमिक वर्ग के शोषण स्थान कारखाने का वातावरण का चित्र अकित है तो हरिजन गलियो व पुलो के नीचे बहते गन्दे नालो के सहारे पडे रहने वाले मानवो का संदर्भ की पूरी सहानुभूति के साथ चित्रित किया गया है–

"दूर–दूर मुफलिसो के टूटे–फूटे घरो/सुनहले चिराग जल उठते है। आधी–अधेरी शाम/ललाई मे नहलायी जाकर पूरी झुक जाती है/थूहर के छुरमुटो से लसी हुई मेरी इस राह पर।"

"एकभूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन कविता में नौकरशाही व्यवस्था के माध्यम से शोषित सयुक्त परिवार की एक तस्वीर उभारी गयी है– "अजीब सयुक्त परिवार है। औरते व नौकर व मेहनतकश/अपने ही वृक्ष को/खुरदुरा वृक्ष धड मानकर/घिसती है घिसती है/ अपनी छाती पर जबरदस्ती/विषदती भावो का सर्वमुख/बहुएँ मुडेरो से कूछ कर आत्महत्या करती है।"

पूरी ईमानदारी से तैयार किये गये शोषितों के चित्रो मे "मै तुम लोगों से दूर हूँ" कविता का कनफटा टेढा तेलिया लिबास पहने, शेरलेट, डॉज के नीचे लेटा हुआ आदमी भी है और शोषण के लिए जिम्मेदार होने की आत्मचेतना मे अपराधी की भावना से पीडित वह शोषित मर्दित इन्सान भी है जो न खडा हो सकता है, न नाच सकता है किन्तु

फिर भी उसकी छाती रौदती जाती है। उसे जबरन अधेरे कमरो मे ले जाया जाता है और – "टूटे से स्टूल पर बिठाया गया हूँ/ शीश की हड्डी जा रही तोडी/लोहे की कील पर बडे/हथौडे पड रहे लगातार/ शीशता मोटा अस्थिकवच ही निकाल डाला/चुम्बक चमकदार पीठ पर यद्यपि/उखडे चर्म की कत्थई रक्तिक रेखाये उभरी।"

शोषितो और पीडितो के जीवन के मार्मिक बिम्ब प्रस्तुत करते हुए मुक्तिबोध ने अपने अनेक कविताओ मे शोषित शिशुओ नारिये के बिम्ब भी ईमानी शैली मे प्रस्तुत किया। 'डूबता चाद कब डूबेगा' कविता मे शोषित शिशु का चित्र है। नारी के शोषित अवस्था का चित्र भी अनेक रचनाओ मे मिलता है। कही वह वासना का शिकार बन बालात्कार का दश सह रही है, कही वह अपनी अभावग्रस्तता का शाप झेलती हुई उच्छृंखल समाज की वासना का शिकार बनाते है, जैसे – 'ओ काव्यात्मक फणिधर' कविता। इस प्रकार मुक्तिबोध ने अपनी कविताओ मे शोषित दलित वग्र के प्रति करूणा और सहानुभूति भी अर्पित की है और उन्ही के माध्यम से श्रम, कर्तव्य, आस्था और जिजीविषा का मूलमत्र दिया है।

मानवीय वेदना से प्रेरित और परिचालित मानवतावादी कवि के रूप में मुक्तिबोध सामने आते है। उन्होंने समाज के सभी तबके के व्यक्तियों की गतिविधियो, भावनाओ और अभिलाषाओ को शहरी नजर से देखा था तथा मामूली–मामूली आदमी के आन्तरिक भावों को समझाने बूझाने वाले कवि थे। उनके सारे नाते–रिश्ते इन्ही सामान्य मानवों से था

और वे खुद चाहते थे कि इन्ही के द्वारा उन्हे जाना–समझा जाय तथा उनकी कविताओ को आका जाय। वास्तव मे उनकी निष्ठा सामान्य मानव के प्रति थी और वे समर्पित भी उसके लिए थे। वे लिखते है– "विशाल श्रमशीलता की जवित/मूर्तियो के चेहरे पर । झुलसी हुई आत्मा की अनगिन लकीरे/मुझे जकड लेती है अपने मे अपना सा जानकर/बहुत पुरानी किसी निजी पहचान से। कवि का कहना है कि वे साधारण लोग ही मेरे हृदय से जुडे हुए है और मेरी समस्त शब्द–सम्पदा और भाव–सम्पादा भी उन्ही की है– उनके ही जीवन से सयुक्त है। मुझे याद आते है' कविता मे आयी गर्भवती नारी श्रमरती नारी और कर्मठ नारी का जो चित्र अलग–अलग कोणो से लिया गया है वह भी जन सामान्य के प्रति कवि की निष्ठा भावना का जो चित्र अलग–अलग कोणो से लिया गया है वह भी जन सामान्य के प्रति कवि की निष्ठा भावना को ही निरूपित करता है– "यदि श्रमशीला नारी का आत्मा/सब आभावो को सहकर/कष्टो को लात मार/निराशाएँ ठुकराए/किसी ध्रुव लक्ष्य परी/खिचती सी जाती है। जीवित रह सकता हूँ मै भी तो वैसे ही।" इसी कविता मे चित्रित ग्रामीण परिवेश मे रास्ते पर आते जाते लट्ठधारी, बूढे पटेल बाबा/ ऊँचे से किसान दादा, दाढीदार देहाती मुसलमान चाचा और माँ, बहने और बेटियाँ आदि सभी के प्रति कवि की निष्ठा और श्रद्धाभावना उमड पडी है। उसकी सभी को सलाम, राम–राम करने की इच्छा हो आयी है।

जनसाधारण से अपनी गहन ससिक्ति के कारण ही वे पूँजीवादी व्यवस्था से दूर बहुत देर अपने को अनुभव करते है। वे सामान्य मानव को पीडा, घुटन और निराशा को स्वीकार भी करते है और उससे मर्माहित भी होते है। 'एक साहित्यिक की डायरी' मे उन्होने इसकी स्वीकारोक्ति की है– "मै तो सिफ मेहनत पर, असाधारण मेहनत पर, उस मेहनत पर जो अपना पेट भी नही भर सकती, उस मेहनत पर जो बहुत सज्जन है, उस सहनीशील श्रम पर लिखने वाला हूँ। मै उस श्रम का चित्रण करना चाहता हूँ जिसका बदला कभी नही मिलता और जिसे आये दिन आत्म बलिदान और त्याग की नसीहत दी जाती है। आप साहूकार हो या सरकार, मेरी तो उन्ही सामन्यजनो के साथ पटरी बैठती है और उन्ही के बदनसीब हाथो से गरीब दुनिया चलती है जो मुझ जैसे है" उदाहरणार्थ– "लेकिन दिल मे वीरान खण्डहरो को धूप/और घने पेडो के साये मडराया करते है। जो बहुत कुरूर से/सिर्फ इन्सान होने की हैसियत रखते है। यही जनवादी चेतना और विश्वास–भावना मुक्तिबोध के कल्याण की केन्द्रीय चेतना है।

मुक्तिबोध की अनेक कविताओ मे क्रान्तिप्रियता की अभिव्यक्त हुयी है। "लकडी का बना रावण" "चॉद का मुँह टेढा है," "ओ काव्यात्मक फणिधर," "चमक की चिनगारियॉ," "शून्य और चम्बल की घाटी" आदि महत्वपूर्ण कविताओं मे मुक्तिबोध की क्रान्ति चेतना कही प्रतयक्ष और कही साकेतिक शैली में अभिव्यक्ति होती है। 'चम्बल की घाटी' कविता से ही

लीजिए। इसमे कवि ने शोषण प्रिय और सामन्तशाही के प्रतीक महाप्रभुओ के अत्याचार से मुक्ति के लिए समूहीकरण की बात कही है। कविता के अन्तिम पद तक पहुँचते–पहुँचते कवि ने अपेक्षित वर्ग–सघर्ष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा– "अपने ही दर्दो के/लुटेरे इलाको मे जोरदार/आज को गिरोह है/पीडित जनो को/जनसाधारण को उनकी ही वह है। पूर्ण विनाश अस्तित्व का चरम विकास है। इसलिए ओ दूषण आत्मन कट जाओ/टूट जाओ/टूटने से जो विस्फोट शब्द होगा। गूँजेगा जग भर/किन्तु अकेले की तुम्हारी ही वह सिर्फ नही होगी कहानी।"

चकमक की चिन्ता इस बात को लेकर है कि देश मे हर पल, हर मोड और हर गलियारे मे 'हाय–हाय' की जो करूण–वास ध्वनियॉ सुनाई दे रही है वे कब अग्नि–ज्वाला का समर्पित होती हुयी मानवीय भव्यता मे बदलेगी? मुक्तिबोध ने अत्याचार की सरकार को बर्खास्त करने की मांग उठाते हुए एक सचेतन आन्दोलन का चित्रण किया है– "शहरी रास्तो पर भीड से मुठभेड/जमकर पत्थरो की चीखती बारिश/व रायफल गोलियो के तेज नारगी/धडाको मे उमडती आग की बौछार/उन पर प्यार आता है/जो मानव भविष्यतयुद्ध में रत है। जगत की स्याह सडको पर" इसी प्रकार ओ काव्यात्मक कणिधर' कविता में अपने मणिधर की प्रकृति वाले काव्यात्मन से 'मणिगण' धारण के लिए कहता है। फणिधर समूह शक्ति का प्रतीक है। उपेक्षित जन की क्रान्ति चेतना जागृत होने पर भी यह समूह शक्ति एकत्र हो सकती है। जब कवि लिखता है। "ओ

नगाले/इन सब रगो को पियो, उन्हें विष मे परिणत/करके भीतर/भागो थर थर/भोगो जहरीला सवेदन/उससे अधिकाधिक उत्तेजित–अतिक्रमण हो। सूघते हुए बीरान/हवा/तुम स्वप्न देखते हुए/मनके मन में विश्लेषण करते हुए। झाडियो से गुजरो?" तो उसकी वर्ग–सघर्ष और क्रान्ति चेतना स्पष्ट हो जाती है। 'लकडी का बना रावण' मे ऐसे अहग्रस्त व्यक्तित्व का विश्लेषण है जो निस्सार और खोखलेपन का धनी होकर भी अपने को सर्व–तन्त्र–स्वतन्त्र समझता है। इस कविता मे आया– मै उस पूँजीवादी सस्कृति का प्रतिनिधि है जो ह्रासोन्मुखी है। अत इस सस्कृति के प्रतिनिधियो को भय है, आशका है कि कही हमारी स्वर्णिम अद्वितीय सत्ता को जनतत्री बानर धराशायी न करे। यह वजह है कि पूँजीवाद का प्रतीक "मै' अपने को असहाय और विवश पाता है और कहता है– "हाय हाय/उग्रतर हो रहा चेहरो का समुदाय/और कि भाग नही पाता मै/हिल नही पाता हूँ। मै मंत्र–कीलित सा/भूमि मे सा/जड खडा हूँ/अब गिरा तब गिरा/इसी पल कि उस पल।" गडा "चॉद का मुँह टेढा है" अपनी समस्त अनुभूति और शरीर दृष्टि मे वर्ग सघर्षीय क्रान्ति का अभिव्यंजन है। इसी प्रकार पोस्टर भैस, अंधेरे मे, मशिलला–जैसी कविताए मुक्ति चेतना और वर्ग सघर्ष का बवाह बनकर आयी है। इस प्रकार मुक्तिबोध की विश्व दृष्टि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी है और जीवनादर्श है– सामाजिक आर्थिक परिवर्तन और उसकी वाहन जन क्रान्ति/इसी आदर्श के अनुकूल उनका काव्य जन चरित्री और रक्त प्लावित है ।

मुक्तिबोध इस बात से काफी चुभन महसूस करते थे कि वर्तमान समाज स्वार्थ, आडम्बर, अवसरवादिता और कृत्रिमता की वैसाखियो के सहारे जी रहा है। उन्हे इस बात की खासी तकलीफ थी कि अनुभवी विद्वान और शक्तिशाली होकर भी आदमी ने अपने ईमान के विरूद्ध चलने की ठान ली है? अवसरवादिता छन्द आधुनिकता है। उन्होने स्वय लिखा है– "आज शिक्षित मध्यवर्ग मे जो स्वहित, स्वार्थ, स्वकल्याण की दौड मची हुयी है, 'मारो खाओ, हाथ मत आओ' का सिद्धान्त जो सक्रिय हो उठा है, उसके कारण कवियो का ध्यान केवल निज मन पर ही केन्द्रित हो जाता है।" भूल–गलती, अंधेरे मे जैसे कविताए उनके इस कथन को प्रमाणित करती है। आज ऐसे लोगो को भी कमी नही है जो आधुनिकता का कवच पहन कर अपने को जन–संघर्ष से अलग रहे है और साज व्यापी भीषणता गरीबी, भूख, दमन, अन्याय से अपना दामन छुडाकर अपने–अपने दायरो मे कैद हो गये है। इनकी प्रतिबद्धता किसी के प्रति नही है। वर्तमान सभ्यता की विसगतियो और विरूपताओ से परिचित होने के कारण ही मुक्तिबोध ने छन्द आधुनिकता पर आक्रमण किया है। चॉद का मुँह टेढा, चॉद और चॉदनी, डूबता चॉद कब डूबेगा– जैसी कविताओ मे मानव की दानवी और विकृत आत्मा के अनेक स्केचेज है जो छन्द आधुनिकता व जीवनगत विसंगतियो को उभारते है। 'बारह बजे रात' कविता मे अर्न्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले शोषण तथा भ्रष्टाचार को निरूपित किया गया है। इसमे योरोपीय सभ्यता की अन्ध–अनुकरण वृत्ति, विलासी दृष्टि और विकृत मूल्यो की अर्थहीनता को उभारा है। मुझे याद आते है कविता में नागरिक सभ्यता के

खोखलेपन और ग्रामीण सस्कृति की अर्थवत्ता दोनो को मुक्तिबोध ने आमने–सामने रखकर प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार नगरवासियो की सभ्यता बनावटी, आवरणयुक्त और अयथार्थ है। अत विसगत है– "पाउडर मे सफेद अथवा गुलाबी/छिपे बडे–बडे चेचक के दाग मुझे दीखते है/सभ्यता के चेहरे पर/सस्कृति के सुवासित आधुनिकतम वस्त्रो के/अन्दर का वासी वह/नग्न अतिबर्बर देह/सूखा हुआ रोगीला पजर मुझे दीखता है।" उनकी कविताओ मे छन्द आधुनिकता और तत्पसूत विसगतियो का त्रासद शैली मे भी अकन हुआ है और व्यंग शैली मे इसलिए कही पूँजीवादी व्यवसाय पर व्यग है, कही आधुनिक सभ्यता–सस्कृति पर व्यग है तो कही मानव की विगलित विकृत चेतना पर जो मानवीय मूल्यो की स्वस्थता की बलि देकर विकसित हो रही है।

समकालीन जीवन बढती हुयी विभिषिकाओ और विसगतियो को कवि ने तीखी–गहरी नजर से देखा और कहा– "आज के अभाव के वल्कल के उपवास के व परसो की मृत्यु के/दैन्य के महाअपमान के व क्षोभपूर्ण/भयंकर चिन्ता के उस पागल यथार्थ का दीखता पहाड स्याह।" वे अनुभव करते है कि स्वार्थ, अवसरवादिता और कृत्रिम मूल्यों के निरन्तर फैलते जाने के कारण मानव जीवन विसगतियों का पुंज बनता जा रहा है। स्वार्थोन्धता के कारण मनुष्य करुणाविहीन होता जा रहा है। इस पर तीखा व्यंग करते हुए कहते है – "लोक–हित पिता को घर से निकल दिया/जन–मन करूणा सी मॉ को हंकाल दिया। स्वार्थों के रग सियार

कुत्तो को पाल/लिया विवेक बघार डाला स्वार्थो के तेल मे।" शुद्ध स्वार्थों के लिए अपनी आत्मा तक को बेचने वालो को देखकर मुक्तिबोध स्पष्ट शब्दो मे कहते है– "उदरभरि अनात्म बन गये/भूतो की शादी मे कनात से तन गये। किसी व्यभिचारी के बन गये विस्तर।" रक्तशोषी पूँजीपति वर्ग के क्रीतदासो पर चुभती शैली मे व्यग करते है – "सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक/चिन्तक, शिल्पकार नर्तक चुप है/उनके ख्याल से यह सब गप है/मात्र किवदन्ती/रक्त पायी वर्ग से नाभिनाल बद्ध थे सब लोग/नपुसक भोग शिरा जालो मे उलझे/बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास/किराये के विचारो का उद्भास।" इस तरह मुक्तिबोध ने अपनी चेतन प्रज्ञा से छन्द आधुनिकता और जीवन–व्यापी कटुता, तिक्तता और विसगतियो को व्यग शैली में डालकर प्रस्तुत किया है।

मुक्तिबोध ने जीवन मे अनेक त्रासदियाँ देखी थी अतएव वह मानने लगे थे कि जीवन का नाता करूण और वेदना से ही हो सकती है। विद्यानिवास मिश्र ने उचित ही लिखा है– "मुक्तिबोध मसीही चेतना के कवि नहीं है, दु ख उनके लिए प्रसाधन नही है, जीवन है। वे दु.ख के सहारा नही दु:ख मे जीने वाले कवि हैं। दु:ख भी उनके लिए सत्य है। इसलिए कि इस दु.ख को समझने वाले वे अकेले चाहे हो, भोगने वाले अकेले ही नही है। उनका वेदना बोध न केवल गहरा है, अपितु व्यापक भी है। यही कारण है कि वे अपनी आत्मा मे सत्चित वेदना को जलती हुई महसूस करते है– "पैसे से महसूस करता हूँ धरती का फैलाव/हाथो से

महसूस करता हूँ दुनिया/मस्तक अनुभव करता है आकाश/दिल मे तडपता है अन्धेरे का अन्दाज/आत्मा मे भीषण/सत् चित्त वेदना जल उठी, दहकी।

मुक्तिबोध ने अपनी वेदना को सत्–चित् वेदना कहा कि इसलिए कि वे सारे जहान की मुसीबतो, त्रासदियो और विसगतियो व विडम्बनाओ को अपने भीतर घटित होते देखते महसूस करते रहे। यही वजह है कि मुक्तिबोध ने सच्चाइयो का गला नही घोटा अपने दाहक से दाहकतम अनुभवो को छिपाया नही अपितु बेलाग और बेपर्द शैली मे कह दिया। उनकी वेदनानुभूति न तो नकली है, न निस्तेज करने वाली और न आरोपित है। वेदना उनकी शक्ति है, प्रेरिका है। अत: वह घबराते नही क्योकि वह अनुभव करते है– "जितना मै लोगो के पॉवो को पारकर/बढता हूँ आगे उतना ही पीछे मै रहता हूँ अकेला/पश्चात पद हूँ/ मेरे ही विक्षोभमशियो के लिए वे/मेरे ही विवेक रत्नो को लेकर/बढ रहे लोग अंधेरे मे सोत्साह/किन्तु मै अकेले/" अपने इस अकेलेपन मे भी उनकी वेदना कुठा नही है, विफलता नही है। उनकी वेदना परिणति है। उनका जीवन विषमता और संघर्षो की वैसाखियो के सहारे बीता। उनका पीडा जहॉ एक ओर जीवनव्यापी विसगतियो और विकृतियों से उत्पन्न हैं वही दूसरी ओर उनके मन मे पले स्वपत्नी विफलता है जिसकी तरफ से वे जनजीवन को निर्माणकारी तथा आस्थामयी शक्तियों से जोडना चाहते थे। जब यह सम्भव न हुआ तो उनके काव्य में पीड़ित मन को बेचैनियों

अन्तर्दाह का रूप लेकर आयी। 'तारसप्तक' मे उनकी स्वीकारोक्ति भी है– "मेरी ये कविताए अपना पथ ढूँढने वाल बेचैन मन की ही अभिव्यक्ति है।"

ध्यान देने की बात यह है कि मुक्तिबोध के काव्य मे अभिव्यक्त वेदना स्वनर भूत है, उधार ली हुयी नही। इसीलिए उनमे खारापन है और वह जीवानुभूतियो पर आधारित होने के कारण दमदार और यथार्थ है। डॉ0 जोगलेकर के शब्दो मे– "उपेक्षित पद–दलितो और शोषितो का कष्टमय जीवन कितना वेदनापूर्ण होता है इसका अनुभव स्वय मुक्तिबोध ने किया था। इसलिए उनकी कविताओ मे केवल मौखिक सहानुभूति मात्र अभिव्यक्त नही हुयी है। कवि का जीवन अपने जन सम्पर्क से, यथार्थवाद की भीषण हृदय विदारक परिस्थिति स और विषमता के दारूण प्रहारो से मर्माहत अवश्य हुआ है।" तात्पर्य यह है कि मानव जीवन की वास्तविकताओ की जमीन पर खडे होकर मुक्तिबोध का मानस जिस पीडा, जलन और अन्तर्वेदना को भोगता हुआ अपने से जूझता रहा है उसकी तमाम जिस पीडा, जलन और अन्तर्वेदना को भोगता हुआ अपने से जूझता रहा है उसकी तमाम छटपटाहट–बेचैनी और अन्तर्वेदना उनकी कविताओं मे अभिव्यक्त हुयी है। उदाहरण के लिए 'डूबता चांद कब डूबेगा' कविता की कुछ पक्तियॉ प्रस्तुत है–

अधियारे में दोनो के इन सुनसानो में/बिल्ली की, बाघों की ऑखों सी चमक रही/ये राग–द्वेष ईष्या–भय–मत्सर की ऑखे/हरिया तुता की जहरीली नीली–नीली/ज्वालाकुत्सा की ऑखों में।"

स्वय भी मुक्तिबोध ने अपनी अन्तःसघर्षीय वेदना को सतचित वेदना कहा है लेकिन वेदना, कुठा, निराशा और निष्क्रियता को जन्म देने के बदले सकल्प शक्ति को विकसित करती प्रतीत होती है। कवि की यह वेदना आत्मदान की व्यर्थता की नही आत्मदान की अर्थचेष्टता की वेदना है– "जितना भी किया गया/उससे ज्यादा कर सकते थे/ज्याद कर सकते है।"

वेदना के सघन गहन कतार मे प्रवेश करके जिन्दगी की तहो मे प्रवेश किया था किन्तु इतने पर भी एक आस्था एक जिजीविषा और एक भविष्यधर्मी दृष्टि उनके पास हमेशा रही। तभी तो वह कह सके– "कोशिश करो/कोशिश करो/जीने की/जमीन मे गडकर भी।" कारण, निरन्तर वे उस चेहने की तलाश मे लग रहे जा आधुनिक सभ्यता और सन्त्रस्त जिन्दगी की कडी परतो के नीचे दब गया है। उन्होने यह समझा जरूर कि शून्य से धिरी पीडा ही सत्य है, दु:खों को क्रम ही सत्य है। शेष सब अवास्तव है, मिथ्या है। किन्तु इस पीडा से, इस दर्द से छटपटाते हुए भी वे अपनी आस्था को कायम रख सके। भविष्य के प्रति आस्था सद्योजात नवयुग के शिशु की ऑखो मे तैरती स्वप्नकथा, मुक्तिबोध की चेतना से कभी लुप्त नही हुयी। उनकी आस्था अखण्ड है, जिजीविषा अनवरत और अदम्य है। असल मे मुक्तिबोध तो – "सुबह होगी कब/और/मुश्किल दूर होगी कब।" के आकांक्षी थे। यह ठीक है कि उन्होने मानव और उसके अन्तःकरण को पक्षघात ग्रस्त देखा था किन्तु वे यह कभी नही मान पाये

कि वह मिट गया है, वे उन्माद नही हुए। उन्हे विश्वास था कि इस अर्धमृत मान की चेतना का पुन जगाया जा सकता है, उसे जीवन शक्ति से जोडा जा सकता है। एक भूतपूर्व विद्राही का आत्मकथन' कविता की जमीन यही है– "जमीन मे गडे देहो की खाक से/शरीर की मिट्टी से धूल से/खिलेगे गुलाबी फूल।"

मुक्तिबोध के आस्था वाद मे ही उनकी मानवतावादी दृष्टि निहित है। उनका मानवतावाद मात्र सहानुभूति तक ही सीमित नही है, वह तो मानव–मुक्ति तक फैल गया है। प्रत्येक मनु के पुत्र पर विश्वास करने वालों मुक्तिबोध न तो कभी हारे, न थके, न कभी निराश ही हुए। वे एक ऐसे हिम्मतवर रचनाकार थे जो लडते–लडते कभी थके नही और जिन्होने सदैव अपने ईश्वर पर विश्वास किया– स्नेह किया और भविष्य मे आस्था रखी। उन्होने स्वय कहा है– "वास्तविक जीवन मे अपनी कायरता, साहस–हीनता, अकर्मण्यता त्याग कर समाज में फैले अवसरवाद मे मोर्चा लेते हुए मानवीय समस्याओ से दु खानिभूत और करूणापन्न होकर उसे वास्तविक मानवीय जीवन के मूल्यो और आदर्शों के मार्ग चलना ही होगा। हो सकता है इस स्थिति मे मर जाये और उसके नाम से रोने वाला भी कोई न हो लेकिन क्रुद्ध लोगों को इस तरह जमीन में गड़ना होगा ही। इस तैयारी के साथ, इस दम के साथ यदि हमारा नया कवि मूल्य व्यवस्था विकसित करते हुए मानव समस्या चित्रित करता है तो नि सन्देह वह युग परिवर्तन करने का श्रेय भागी होगा– भले ही उसे श्रेय मिले या न मिले।"

एक अन्तर्कथा शीर्षक कविता मे एक श्रमशील नारी ज्ञानात्मक सवेदन के सहारे जिजीविषा को वाणी देता है– "चल इधर/बीन सूखी टहनी/सूखी डाले/भूरे डठल/पहचान अग्नि के अधिष्ठान/जा पहुँच स्वय क मित्र मे/कर अग्नि भिक्षा/लोगो से पडोसियो से मिल/चिलचिला रही है सडके/व धूल है चेहरे पर/ चिलचिला रही बेशर्म दलिद्दर भीतर का/ पर सेमल का ऊँचा–ऊँचा वह रुधिर/सम्पन्न लाल फूलो को लेकर खडा हुआ/ शक्तियाँ प्रकाशित करता सा वह गहन प्रेम उसका कपाश रेशमकोकल मै उसे देख जीवन पर मुग्ध हो रहा।"

मुक्तिबोध जल की शक्ति के प्रति पूरी तरह आस्थावान थे। कवि की यह आस्था अदम्य आस्था ही उसे सघर्ष करने की शक्ति और प्रेरणा देती है। मुक्तिबोध की कविता उन्ही के शब्दो मे कल होने वाली घटनाओं की कविता है। प्रश्न चिन्ह बौखला उठे, एक स्वप्न कथा जैसी–कविताओ मे कवि की आस्थ ही व्यजित है। जैसे– "वह जहाज/मोक्ष विद्रोह भरे सगठित विरोध का/साहसी समाज है। भीतर व बाहर के पूरे दलिद्दर से /मुक्ति की तलाश मे/आगामी कल नही/आगत वह आज है।" निश्चय ही मुक्तिबोध तमाम संघर्षो, पीडाओ और त्रासद स्थितियो को झेलते हैं, किन्तु उनके आगे वे घुटने नहीं टेकते, अपितु पूरी ताकत और आस्थावान होकर जिजीविषा के साथ आगे बढते है, पैरो से धरती का फैलाव महसूस करते हैं और हाथो से महसूस करते है दुनिया। कवि की आस्था इतनी गहरी है कि उसे अन्धकार मे भी एक

आलोक किरण दिखाई देती है और दिशाए उजला ऑचल पसारे दिखाई देती है परिणामत बह महसूस करता है– "कुछ पलो बाल हिय मे प्रकाश सा होता है–/रास्ते पर रात होते हुए भी मन मे प्रात/नहा–सा मै उठता भव्य नव स्फूर्ति से भी/कभी दूर–दूर मुफलिसी के टूट–फूटे घरों मे सुनहले चिराग जल उठते है।"

यह चेतना उनकी आत्मा के आयतन मे कही गहरे समाये हुये है। वे सार्वजनिक वेदना व साधारण की पीडाओ को नजरअन्दाज नही कर सकते थे। इसलिए नित्य सूखे, डठल, सूखी डाले, टहनियॉ, खोजती हुई और सभ्यता के जगल में अग्नि के कोष्ठ खोजने वाली आत्मा मे जीवत कवि की आस्था है। गर्भ की भार से झुकी होकर भी गृहस्थी चलाने के लिए कपडे धोती, मजदूरी करती, मुफलिसी के टूट–फूटे घरो में रहने वाले, लटरूधारी बूढे पटेल बाबा, किसान, दादा, दाढी, धारी देहाती, मुसलमान चाचा बोझा उठाये आती जाती और बहने–बेटियो और सद्यजात शिशु को छोडकर जाने वाली स्त्रियों की जो प्रतिमायें उनकी कविता मे मिलती है। उनके पीछे कवि की कल्याण कामना का ही प्रसार दिखाई देता है। मुझे याद आता है, चकमक की चिनगारियॉ, डूबता, चॉद कब डूबेगा, एक अन्तर्कथा आदि कविताओ मे लोक हितवादी चेतना की अच्छी अभिव्यक्ति है–

"नीचे उतरो, खुरदरा अन्धेरा सभी ओर/वह बडा तना, मोटी डाले। अधजले फिके कण्डे के राख/नीचे तल में/ वह पागल युवती

सोयी है। मैल दरिद्र स्त्री अस्त–व्यस्त/उसके बिखरे है बाल व स्तर लटका सा/ अनगिनत वासना–त्रस्ती का मन अटका सा/उनमे जो अश्रृखल था, विश्रृखल भी था/उसने काले पल मे इस स्त्री का गर्भ दिया। शोषिता व व्यभिचरिता आत्मा को पुत्र हुआ। स्तन मुँह मे डाल, मरा बालक उसकी झाई अब तक लेटी है पास उसकी परछाई। उसको मैने सपनो मे कई बार देखा है। जीने के पहले मेरी समस्याओ के हल/ओ नागराज/चुपचाप यहाँ से चल।"

वह देखता है कि सभ्यता के चेहरे पर पुते पाउडर की पर्तो के भीतर नग्न, बर्बर देह और रोगीला पंजर है और शोषण की सभ्यता के नियमानुसार बनी सस्कृति के तिलस्मी सिणह चक्रव्यूहो मे फॅसे मानव के प्राण छटपटा रहे है। मानवीय संकट को वे परिस्थितियो का दबाव मानकर चले और सकट के बोध को परिवेश का दबाव स्वीकार ऐसा दबाव जिसमे वर्तमान को खा लिया है– "आज के अभाव के कल के उपवास के/वे परसो की मृत्यु के–/दैन्य के महाअपमान के व क्षोभ पूर्ण/भयंकर चिन्ता के उस पागल यथार्थ का/दीखता /पहाड स्याह।" मुक्तिबोध की यही लोकहित चेतना उनहें मानवतावाद से जोडती है। उनका सवेदनशील मन मात्र ग्लानि मे डूबकर नही रह गया है। अपितु वह तो समस्त मानवता की हितचिन्तक बनकर यह कहता है कि – "मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों मे मानव सुखी सुन्दर व शोषण मुक्त कब होगे।"

मुक्तिबोध का काव्य ससार अधिकाशत दहशत भरा है। उसमे भयावहता व्यथा, अन्तर्व्यथा, सघर्ष, अन्त:सघर्ष, यथार्थ और व्यवस्था के प्रति यथार्थ विद्रोह है तो किन्तु आस्था के धरातल पर। ऐसी मुक्तिबोध की कुछ कविताये है जो जिन्दगी की रागभावना से भी स्पर्शित है। जिन कविताओ मे रागात्मक संवेदन है वे न तो जटिल है न लम्बी और न अन्त संघर्ष से बोझिल ही है। ये कवि हृदय मे उद्वेलित रागभावना के सिन्धु मे उठती हुयी स्वच्छ निर्मल और भावाकुल तरगे है। मुझे कदम–कदम पर एक मित्र के प्रति "अन्त करण का आयतन"–जैसी कविताओ मे एक सहज मानवीय रागात्मक स्वर गूँजता सुनाई पडता है। मुक्तिबोध की अन्तरचेतना सामाजिक यथार्थ के जिस व्यापक परिवेश को उभारती है, उसकी जडो में प्रेम और सौन्दर्य को उससे भी। जैसे– मैरी छॉह सागर तरगो पर जागती जाती/दिशाओ पर हलके पॉव/नाना देश दृश्यो मे/अजाने प्रियतरो को मौन चरण स्पर्श/वह स्पर्श करती मुग्ध/वह अपने प्रियतरो के उगलते मुख को/मधुर एकान्त मे पार/किन्ही सवेदनात्मक ज्ञान अनुभव के/स्वय के फल ताजे परिजात प्रदान करती है, अचानक मुग्ध आलिगन/मनोहर बात, चर्चा वाद और विवाद/उनका अनुभवात्मक ज्ञान–सवेदना/समूची चेतना की आग पीती है/मनोहर दृश्य प्रस्तुतियो–गहन आत्मीयसघनच्छाया/भाव्याशय अधेरे वृक्ष के नीचे/सुगन्धित अकेलेपन मे/खडी है सील तन दो चन्द्र रेखाए/स्वय की चेतनाओ को मिलती है।"

मुक्तिबोध का समग्र काव्य आत्मसाक्षात्कार के सन्दर्भों को प्रस्तुत करता हुआ व्यक्ति के परिवार से सम्बन्धित यह /यह आत्मशोधन व्यक्तित्व का परिकरण आत्मद्वन्द्व, आत्मासाक्षात्कार और आत्मसत्य का अन्वेषण करके पूरा हुआ है। आत्मान्वेषण की प्रक्रिया ने ही मुक्तिबोध से कितनी ही कटु और कितनी ही यथार्थ बाते कहलायी है। कवि की अनुभूत मध्यवर्गीय व्यक्ति के अनुभवो की नीव पर खडी हुई है। उसमे उन्होने दृश्य या प्रस्तुत को कम अदृश्य या अप्रस्तुत को अधिक देखा है। मेरे सहचर मित्र, "चकमक की चिनगारियॉ," "अधेरे मे चम्बल की घाटियॉ," "पता नही" "ब्रम्हराक्षस," "दिमागी गृहाधकार" "कोओराग उटाग," "एक अन्तर्कथा," "एक स्वप्न कथा," "भूल गलती" और "इस चौडे ऊँचे टीले पर" आदि कविताओ मे आत्मान्वेषण की प्रवृत्ति ही मुखरित हुयी है। "भूल–गलती" कविता मे आत्मद्वन्द्व और आत्ममथन की वे स्थितियॉ निरूपित हुयी है जिनमे आत्मसाक्षात्कार तक पहुँचना होता है। कवि ने आत्मचेतन सम्पूर्णता के अन्वेषण को जन–जन के सन्दर्भ मे जोडकर प्रस्तुत किया है– "फिर वही यात्रा सुदूर की वही फिर भटकती हुई खोज भरपूर की/फिर वह आत्म चेतना अन्त.सम्भावना/जाने किन खतरो मे जूझे जिन्दगी।" घने काले अधेरे मे लूट–पाट, छीना–झपटी, आपा, धापी, विवशता, व्यथा विक्षोभ के काले झरने मे नहाती जिन्दगी और उसे भोगता हुआ सघर्ष क्रान्त मानव अपनी जिस जिन्दगी को काट रहा है, उसके बारे में कवि चिन्तातुर भी है और एक घुमक्कड अन्वेषक की तरह सोचता भी है और उनकी कलम सहज ही ये शब्द उगलने लगती है–"छाती मे मधुमक्खी

का छत्ता फैला है। जो अकुलया/ओ देशतत्परा मधुमक्खी के दल के दल/रस मर्मज्ञाओ की सेना स्नेहान्वेषी/पर डक सतत तैयार/बुद्धि का नित सबल"

आत्मान्वेषण के दौरान अधूरी और सतही जिन्दगी के गर्म रास्तो पर चलते हुए मुक्तिबोध ने प्राय पैरो के तलवो के काटती आग को कधो को दबोचती बोझिल स्थितियो की ओर मानसिक यातना भागती जिन्दगी का जिया है। यह भयानकता, ये नश्वर चुभती परिस्थितियॉ, उनके मन मे प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है और वे एक दूसरे ही अनुभव से गुजरते दिखायी देते है– "जहॉ सूखे बबूलो की कटीली पॉत/भरती है हृदय मे धुन्ध डूबा दु ख/भूखे बालको के श्यामचेहरो के साथ/मै भी घूमता हूँ शुष्क।"

मुक्तिबोध को फैन्टेसी प्रिय रही है लेकिन जिन्दगी के अर्थ से अलग नही। वह एक परिदृश्य मे बदलती रहती है और इस बदलाव का मूल्य है– बहुत बडा मूल्य। यह कारण है कि उनकी कविता मानस समस्याओ से पूरी तरह जुडी हुयी है। इस जुडने में ही कविता मानस द्वन्द्व और पीडा की राहो से होता हुआ सतत अन्वेषी बना रहा है। वे आत्मान्वेषण से आत्मविस्तार की ओर बढे है ? 'ब्रह्मराक्षस' कविता मे भी व्यक्ति की भूमिका पर आत्मसघर्ष की प्रस्तुति हुयी है। ब्रह्मराक्षस व्यक्ति की प्रबुद्ध चेतना का प्रतीक है। यह वह चेतना है जो अपने ज्ञान की पूर्णता के गर्व से युक्त है तभी तो वह पारम्परिक ज्ञान के निष्कर्षों को नयी

व्यवस्था देने का दंम भरती है। यही व्यक्तित्व जो ज्ञान–गर्व से युक्त है और विविध विचारको को मान्यताओ की व्याख्या मे अपनी को निष्णात समझता है, आत्मसघर्ष मे फैल जाता है। आत्मोन्वेषण व आत्मसाक्षात्कार के लिए उसे जिन स्थितियो से गुजरना पडता है वे है– "खूब ऊँचा एक जीना सावला/उसकी अधेरी सीढियॉ/वे एक आभ्यतर निराले लोक की/एक चढना और उतरना/पुन चढना और लुढकना/मोच पैरो मे/व छाती पर अनेक घाव/गहन किचित सफलता/आदि भव्य असफलता/अतिरेकवादी पूर्णता की ये व्यथाएँ/बहुत व्यारी है।" 'ओराग उटॉग' कविता मे मनुष्य के निजी यथार्थ की प्रतिकृति है। इसमे आत्मान्वेषण की प्रक्रिया दो स्वरो पर घटित होती एक गलत और अवाछित विवादो के स्तर पर दूसरे अपने भीतर छिपा हुआ असत्य शक्ति और विगलित शक्तियो की भयावहता को न सह पाने के कारण उत्पन्न स्तर पर– "हाय और न जान ले/कि नग्न और विद्रूप/असत्य सत्य का प्रतिरूप प्राकृत औराग उटाग यह मुझमें छिपा हुआ है।"

मुक्तिबोध का काय आत्मान्वेषण, आत्मपरिष्कार से होता हुआ अन्तत व्यक्तित्वातरण मे जाकर सिमट गया है। वह आत्मपरिष्कार तक ही नही रूके है। उन्होंने तो व्यक्ति के सत्य को अन्य तक जन–मन मे स्थानान्तरित कर दिया है। तार सप्तक के वक्तव्य में मुक्तिबोध ने अपनी इस प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है– "मैं कलाकार की स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति पर बहुत जोर देता हूँ। आज के वैविध्य उलझनों से भरे रंग–बिरंगे

जीवन को याद विशाल जीवन समुद्र की परिसीमा उसके तट प्रदेशो के भूखण्ड ऑखो से ओट की रह जायगी। कला का केन्द्र व्यक्ति है पर उसी केन्द्र को अब दिशाव्यापी करने की आवश्यकता है।'' स्थानान्तर गामी प्रवृत्ति का दूसरा रूप आत्म–विस्तार मे दिखाई देता है। हय आत्मविस्तार ही कवि व्यक्तित्व को अन्य व्यक्तियो मे विलय कर देता है। यह आत्मविस्तार व्यर्थ नही क्योकि इसी से गुलाबी फूल गधित होते है व व्यक्ति अपने 'स्व' को सम्पूर्ण जगत मे विखरा देता है, अहम इदम मे पर्यवसित हो जाता है, अह विगलित और विलुप्त हो गया है– ''मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी मे/महाकाव्य पीडा है। पल भी मे सब में से गुजरना चाहता हूँ/ प्रत्येक डर मे से तिर आना चाहता हूँ। इस तरह खुद ही का दिये–दिये फिरता हूँ।''

(आ) मुक्तिबोध की कला चेतना

गजानन माधव मुक्तिबोध ने अपने काव्य मे अपनी कविता के केन्द्रीय तत्व को निखारते के लिए एक अनूठी व अदभुत भाषा शिल्प, प्रतीक बिम्ब विधान एव छद मुक्त शैली का अभिनव प्रयोग किया है जो उनको अन्य कवियो से अलग स्थापित और रेखाकित करती है।

इनके काव्य की भाषा पढने मे जटिल और दुर्गम तो प्रतीत होती है लेकिन जिसने मुक्तिबोध के ऐतिहासिक परिवेश को समझा और पढा है उसे उनकी शैली केवल बोधगम्य ही नही प्रतीत होती बल्कि पाठक को बाधती भी है। मुक्तिबोध के सामने सबसे बडा सवाल यह है कि वे अपनी चर्चित और लम्बी कविताओ जैसे 'अधेरे मे' 'चाद का मुँह टेढा' 'ब्रह्मराक्षस' आदि मे जो कुछ लिखना व कहना चाहते है वह उस अद्‌भुद भाषा शैली के बिना अधूरा रह जाता। मुक्तिबोध की मानसिक जटिलाताओ को अभिव्यक्त करने के लिए यह भाषा शिल्प व शब्द विधान अनिवार्य है जिसका इन्होने प्रयोग किया है।

भाषा- वह पुल जिससे गुजरकर अनुभूत सत्य पाठक तक पहुँचता है। अतएव अभिव्यक्ति और सषप्रेषण के एक मात्र माध्यम के रूप मे भाषा को विशिष्ट महत्ता प्राप्त है। भाषा वह शक्ति है जो रचना स्तर पर एक ओर तो अपने भाव में आनुभूतिक सवेदना से जुडकर उसे कथ्य का रूप प्रदान करती है और दूसरी ओर कथ्य संप्रेषण को कलात्मक

रचनाए प्रदान करती है। मुक्तिबोध के शब्दो मे – "जीवानुभावो से जुडी हुई शब्द की अर्थ परम्परा के रूप मे भाषा एक सामाजिक निधि है।" मुक्तिबोध की काव्य–भाषा मे कवि के अनुभव को सप्रेष्य बनाने की अद्भुत शक्ति, वह जीवन के तथ्यों को उजागर प्रदान करने मे समक्ष है और कवि मानस की जटिलताओ को सही रूपाकार प्रदान करने वाली है। उनकी भाषा मे जो वैचित्रय दिखाई देता है वह इसलिए है कि वे एक ओर तो जटिल और त्रासद अनुभवो से जूझ रहे थे और दूसरी ओर अभिव्यक्ति के सकट को भी महसूस कर रहे थे।

मुक्तिबोध का शिल्प अद्भुत है। उनमें जो प्रतीक रूपक, मानवीयकरण और बिम्ब आये है, वे पारम्परिक भी है और नये अर्थो से सयुक्त भी है। कुछ प्रतीक और रूपक तो जाने–पहचाने है कूछेक के नये पुराने होकर भी नये अर्थों से युक्त है। 'इस ऊँचे टीले पर' कविता मे चित्रित 'मृत सुन्दरी' उसे मानवात्मा का अर्थ लिए हुए हैं जा मर गया है – "बगले मे कमरे/और कमरो के भीतर कमरे/परदे के पीछे/और बहुत सुन्दर एक चौडे पलंग पर/मृत सुन्दरी लेटी है।" चम्बल की घाटी मे चट्टान पर बैठे डाकू के लोमहर्षक कारगुजारियो के विवरण की कवि हमारा–ही जडी भूत रूप बताता है। बुराई दर बुराई करते हमारी आत्मा पथरा गयी है। हम ही अपने सबसे बडे शत्रु है। वस्तुतः उनकी कविताओ का शिल्प फैन्टेन्सी का शिल्प है। इसमें आये प्रतीक और बिम्ब यहॉ तक

कि शब्द भी अभिधात्मक अर्थ से अधिक व्यजनार्थ या प्रतीकार्थ रखते है। ये बिम्ब प्रतीत मुक्तिबोध की कविता के प्राण है।

मुक्तिबोध की भाषा उतनी ही ताजी और मौलिक है जितनी कि उनकी चिन्तन/अपनी और दूसरी भाष के भेद भाव को मिटाकर अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक–अग्रेजी, सस्कृत, मराठी, उर्दू, आदि हर भाषा के चालू शब्द को अपना लिया गया है। लगता है कवि का शब्द विधान बडा ही/डेमोक्रेटिक है। शब्दो के प्रयोग मे मुक्तिबोध बन्धन नही मानते है। वे व्याकरण की परवाह नही करते बल्कि व्याकरण का ही अपनी भाषा के रख–रखाव के लिए आमत्रित करते है। कितने ही शब्द–प्रयोग कतने ही विशेषण, कितने ही मुहावरे ऐस है जो मुक्तिबोध के हाथो मे आकर अपना रूप बदल लेते है। इस बदलाव से कविता की सप्रेषणीयता बढी ही है। जैसे–रक्तिम के लिए रक्तिकाल, अगारमय–अगारी, अधियारे–अधियाले, रुग्ण–रोगीला, धूमिल–धुमैला अचानक के लिए अचक आदि। विशेषणों के नये प्रयोग भी मिलते है। जैसे सर्द अंधेरा, प्यारी रोशनी, चहचहाती चिडियॉ आदि। विशेषणो में रंग को व्यक्त करने वलो विशेषणो के प्रति कवि का लगाव कविताओं मे काफी फैलाव लिए हुए हैं। कही–कही तो एक ही सज्ञा के लिए दो–दो तीन–तीन विशेषण एक साथ रख दिये गये है। मुक्तिबोध की भाषा मे गतिशीलता है भागवती सी लगती है। शब्द इतने तेज तर्रार है कि पाठक भी कई बार कारगर सिद्ध होते है। जैसे–जटपट आवाज चावो सी पडती सटर–पटर, धड–धडाम, अरराकर गिरना, खट–खटाहट आदि। शान्ति, नीरवता और रहस्यमय स्थिति के लिए भाषा क्रमशः शीतलता व

जिज्ञासा के कदमों से चलती हुई डरावनी स्थितियो के लिए सन्नाटा फैलाती हुई भय और आतक का घेरा डालती चाहती है—

सामने है अंधियाला और
स्याह उसी ताल पर सवलाई चॉदनी
समय का घण्टाघर
गगन मे चुपचाप अनाकार खडा है।

'ब्रह्मराक्षस' कविता की निम्न पक्तियो की भाषा जहॉ वातावरण के निर्माण से सहायक हुयी है वही निम्न निर्माण की क्षमता से भी युक्त है—

शहर के उस खण्डहर की तरफ,
परित्यक्त सूनी बावडी,
के भीतरी ठंडे अंधेरे मे,
बसी गहराइयॉ जल की,
सीढियॉ डूबी, जल की,
उस पुराने घिरे पानी मे।
बावडी को घेर डाले खूब उलझी है।
खडे है मानै औदुम्बर
व शांखों पर
लटकते घुग्धुओ के घोसले
परिव्यक्त भूरे गाल

भाषा की बिम्ब—क्षमता और गतिशीलता के लिए निम्नलिखित एक ही उदाहरण यथेष्ट है जिसमे हर बिम्ब बनाता हुआ आगे बढता गया है—

कगारो—कटानो पर सावधान सरक कर
झरबेरी झुरमुट के पास थक बैठता कि
देखता हूँ,
झुरमुट मे हलचल कॉपती
कोई सॉप पहाडी से
निकल कर भागता है लहरीली गति से,
मानो मेरी कविता की कोई पॉत
मुझसे ही भयभीत
भाग जाना चाहती।

मुक्तिबोध कभी–कभी शब्दो के सग्रथन से ऐसा वातावरण तैयार कर देते है कि पाठक अनायास ही रहस्य रोमाच, और किसी अनजानी भूमिका पर पहुॅच जाता है, अकस्मात भौचक्का सा रहा जाता है और कुछ समय के लिए अपने को भी भूल जाता है। ऐसे स्थलो पर फैन्टेन्सी प्रिय कवि विराट कल्पना का सहारा लेता है। फलत वातावरण जिस रूप मे मुर्तित हो उठता है, वह कवि की शब्द – सयोजन का कमाल है। जैसे–तालाब के आसपास मे अधेरे मे वन–वृक्ष/चमक–चमक उठते है। हरे–हरे अचानक/वृक्षो के शीश पर नाच–नाच उठती है बिजलियॉ/शाखाऍ डालियॉ झूमकर झपट कर/चीख कर एक दूसरे पर पटकती है सिर की अकस्मात/वृक्षो के अधेरे मे छिपी हुयी किसी एक/तिलस्मी खोह का शिला द्वार/खुलता है धड से।"

मुक्तिबोध के शब्द–सयोजन मे सस्कृत, उर्दू, मराठी, अग्रेजी, गुजराती आदि सभी भाषाओ के शब्दो का सगम दिखाई पडता है। यहॉ हर भाषा का शब्द दूसरी भाषा को अपने हमराज, हमसाया और हमसफर समझता है। यो उनकी भाषा मुख्यतया तात्सम प्रधान है लेकिन तद्भव, देशज तथा अन्य भाषाओ के शब्द भी प्रयुक्त मिलते है कि बानगी नीचे प्रस्तुत है–

तत्सम शब्द– प्रकोष्ठ, मंत्रोच्चर, स्थित, प्रज्ञ, जातवेदस, परिव्यक्त, आजानु बाहु, सहजोत्सर्रामयी, रुधिरस्नात, आत्मसविद, अनुमानित, मलिनता, प्रतिपल, अखण्ड, विगात, प्राक्तन, उद्भान्त, संवेदन प्रफुल्लित, कटकित, आत्मचेतन, अविवेकवादी, पूर्णता, अतिरेकवादी, शोध्क,

विकृताकाय स्फटिक–प्रसाद, लक्ष–कक्ष, वनभूत, विशालाधर, अग्नि, काष्ठ, नागात्मन, ज्वलित, द्युति, प्रस्तरघन अकशायनी, ब्रणाहत, द्युति–प्रभा, स्नेहाश्लेष, अमावृत, सत, चिक्वैदना, बिरातशत, पुण्य, आन्दोलिता आदि। इनके अतिरिक्त भारतीय दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र और न्यायशास्त्र से भी लिये गये है। विज्ञान के विभिन्न शब्दो से बने तत्सम शब्द भी मुक्तिबोधी की कविताओ मे मिलते है– चुम्बकीय शक्तिमूल उद्जन, रासायनिक चिकित्सक, अणुपरमाणुओ का विस्तार और ज्यामितिक रेखा आदि। कही–कही दीर्घ सामाजिक पदावली का प्रयोग भी मुक्तिबोध ने खुलकर प्रयोग किया है। जैसे निज–ऐतिहासिक विवरण, नक्षत्र–तारक–ज्योतिलोक, शिश्नोदर, अन्वय–व्यतिरेक–प्रभाउपपति सहित, तारक–द्युति–मडल आदि।

देशज एवं तद्भव शब्द– बावडी, कनेर, मुडेर, करौदी, पैठना, चूनरी, कजी, ऑख, उलीचना, घिघियाती, खपैरल, थूहर, माटी, दलिद्दर, बिलम, बावने, बिचकना, सरगहा, झील, लौकती, चौन्हना, कॉधे, थापे आदि।

उर्दू फारसी के भेद– जिरह बख्तर, सलाम, जरूरत, बदनीयती, बेखौफ, मनसबदार, शाहीमुकाम, आदि।

अंग्रेजी के शब्द–शेरवलेट, प्रोसेशन, स्क्रीनिग, थॉरिटी, सिक्रेटरी, मीटिंग, प्रौपेगैन्डा, आर्टिलरी, गैसलाइट, कैवेलरी डिसेक्शन, मार्शल लॉ, आक्सीजन आदि।

मराठी शब्द– नक्षे (नक्शे), नसीधार (नक्काशीदार), गजर, कंदील, दूर (बाढ), बास, हंकाल दिया (निकाल दिया) आदि।

सच तो यह कि मुक्तिबोध के काव्य–सम्पदा मे शब्द–सम्पदा का विशेष महत्व है। उनकी भाषा मे गतिमानता को व्यक्त करने वाली शब्दावली के साथ–साथ अनुकरणामक शब्द योजना भी मिलती है। जैसे – बडबडाहट, चटपटाहट, धॉय, धॉय, हाय, हाय, थू–थू, सरसर, कॉव–कॉव, लुचलुची, पिचपिची, छि–छि हुऑ–हुऑ आदि। इनमे अधिकाश ध्वनिमूलक है। इस प्रकार अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न भाषाओ के शब्द–योजना करके मुक्तिबोध ने अपनी भाषा को डिमोक्रेटिक बल दिया है।

कथ्य को सहज सप्रेष्य बनाने के उद्देश्य से मुक्तिबोध ने मुहावरो और कहावतो का भी प्रयोग किया है। जैसे– जमाना, सॉप का काटाा, दिल की बस्ती उजाडना, सचाई की ऑखे, मन टटोलना, अपना गरिमत करना, मछलियॉ फॅसाना, जिन्दगी में झोल होना, बौद्धिक सीग निकलना, सिट्टी–पिट्टी गुम होना, दॉव उडाना आदि। भाषा को प्रभावी और शक्तिमान बनाने के लिए अनेक स्थलो पर कवि ने सूक्तियो का प्रयोग भी किया है । जैसे अब तो रास्ते ही रहते है। मुक्ति के राजदूत सस्ते है । शोषण को अतिमात्रा, दुनिया मे कमाने के लिए कभी कोई फूल नही खिलता शोषण की अतिमात्रा स्वार्थो की सुखयात्रा, आत्मा से गया, मर गई सभ्यता आदि कवि की शैली मे नाटकीयता, प्रसन्नता, जटिलता तो मिलती है, व्यंग्यशीलता भी भरपूर मिलती है। दिमागी गुहाधकार का औराग, ओटांग, चाँद का मुह टेढा है। एक भूतपूर्व विद्रोही की आत्मकथन और एक स्वप्न कथा में व्यंग्यशैली का सफल प्रयोग हुआ है। व्यंग्यशैली के एकाध

उदाहरण प्रस्तुत है। पूँजीवादी सस्कृति के प्रतीक रूप में चाँदनी के लिए मुक्तिबोध कहते है–

बदमस्त कल्पना सी फैली थी रात भर,
सेक्स के कष्टों के कवियो की काम–सी।

अथवा आत्मालोचन के स्वर मे व्यग्य प्रस्तुत है–

स्फूतियाँ कहती है कि । मै जो पुत्र हूँ उनका।
जब नही पहचान मे आता हूँ। लौट विदेशो मे।
अपने ही घर पर मै इस तरह नवीन हूँ,
इतना अधिक मौलिक हूँ– असल नही ।

वस्तुत व्यग्यशैली मुक्तिबोध की भाषा मे जनजीवन के यथार्थ चित्रण और प्रेषण का सशक्त माध्यम बनकर आयी है। यो अधिकांश कविताओ को शैली सुनियोजित है जिससे कविताएँ व्यवस्थित हो गया है। कविताओ मे नाटकीयता और गतिशीलता पर्याप्त मात्रा मे है। मुक्तिबोध को किसी भी लम्बी कविता को ले लीजिए उसमे हर दम पाच पंक्तियो के बाद एक त्वरागतिशीलता दिखायी देगी। हर विराम के बाद नया सदर्भ और उससे निकलते विभिन्न सन्दर्भ पाठक के ह्रदय को छूते चलते है। उनके यहाँ एक सन्दर्भ निकलता, फिर दूसरा, फिर तीसरा सन्दर्भ ठीक वैसे ही जैसे एक बडे सन्दूक मे दूसरा, तीसरा फिर चौथी सन्दूकची निकलती जाती है।

बिम्ब विधान– काव्य भाषा की श्रेष्ठता का प्रतिस्थापन बिम्ब–विधायनी और दैनिक जीवन की भाषा ही हो सकती है। जो कवि जितना अधिक जन भाषा का प्रयोग करेगा, जिसके शब्दों में जितनी

सम्मूर्तन क्षमता होगी, उतनी ही क्षमता उसके कथ्य मे भी होगी। इस दृष्टि मे मुक्तिबोध सफल है। उनमे बिम्बोद भावना की अपार क्षमता है। मुक्तिबोध के बिम्ब विराट, सश्लिष्ट औचित्यपूर्ण और यथार्थ परिदृश्य को उभारने के गुण से अधिक आकर्षक हा गये है। ये बिम्ब कही ऐन्द्रिय सवेदनो पर आधृत है कही अलकृति पर और यथार्थ जगत की छवियो को उद्घाटित करते है। इनमे गति है, आकर्षण है घनता है, विस्तार है और है वातावरण की मूर्तित करने की असीम शक्ति/प्रकृति, निर्मित बिम्बो मे भी कवि भयानक और रहस्यमय परिवेश को प्रस्तुत कर सका है। 'ब्रह्मराक्षस' कविता की शुरू की पक्तियो इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है– "शहर के उस ओर खण्डहर की तरह परिव्यक्त सूनी बावडी/के भीतरी/ठंडे अन्धेरे मे/ बसी गोलइयॉ जल की/ बावडी को घेरे/ डालें खूब उलझी है/ खडे है मौन औदुम्बर/व शाखो पर/लटकते घुग्घुओ के घोसले/ पत्यिक्त भूरे गोल।" इस उद्धरण मे आया बिम्ब बन गया है। आदिम जीवन–क्षेत्र के बिम्ब का प्रयोग भी कवि ने किया है। ब्रह्मराक्षस, अजगरी मेहराब वाला बूढा बरगद भैरव, परिव्यक्त सूनी बावडी आदि उल्लेखनीय है इस दृष्टि में।

मुक्तिबोध के बम्बों मे विविधता है। जे जनजीवन, प्रकृति, सैनिक जीवन, गणित विज्ञान और तर्कशास्त्र सभी क्षेत्रो से उपकरण जुटाकर तैयार किये गये है। बिम्बो का यह वैविध्य–अन्धेरे मे चम्बल की घाटियॉ, ब्रह्मराक्षस डूबता चॉद कब डूबेगा, एक स्वप्न कथा, चॉद का मुँह टेढा है और चकमक की चिनगारियाँ जैसी कविताओ मे बखूवी देखा जा सकता है। ऐन्द्रिय बिम्बों का प्रयोग कवि ने कुशलता से किया है। ध्वनि

स्पर्श घाण चाक्षुष और रग बिम्ब भी मुक्तिबोध के काव्य मे पूरे रग रोगन के साथ आये है। नीचे कुछ उदाहरण प्रस्तुत है–

(i) "स्वय की ग्रीवा पर/फेरता हूँ हाथ कि/करता हूँ महसूस/एकाएक गर्दन पर एक उगी हुयी/सघन ख्याल और/शब्दो पर उगे हुए बाल तथा/वाक्यो मे ओराग उटाग/बढते हुए नाखून"– स्पर्श सवेद्यबिम्ब।

(ii) "अजगरी मेहराब/मरे हुए जमानो की सगठित छायाओ मे/बसी हुई/सडी–बसी बास के लिए/फली है गली के/मुहाने मे चुपचाप।" – घ्राण सवेद्य बिम्ब।

(iii) "दूर–दूर मुफलिसी के घरो मे सुनहलो चिराग जल उठते है। आधी अन्धेरी शाम/ललाई मे निलाई से नहाकर/पूरी झुक जाती है"– रग सवेद्य बिम्ब

(iv) "रात के दो है/दूर–दूर जगल में सियारो को हो हो। पास–पास आती हुयी घहरासो गूँजती/किसी रेलगाडी के पहियो की आवाज।"– श्रवण संवेद्य बिम्ब

दृश्याकन मानसिक ग्रन्थियो का अभियजन परिवेश की यथर्थता और मनोभावो की अभिव्यजना के लिए मुक्तिबोध ने आकर्षक किन्तु विचित्र बिम्बो की सृष्टि की है।

अलंकार विधान– अलंकारो का प्रयोग मुक्तिबोध ने अपनी भाषा मे अतिरिक्त प्रभावो के उत्पादन के लिए किया है वह भी अपनी कविता के सौष्ठव बढाने के लिए, नहीं प्रत्युत सहजता के साथ। उनके

अप्रस्तुत प्रमुख अलकार है– उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, मानवीकरण आदि। उनकी भाषा मे प्रयुक्त नवीन, प्रयोगशील तथा प्रगतिशील चेतन के वाहक है जिनके कुछ उदाहरण प्रस्ततु है–

(i) जेल के कपडे सी फैली है चॉदनी।

(ii) अम्बर के पलने से उतार रवि–राज पुत्र,

ढॉक कर सॉवले कपडो मे, रख दिया टोकरो मे उसको,

रजनी रूपी पन्ना दाई, अपने से जन्मा चन्द्र पुत्र

फिर सुला गगन के पलने में चुपचाप टोकरी सिर पर रख

खिसक गयी।

(iii) तिरछी गिरी रवि रश्मि के उडते हुए परमाणु जब,

तल तक पहुँचते है कभी,

तब ब्रह्मराक्षस, समझता है सूर्य ने झुककर

नमस्ते कर दिया।

(iv) उद्विग्न भालो पर,

सितारे आसमानी छोर पर फैले पर, अनगित दशमलव से।

(v) दुःख के रागो के तमगों सा पहना।

(vi) शर्म.से जलते हुए बल्बों के आस पास।

बेचैन ख्यालो के पंखों के कीडे।

(vii) श्याम आकाश मे

संकेत भाषा–सी तारो की ऑखे चमचमा रही हैं,

मेरा दिल ढिबरी सा टिमटिमा रहा है।

प्रतीक योजना– मुक्तिबोध की प्रतीक योजना सबसे अलग–अलग किया है यद्यपि उन्होने पारस्परिक प्रतीको का भी प्रयोग किया है लेकिन अधिकाश प्रतीक अपने अर्थ के नये है। उनके प्रतीक शब्द वाक्य, पक्ति और शीर्षको तक मे फैले हुए है। ऐतिहासिक, सास्कृतिक, पौराणिक प्रतीको के अलावा वैज्ञानिक, दैनिक जीवन के प्रतीक, प्राकृतिक प्रतीक और मिथिकल अतीत से गृहीत प्रतीक की प्रचुरता मुक्तिबोधक के वाक्य का उल्लेखनीय पक्ष है। पौराणिक प्रतीको का बाहुल्य कवि के दिमाग मे छाया हुआ है। जैसे– रावण, ब्रह्मराक्षस, ओराग आदि। रावण 'जलाया हुआ' काठव्य मुन है जडवात है। 'ब्रह्मराक्षस' हमारा अचेतन मन भी है और बौद्धिक चेतना भी। ओराग ओटाग हमारी अविकसित दुर्दमनीय पाशविक वृत्तियो का प्रतीक है। इसी प्रकार गाधी, तिलक, अक्षयवट, अर्जुन और शिवाजी भी प्रंतीकवत प्रयुक्त हुए है जो आधुनिक सदर्भो मे अपनी अर्थवता प्रमाणित करते है। मुक्तिबोध की 'भूल–गलती' कविता मे आया कैदी ईमानदार स्वतन्त्र चेता और शोषण के विरूद्ध प्रतिबद्ध व्यक्तित्व का प्रतीक है, पता नही' कविता मे आया बरगद परम्परा का प्रतीक है, 'चॉद' पूँजीवाद शक्ति का 'भैरव', शोषित वर्ग की मानसिकता का 'कस', क्रूर और शोषक सत्ता पर 'पोस्टर' 'क्रान्तिधर्मिता का डूबता चॉद' मृतप्राय पूँजीवादी व्यवस्था का स्याह पहाड, संघर्षो का अंधेरा, मध्यवर्गीय संस्कारो की विवशता का समझौता, परस्ती और अवसरवादिता का तिलस्मी खोह मानसिक संघर्ष आकर हीन स्थान का 'चम्बल की घाटी, व्यवस्था की लूटपाट से शोषित जीवन का "इस्पात" शोषित वर्ग की श्रमशक्ति का

'टीला' आत्मविवेक का 'बेबीलोन' मृतप्राय राज्य व्यवस्था का, शून्य आन्तरिक खोखलेपन का, कमल' लक्ष्य का, 'शिशु शोषित मानवता का आत्मज सत्य और उत्तरदायित्व बोध सभी प्रतीकार्थ से युक्त होकर आया है। मुक्तिबोध का काव्य शिल्प उनकी मौलिक प्रतिमा का प्रमाण है। भाषा शैली बिम्ब निर्मात्री कल्पना प्रतीकान्वेषी वृत्ति और यथार्थपरक अप्रस्तुत योजना सभी पर उनकी छाप है।

मुक्तिबोध यथार्थ के चित्रकार जीवन की सगत असगत स्थितियो के दिग्दर्शक जनकवि थे। यह वह कवि था जो मूल्यहीनता, अमर्यादा, असयम और मानवीय आदर्शों के विरोधी तत्वो और रूपो से उत्पन्न उस सत्रास और मरी हुयी आवाज को भी सुन सजा जो स्वाधीनता के बाद के वर्षो में उभरी है। वे बराबर यह महसूस करते रहे कि जडीभूत दबावो को भार मनुष्य की छाती सहन नही कर सकती क्योकि वे इतने वजनी, दमघोटू और भयावह है कि 'चीख निकालना भी मुश्किल है/ और असम्भव है हिलना भी। उनकी कविताएँ मानव सभ्यता का इतिहास भी प्रस्तुत करते है और भारतीय जीवन के उस पक्ष को भी जिसमे वे स्वय पिसते रहे।

(इ) सामाजिक चेतना और कला चेतना की पारस्परिकता या सामंजस्य

कविता मे जीवन का गहरा प्रवेश उसके भीतर हलचल और समझ पैदा करने का एक तरीका मुक्तिबोध ने पैदा किया। एक ओर उन्होने कविता के रूप–विषयक सघर्ष पर बल दिया और कविता का नया सौन्दर्य–शास्त्र भी रचा, दूसरी ओर कविता को प्रचलित, पारस्परिक शब्दावली को नये अर्थ, नयी भगिताये और तेवर दिये। जिन शब्दो की दार्शनिक, रहस्यवादी, व्यक्तिवादी अर्थ–स्थापनायें थी, उन्हे उन्होने जीवन के व्यापक अर्थ–विस्तार से जोडकर व्यक्तिवादियो की एकांगी, सीमित दृष्टि को चुनौती दी। 'आत्मपरक' जैसे –बहुप्रचलित शब्द को 'आत्मसघर्ष' के रूप मे प्रतिस्थापित किया। 'अतरात्मा' के सबंध में कहा– 'मै अपनी अतरात्मा का पक्षधर हूॅ और अपने जैसे अन्यो की अन्तरात्मा का भी पक्षधर हूॅ। 'सोऽहम' की दार्शनिक व्यापकता को उन्होंने सर्वहारा की पक्षधरता के औचित्य से जोडा और 'व्यक्ति–मन' की जगह आत्मा की 'महान,दुर्दम, विप्लवकारी' ज्ञानमूलक शक्ति को प्रतिष्ठित किया।[1] बिल्कुल इसी तरह मुक्तिबोध प्रगतिशील सहित्यकारों की इस मान्यता का निषेध करते हैं कि कविता मे 'रूप' एक औपचारिक चीज है – वह रूप ओर कला को भी कविता के संघर्ष के भीतर लेते है और कविता मे 'कलाबाजी' और 'सहज स्फूर्ति अत स्रोत, जैसी रूमानी धारणा को ध्वस्त करते है अगर एक श्रेष्ठ कविता 'संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदना के तीव्रघात–प्रतिघात' से जन्मती है, तब एक प्रगतिशील कवि के लिए भी रूपसंबंधी सर्वनात्मक

सघर्ष क्यों जरूरी नही है? ये प्रश्न मुक्तिबोध की कविता उठाती है। दरअसल 'मुक्तिबोध' को दोहरा सघर्ष अनुभव और कला के नकली जीवन के विरूद्ध ही था। उनकी पुख्ता और कद्दावर कविताये इसी दोहरे सघर्ष की परिपक्वता का सम्मूर्तन है। 'उनका सौन्दर्यशास्त्र परजीवी नही है, बल्कि कविता की दोहरी आग मे से स्वय तरकर निकला है।' जाहिर है कि 'अधेरे मे' कविता इसी दोहरे सघर्ष की चरम परिणति है। उसमे कविता भी है और क्रान्ति भी और यह क्रान्ति शिल्प भाषा बिम्ब, प्रतीक, रूपक आदि के प्रयोगो मे भी है। भाषा और शिल्प के सदर्भ मे, बिम्बविधान और प्रतीक–योजना के संदर्भ मे मुक्तिबोध जितना स्वीकार, परीक्षण, विश्लेषण और सक्रिय चोट करते है– उनकी पुरानी अवधारणाओ को, मोह को तोडते है, उतना ही वह उन्हे अपनी अदम्य जिजीविषा और जीवन मे 'अपराजेय आस्था की जिन्दा तडप' से नये–नये अर्थ–स्पन्दन और ऊर्जा प्रदान करते है। उनकी कविता काव्यभाषा, शिल्प और बिम्बों–प्रतीकों की बनी बनायी जमीन पर नही चलती, ठोस सार्थक और जीवन्त जमीन की तलाश करती हुयी आगे बढती है। किसी भी प्रकार की जडता को उन्होंने स्वीकार नही किया है। नयी राहे खोजने के लिए 'आत्मसहार' और 'कविता का सहार' वह एक साथ करते है।

श्रीकान्त वर्मा के इस कथन का औचित्य 'अधेरे में' को पढकर समझ मे आता है कि 'कविता केवल रचना नहीं, ध्वंस भी।[2] कविता मे भाषा के प्रश्नो और कर्तव्यो पर विचार 'तारसप्तक' से आरम्भ हुआ था और यह पहचाना गया था कि भाषा और अनुभव दो पृथक् चीजें नहीं है।

भाषा और अनुभव के अविभाज्य हो जाने के बाद ही कविता के प्रश्न शुरू होते है। पहली बार तारसप्तक के सम्पादकीय मे अज्ञेय, मुक्तिबोध, नेमिचद्र जैन भारतभूषण अग्रवाल ने कविता और मनुष्य से सबधित शकाओ को, भाषा और मनुष्य से सबधित बुनियादी प्रश्नो को उठाया था– बहुत से कवि तो नयी मुहावरे पर सेट ढॉचे पर रचना करने लगे लेकिन अकेले मुक्तिबोध कविता और मनुष्य, भाषा और मनुष्य के प्रश्नो से जूझते हुए कविता को 'नष्ट' करते रहे। "जब तक नयी कविता केवल सयोजन–धर्मी रही, तब तक मुक्तिबोध की प्रतिष्ठा एक भाषा–विरोधी कवि के रूप मे रही। लेकिन जैसे ही भाषा ने करवट ली और यह तथ्य उभरकर आया कि आज की कविता के लिए सयोजन आवश्यक नही, बल्कि स्वय भाषा और इस तरह कविता का सहार जरूरी है, मुक्तिबोध की कविता अपने युग का सबसे प्रमाणिक स्वर हो गयी।"[3] अन्य नये कवियो की तरह मुक्तिबोध भाषा का 'सस्कार' नही करते सहार करते हैं।

सामन्यत. मुक्तिबोध की काव्यभाषा के सदर्भ मे 'अजनबीपन', 'खुरदरापन', और मिली जुली असगत भाषा की बात उठायी जाती रही है। लेकिन डॉ0 बच्चन सिंह दो बाते स्पष्ट करते है– एक मुक्तिबोध की कविता तो जनवादी कविता है लेकिन कविता की भाषा जनवादी नही है। यह जरूरी नही है कि जनवादी भाषा से लिखी गयी कविता जनवादी ही हो।... कवि अपने भाषा की तलाश स्वयं करता है। दूसरी 'मुक्तिबोध' की भाषा में अजीब खुरदरापन है जो अपना अनुकर्ता नही पैदा करता पर मसृणता की रूमानियत से बचाता भी है। इसकी बहुत कुछ

जिम्मेदार उनकी अपनी मातृभाषा मराठी पर भी है। इसलिए इसे हिन्दी और मराठी का हाइब्रिड भी कहा जा सकता है। सभवत ऐसी भाषा मे जन–क्रान्ति की कर्कशता को रूपायित करना सम्भव है।"[4] यह सर्वविदित है कि मुक्तिबोध द्विभाषी थे। घर मे मराठी और कविता मे हिन्दी, यह एक ऐसा भाषिक द्वन्द्व था जो मुक्तिबोध के कवि–कर्म को उनके अन्य समकालीनो की तुलना मे अधिक चुनौतीपूर्ण बना देता है। ××× मुक्तिबोध अपनी रचना–प्रक्रिया के दौरान अपनी द्विभाषिता का निषेध नही करते, बल्कि उसे एक विलक्षण, सृजनात्मक स्तर पर सक्रिय बनाये रखते है। प्रसिद्ध कवि केदारनाथ सिह इस कथन से मुक्तिबोध की घर की भाषा और कविता की भाषा के द्वन्द्व की ओर उनकी पूरी कविता की बनावट पर उसके प्रभाव की चर्चा करते हुए पहचान लेने के बाद उनका सथान रचनात्मक उत्तेजना ले लेती है। मुक्तिबोध की भाषा पर जहॉ उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप है, वहीं उनकी दृष्टि और चितन के साथ–साथ उनके जीवनानुभवो और सवेदनों की भी। भाषा के आभिजात्य को तोडकर सामाजिक चेतना को अधिक विश्वसनीय बनाने की प्रक्रिया में उन्होंने अग्रेजी, मराठी, उर्दू, तत्सम–तद्भव शब्दो और ठेठ देशज शब्दो की ताकत से 'अभिव्यक्ति के खतरे' उठाये है। रोमाटिक अनुभूति के शब्द–जाल से निकालकर वह 'अंधेरे मे' भाषा की चट्टानों, पठार, पहाड, गलियो, भयानक अंधरे, सन्नाटे, गुहा, ठंडी–बेतरतीब, डरावनी क्रूर, सच्चाइयों से टकराते हुए, उसके पुराने रूढ अर्थ काटते हुए उसकी पुनर्रचना करते है। डॉ0 नामवर सिह के अनुसार 'मुक्तिबोध की प्राणवान् काव्यभाषा उसके

प्राणवान, कथ्य की प्रतिध्वनि।' 'यह भाषा अनगढ, बेडौल, खुरदरी लग सकती है लेकिन अपनी अर्थवत्ता मे बडी जानदर है। सम्भवतः 'अनगढपन' और 'खुरदरेपन' की बात भी एक जमाने मे प्रतिक्रियात्मक दृष्टि के कारण कही गयी थी। आज के सदर्भ मे अब जब 'अधेरे मे' पढी जाती है जो उसकी भीतरी ज्वलनशील ताकत पर ध्यान दिया जाता है और भाषा के प्रति मुक्तिबोध के विचारो पर ध्यान देना चाहिए। "कला के तीसरे क्षण मे सृजन प्रक्रिया जोरो से गतिमान होती है। कलाकार को शब्द–साधना द्वारा नये–नये भाव और नये–नये अर्थ–स्वप्न मिलने लगती है। ××× भाषा फैटेसी को काटती–छांटती है और इस प्रक्रिया के विपरीत फैटेसी भाषा को सम्पन्न और समृद्ध भी करती है। उसमे नये अर्थ–अनुषग कर देती है, शब्द को नये चित्र प्रदान करती है। इस प्रकार कवि भाषा का निर्माण करता है। जो कवि भाषा का निर्माण करता है, विकास करता है, वह निस्सदेह महान कवि है।"[5] आगे भी वह कहते हैं कि इस प्रकार कला के तीसरे क्षण मे मूल द्वन्द्व है– भाषा और भाव के बीच। ××× यह द्वन्द्व अत्यन्त महत्वपूर्ण और सृजनशील है।

'अंधेरे मे' कविता का आरम्भ और क्रमश. उसका विकास ही भाषा के निर्माण और विकास के साथ होता है– अभिव्यक्ति के तिलस्मी द्वारो को खोलता हुआ! क्रान्ति ज्वाला को प्रज्वलित करने वाले की मार्मिक पीडा को वह इस प्रकार व्यक्त करता है–

> अनगिनत काली–काली हायफन–डैशो की लकीरो की हलचल
>
> सब और विखराव

मै अपने कमरे मे यहाँ लेटा हुआ हूँ।

काले–काले शहतीर छत के

हृदय दबोचते।

यद्यपि ऑगन मे नल जोर मारता,

का सवाल ही नही उठता, अद्भुत 'व्यजकता' है– 'अर्थ--स्पन्दन' है, अथ–विस्तार है। डॉ0 नामवर सिह ने इसी अर्थ–शक्ति की प्रशसा करते हुए कहा है कि "सीधी सादी उक्ति भी कविता के नाटकीय सदर्भ में आधुनिक मानव की ऐतिहासिक बेचैनी का ध्वनित करती है।" इन पक्तियो के भीतर छिपा हुआ जो तनाव है वही उसे कविता बनाता है, टूटन की यह आशका, समकालीन, मनुष्य का यह मानसिक तनाव, यह व्यग्रता ही उसे सामान्य कथन होने से बचाता है। वैसे भी 'कविता मे कहने की आदत नहीं कह दूँ, वर्तमान समाज चल नही सकता'– कहने को दो टूक कथन है लकिन दो टूक कहते हुए भी उसमे जो पीडा है, जो सच्चाई है– वह प्रभाव डालता है, केवल शब्दावली नही। इसलिए 'अधेरे में' की काव्यभाषा पर विचार करने के लिए केवल उस पारम्परिक दृष्टि का होना एकदम बेमानी है जिसमें केवल यह गिनाया जाता है कि कवि की भाषा मे कितने अग्रेजी, सस्कृत, मराठी, बोलियो के शब्द है? या वह कितनी हिन्दी हैं, कितनी मराठी? अथवा एक असगत कृत्रिम, जटिल भाषा है।

यह तो सही है कि मुक्तिबोध की समूची रचना–प्रक्रिया मे उनके जन–संस्कार उनकी बहुत बडी शक्ति है– इसलिए वह तद्भव प्रयोग

अधिक करते है लेकिन डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार ये तद्‌भव प्रयोग खामोश है, वे अपनी तद्‌भवता घोषित नही करते है।

खूब खखारती पानी की धारा।

किन्तु न शरीर मे बल है

अँधेरे मे गल रहा दिल यह।

यहाँ मार्मिक व्यापारो की जैस श्रृखला है– वैसी पूरी कविता मे है– कही से भी, कही भी स्थल उठा ले– 'अवसाद और अवसन्नता का समस्त पराजित अनुभव प्रत्यक्ष हो उठता है।' कवि का शब्द–ससार, अभिव्यक्ति प्रतिदिन के अनुभव की है। ऑगन का खखारता नल एक अवरोध पैदा करता उत्कृष्ट स्वर है, चेतावनी का, जीवन का स्वर। लेकिन अवसन्नता की आत्मघाती गिरफ्त से कवि छूट नही पाता है और इस 'अँधेरे मे' दिल गलता रहता है। शरीर अशक्त है। इस प्रकार की दो विरोधी स्थितियो के चित्र और लय इस कविता में आद्यन्त है। उस अनुभूति को, बदलवाने को कवि एकाएक', 'अकस्मानत्' 'इतने मे' और अब', 'सहसा', 'किन्तु' शब्दो के सार्थक– नाट्‌यात्मक प्रयोग से सम्प्रेषित करता है– नाटक और फिल्म की तरह कविता मे दृश्य बदल जाते है। 'सीन' और चित्र बदल जाते है, अनुभव–ससार बदल जाता है और कविता की गति भी। 'अधेरे मे ध्वनियो के बुलबुले उभरते है और शब्दो की लहरे छटपटाती हैं, लेकिन इस कविता मे शब्दो से बनने वाले दृश्य–श्रव्य चित्र बार–बार छिन्न–भिन्न होते है, बार–बार बनते है जिसमे सीधी–सादी सपाट पंक्तियाँ आती है।

अब तक क्या किया

जीवन क्या जिया!!

ज्यादा लिया, और दिया बहुत–बहुत कम

मर गया देश, अरे जीवित रह गये तुम!!

और फिर बेचैन कवि का यह कथन–

क्या करूँ, किससे कहूँ,

कहाँ जाऊँ, दिल्ली या उज्जैन?

ये सभी पक्तियाँ सामान्य नही है– उनके पीछे पूरा इतिहास, दुर्घटना है, समकालीन अनुभव है, असगतियो केलिए मानवीय पीडा है। यहाँ नियति की स्वीकृति नही है– गहरी अन्दरूनी बेचैनी के जो निष्क्रिय नही बनाती, सक्रिय होने के लिए उत्तेजित करती है। यहाँ सीधे कथन या सपाट बनायी की जगह बाधित होती है और तब लगता है कि अपनी प्रतिज्ञा के बावजूद (कविता के कहने की आदत नही) कवि को कविता मे 'कहना' पडता है दोनो भाषा–स्तर घुल–मिल सकते थे बशर्ते कवि में वक्तृत्व भाव इतना प्रबल न होता। मुक्तिबोध के यहाँ टुकडों मे बडी सघन कविता है पर कवि के पसारे मे उसका प्रभाव इतना प्रबल न होता। मुक्तिबोध के यहाँ टुकडो में बडी सघन कविता है पर कवि के पसारे मे उसका प्रभाव कम हो जाता है। × × × मुक्तिबोध में यह प्रक्रिया ठीक ठीक न चल पाने का कारण उना अनियोजित वक्तृत्व है।[6] यह कथन बहुत बहुत उपयुक्तनही है– भाषा के स्तर पर 'अधेरे मे' की सघनता उसकी समग्रता में और इस तथ्य को पहचानने से ही अनुभव किये जात सकते हैं कि उसमें भाषा के

अनेक स्तर है और वे पृथक या टुकडो मे नही है– सभी प्रकार और स्तर, एक दूसरे पर छाते हुए, एक दूसरे को ठेलते हुए, क्रिया–प्रतिक्रिया करते हुए, सम्पूर्ण आरोह–अवरोह, द्वन्द्व की, तनाव की भूमिका निभाते हुए कविता को 'तेजस्क्रिय' बनाते है, 'बल' देते है और काव्यभाषा का 'लावण्य' भी जो निराला मे मिलता है। डॉ0 नन्दकिशोर नवल के ये वाक्य भाषा की इस अनिवार्यता को पहचानते है– 'अधेरे मे' भयावह और शक्तिशाली एव सुन्दर दुनिया का निर्माण नयी कविता की भाषा मे सभव न था। स्वभाक्त यह कविता भाशा की पूर्वप्रचलित प्रणाली को छोडकर एक ऐसी भाषा मे रची गयी है जो जितनी ही 'अकाव्यात्मक' है उतनी ही 'काव्यात्मक' भी।"[7]

निश्चय ही 'अधेरे मे' एक ओर सस्कृतनिष्ठ भाषा का ओज दृष्टिगत होता है–

कुहरे मे सामने, रक्तलोक–स्नात–पुरुष एक, रहस्य साक्षात्!!

तेजोप्रभावमय उसका लालट देख,

मेरे अग–अंग में अजीब एक थर–थर।

और वर्ण, दीप्त–दृग, सौम्य मुख

संभावित स्नेह–सा प्रिय रूप देखकर

विलक्षण शंका,

भव्य आजानुभुज देखते ही साक्षात्

गहन एक सन्देह।

ऐसे स्थल कविता में बार–बार नही आते बीच–बीच मे कुछ शब्दों या वाक्याशो में आते हैं। इसलिए ध्यान इस पर जाना चाहिए कि यहॉ कि

कवि भाषा का यह रूप क्यो ले रहा है? क्या 'कौन मनु' ? से सम्बन्ध होने के कारण? अथवा एक पूरा इतिहास सवेदना मे जगाने के लिए? या उसकी भव्यता, तेज और रहस्यमय रूप की व्यजना और उसके प्रभाव के लिए? क्योकि तुरन्त फिर अभिव्यक्ति और शब्द बदल जाते है कि–

किन्तु वह फटे हुए वस्त्र क्यो पहने है ?

– – – – –

रोटी उसे कौन पहुँचता है?

कौन पानी देता है ?

मुक्तिबोध 'फटेहाल' और 'प्रचण्ड शक्तिमान', 'घाव' और 'स्मित' से असगतियो और विरोधो को विरोधी और क्रूर स्थितियो का भी बोध कराते है और यह बात पूरी कविता मे है। उनकी भाषा 'अवसर अनवसर' 'प्रकट' होती रहती है और उससे 'तेजस्क्रिय मोटी–रत्न' बिखरते रहते है। 'रगीन फूलो से' उसका काम नही चलता।

किन्तु असन्तोष मुझको है गहरा,

शब्दाभिव्यक्ति – अभाव का सकेत।

काव्य–चमत्कार उतना ही रगीन

परन्तु ठडा।

मेरे भी फूल है तेजस्क्रिय पर

अतिशय शीतल।

यह 'असतोष' और 'आवेग' होते हुए भी आवेग पर नियत्रण काव्यभाषा मे प्राण डालता है। सस्कृतनिष्ठा भाषा से बिल्कुल उल्टी भाषा, सरल भाषा का एक भिन्न स्तर जन–क्रानित के दृश्य मे आता है–

मकानो की छत से

गाडर कूद पडे

धम से।

घूम उठे खभे

अचानक वेग से चल पडे हवा मे।

दादा का सोटा भी करता है दॉव–पेच

गगन मे नाच रही कक्का की लाठी।

यह भाषा निराला की 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' की कई कविताओ की याद दिलाती है। यंहॉ मुक्तिबोध ने न केवल जन–शक्ति की क्रियाशीलता की तीव्रता का अनुभव उन्ही के जीवन के शब्दो मुहावरों से कराया है बल्कि ध्वनि,गति और लोक के चेतना के सूक्ष्म अकन की क्षमता और लय भी पैदा की है। सचमुच इन शब्दो के बीच मे 'गगन' शब्द ध्यान आकृष्ट करता है। नन्दकिशोर नवल के अनुसार 'अतिम पक्ति के छायावादी' गगन का तो दिवाला ही निकल गया है। लेकिन प्रत्येक पंक्ति एक चित्र है। सरल भाषा के रूप मे ऐसी समर्थ भाषा को अगर डॉ० रामविलास शर्मा 'लक्कडतोड' भाषा कहते है तो यह निराधार है। इस भाषा का अध्ययन करने के लिए पूर्वाग्रहों और परम्पराओं से मुक्ति अपेक्षित है। 'प्रोसेशन के दृश्य के लिए जिस तरह के शब्दो, ध्वनियों लय और बाहरी भयावह

स्थितियो के बोध के साथ भाषा रची है उसे हम क्या कहेगे? वहाँ सस्कृत शब्द तो है ही, अग्रेजी के और बोलचाल के शब्द भी है। मुक्तिबोध ने जानबूझकर सस्कृत शब्दो के साथ 'विजातीय' शब्दो या 'विजातीय' शब्दो के साथ सस्कृत शब्दो को रखकर ओजस्वी चित्रो की सृष्टि की है।[8] मुक्तिबोध की भाषा अनुभूति की सवेदना की भाषा है– एक लम्बी कविता मे हर बदलाव को, हर स्थिति को वह भाषा की सम्पूर्ण सरचना से सम्प्रेषित कर लेते है– अप्रयास। लेकिन उसी के बीच वह जीवन के माधुर्य का, उस अत्यन्त कोमल सवेदनशील अनुभव की भी अभिव्यक्ति कर लेते है जो क्रान्ति की सृष्टि का एहसास, संस्पर्श देती है–

मै उन सपनो को खोजता हूँ, आशय,
अर्थों की वेदना घिरती है मन में।
अजीब झमेला।
घूमता है म उन भावो के घावो के आस–पास
आत्मा मे चमकीली प्यास भर गयी है।
जग पर दीखती है सुनहली तसवीरे मुझको
मानो कि कल रात किसी अनपेक्षित क्षण मे ही सहसा
प्रेम कर लिया हो मनोहर मुख से
जीवन भर के लिए!!
मानो कि उस क्षण
अतिशय मृदु किन्ही बाहों ने आकर
कस् लिया था मुझको

उस स्वप्न–स्पर्श की, चुम्बन–घटना की याद आ रही है,

याद आ रही है।।

अज्ञात प्राणयिनी कौन थी, कौन थी?

कमरे मे सुबह की धूप आ गयी है,

गैलरी मे फैला मे सुनहला रवि–छोर

क्या कोई प्रेमिका सचमुच मिलेगी?

हाय! यह वेदना स्नेह की गहरी

जाग गयी क्यो कर?

इस तरह के सवेदनशील स्वर कविता मे कई बार आते है। कविता मे 'महक–लहर' मे सुगन्ध भी है किन्तु कोई छिपी वेदना–चिता भी छटपटा रही है। निश्चय ही 'अधेरे मे' मे पढते समय भाषा पर कठिनता, सरलता, ओज–माधुर्य, सस्कृत–अग्रेजी, हिन्दी और बोलियॉ, हिन्दी–मराठी, आदि गुणो या शब्दो की प्रधानता की प्राचीन, दृष्टि बिलकुल अप्रासगिक हो जाती है– मुक्तिबोध सभी प्रकार के शब्दो का 'बेहिचक' और 'जरूरी' प्रयोग करते है क्योकि जहॉ 'प्रोसेशन' दृश्य को स्थापित किया है अथवा जहॉ 'स्क्रीनिग करते मि0 गुप्ता' .. . का प्रसंग है वहॉ वे प्रयोग केवल 'नाटकीय शिल्प की सवादीय सहजता' के लिए ही नही कर रहे है– वह सब निरर्थक होता अगर उससे बेहद अमानवीय, कृत्रिम व्यवस्था का उसकी सवेदहीन, दासताभरी मनोवृत्ति का पर्दाफाश और कविता के भीतरी–मानवीय तनाव की अभिव्यक्ति नही होती।

भाषा और अभिव्यक्ति के स्तर पर 'अधेरे मे' 'दृश्यालेख' जैसे कविता है। उसकी गयात्मकता उसका बहाव, उसकी सवादात्मकता, क्रियाशीलता और वातावरण उसमे 'नाटक' को जन्म देता है। बल्कि कविता मे नाट्य की हरकत और तनाव ही उसकी भाषा और शिल्प की मूल प्रकृति और मौलिकता है— वही उसकी प्राणवत्ता और अद्भुत व्यजकता का कारण है। फैटेसी के साथ यह शिल्प और भाषा की यह शक्ति इतनी अभिन्न है कि वह उसका अविभाज्य अग, उसकी जरूरत बनी गयी है। एक ओर मुक्तिबोध की यह विशेषता है कि वह 'परस्पर विरोधी भाव–चित्रो का धूप–छॉह मेल, (नामवर सिह) रचकर, विरूद्धो का सामजय' (रामचन्द्र शुक्ल) करके चलते है— विरोधो परिस्थितियॉ–दमन और क्रान्ति, सृप्ति–जागरण, विरोधी रंग, विरोधी लय–टोन, गतियॉ, विरोधी भाव, विरूद्ध क्रियाये सब साथ–साथ लेकर चलती है जो कविता मे 'स्वत नाट्यात्मक सौन्दर्य' की सृष्टि करता है, क्योंकि विरोधी स्थितियो–कार्यो से उत्पन्न 'तनाव' ही नाटक की मुख्य भाषा है। 'अधकार है तो प्रकाश भी, सुगन्ध है तो बन्दूक की गोली भी, मानवीयता है तो अमानवीयता भी, पीडा है तो आस्था भी, 'विशिष्ट' जन है तो 'फटेहाल' जन भी, भय भी तो करुणा भी, फूलो के गुच्छे है तो रायफल भी, काव्यनायक है तो रहस्यमय पुरुष भी, वर्तमान है तो भविष्य भी, अभिव्यक्ति के खतरे है तो परिपूर्णावस्था की खोज भी, उसमें अगर कविता हैं, तो उपन्यास को तिलिस्म और नाटक का कार्य–व्यापार एवं पाठक–दर्शक सम्प्रेषण शक्ति भी, कहानी है तो इतिहास भी, आतंक है तो उसे तोडने–भेदने की विलक्षण ऊर्जा भी।

दूसरी विशेषता है कि मुक्तिबोध पाठक को एक दर्शक की तरह इस पूरी कविता के साथ लेते, अनुभव करते, प्रत्यक्ष दर्शन कराते हुए, बेचैन–उत्सुक–जिज्ञासु और अद्भुत लोक के जादुई रोमाच एव क्रूर यथार्थ के कठोर सत्य और साथ–साथ क्रानित की जागरूक प्रक्रिया से साक्षात्कार कराते हुए चलते है, उसे छोडते नही बल्कि लगातार 'बिजली के झटके' से देते है। वैसे तो शमशेर ने लिखा है कि "इसमे लय, सूर और ताल की बारीकियॉ न ढूँढो। ये लिपियो की भावुकता नही, इनमे विचार गुनगुनाते है इनमे तस्वीरे बहुत ही जागे हुए होश की हे। ××× इनका रोमान दर्दनाक है, और आज का हैं। अगर कविता मे ऐसी कोई गाथा उभर–उभर उठे तो – कितनी भी लम्बी वह हो, अखरेगी नही।[9] दरअसल ये बाते भी 'अधेरे मे' पर हुई तात्कालिक प्रतिक्रियावादी दृष्टि के सदर्भ मे कही गयी थी। लेकिन इतने वर्षों के अन्तराल के बाद अब यह कहना ठीक नही है क्योंकि 'अधरे मे' मे सुर, लय, ताल सब है और बहुत है– बस वहॉ वह सगीत' नहीं है जो कविता में चला आ रहा था पर 'उस सगीत' का स्थान नाटकीय लय, टोन और गति ने ले लिया है और 'अधेरे मे' जैसी कविता के लिए वही अपेक्षित भी था– द्वन्द्वात्मक सघर्ष के लिए प्रसाद ने 'प्रलय की छाया' और निराला के 'राम की शक्तिपूजा' मे जिस 'नाटय' के विलक्षण सौन्दर्य को लिया था, 'अंधेरे मे' उसी का विकसित रूप है– अधिक स्वतंत्र, उन्मक्त और प्रत्यक्ष एव अपना–सा । इस लम्बी कविता मे अनेक सदर्भ है, अनेक दृश्य हैं– उस परिवर्तन का बोध मुक्तिबोध नाटकीय गति, हाव–भाव और भंगिमाओं से कराते हैं– इस अर्थ में यह हिन्दी की

अकेली मौलिक रचना है। इसलिए विष्णु खरे ने इसे 'स्तर–बहुल रचना' कहा है। कवि जैसे पूरी कविता मे बदलते सदर्भो– दृश्यो का एहसास पाठक को अपने साथ लेकर चलत हुआ, प्रत्यक्ष दृष्टा बनाता हुआ, निरन्तर साक्षात्कार के लिए भागीदारी के लिए उत्सुक–विवश करता हुआ चलता है।

जिस खौफनाक ससार की सृष्टि करता हुआ कवि आरम्भ मे ही एक जासूसी उपन्यास या फिल्म का वातावरण पैदा करता है। वह अद्‌भुत इसलिए है कि उस काव्यनायक को चक्कर लगाते किसी के पैरों की आवाज बार–बार ———बार–बार सुनायर जाती है और वह दीखता नारी और हृदय की धकधक ही उससे पूछती है– वह कौन? अभिनय की सारी भगिमाये पक्तियो मे है और सर्वत्र है। ध्वनियो और प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न वातावरण भी साथ–साथ चलता है– अधेरा, प्रशान्त, जल लेकिन इसी अधेरे मे कोई बडा चेहरा अपनी पहचान बताता है। तिलस्मी खोह का शिलाद्वार धड से खुलना, लाल मशाल एक रहस्य पुरुष का साक्षात् दीखना, सब भाषा की लय, टोन से उत्पन्न नाट्य है। अचेतन स्थिति मे गिरा दिये जाने पर 'अरे हॉ, सॉकल ही रह–रह बजती है। द्वार पर कोई मेरी बात बताने के लिए ही बुलाता है। आधी रात इतने ॲधेरे मे कौन आया मिलने? यह वही है, जी हॉ! जो मुझसे तिलस्मी खोह मे दिखा था। वह पुरुष जैसे जो कहता है– काव्यनायक का मध्यवर्गीय मन उससे कतराता है।–

कहता है– 'पार करो पर्वत–सन्धि के गहवर

रस्सी के पुल पर चलपर

दूर उस शिखर–कगार पर स्वय ही पहुँचा।

अरे भई, मुझे नही चाहिए शिखरो की यात्रा

मुझे डर लगता है ऊँचाइयो से

बजने दो सॉकल।।

ये केवल सवादात्मक पक्तियॉ नही है– इनमे जीवन यथार्थ की विषमताये, चुनौतियो, कमजोर मन का भय, भय से उत्पन्न उपेक्षा–भाव और उस सबकी क्रियात्मक, नाटकीय अभिव्यक्ति है और जब काव्यनायक दरवाजा खोलने लडाखडाता हुआ उठता है और ॲधेरे के ओर छोर टटोल–टटोलकर आगे बढता है तो लय बदलती है–

पैरो से महसूस करता है धरती का फैलाव,

हाथो से महसूस करता हूॅ दिशाये

सॉसो से अनुभव करता हूॅ दुनिया

मस्तक अनुभव करता है आकश

दिल मे तडपता है ॲधेरे का अन्दाज

ऑखे ये तथ्य को सूॅघती सी लगती

अर्थ और अनुभूति की दृष्टि से यहॉ लय – परिवर्तन अनिवार्य अग है– ऐन्द्रिय–बोध स्वत. होता है और फिर नाटकीय क्रियायें–

चलता हूॅ सॅभल–सॅभल कर

द्वारा टटोलता,

जग–खायी, जमी हुयी, जबरन

चिटखनी हिलाकर

जोर लगा, दरवाजा खोलता,

झॉकता हूँ बाहर

लेकिन गहरा सन्नाटा, कुत्तो–सियारो की आवाजे और उसे ॲधियो सून मे चीख'

'वह चला गया है,

वह नही आयेगा, आयेगा ही नही

अब तेरे द्वार पर।

अपनी मनस्थिति की अभिव्यक्ति के लिए अकसर कवि शब्द, वाक्याश को दोहराता है और उस दोहराने मे 'बलघात' से ही, उच्चारण वैशिष्ट्य पैदा कर उसे सकेत, व्यजना और लय देता है। छन्द म ये 'नाटकीय लय' और 'लय द्वारा अर्थ–सृष्टि, अर्थ–विस्तार' 'ॲधेरे मे' की मौलिकता है और फिर सिविल लाइन्स! उसके साथ काल–बोध वातावरण और कविता मे घनीभूत होता जाता। सघर्ष–आत्म और बाह्य–ओर फिर अचानक–

हाय! हाय! तॉलस्ताय

कैसे मुझे दीख गए

× × × ×

और फिर प्रोसेशन जिसका एहसास कवि दूर बैण्ड की दबी हुयी क्रमागत तान–धुन, दीर्ध लहरियो से कराता है– यह तो 'एकाएक परिवर्तन के झटकों' से पाठक को निरन्तर 'सतर्क दर्शक' बनाने की प्रक्रिया है जा ब्रेख्त

के नाटको के तरह पाठक/दर्शक को सदैव सक्रिय आलोचक की तरह रखती है। फिर जुलूस को गैस लाइट पॉतो की बिन्दुए छिटकना और तब उस लाइट की निलाई मे रग बैण्ड दल के अपार्थिव चेहरे और उस मृत्यु–दल की शोभा–यात्रा मे अनुभूत होना–कराना अद्‌भुत दृश्य है। जिस तरह 'राम की शक्ति पूजा' मे निराला, शब्द सयोजन, भाषा की विलक्षण समायोजन शक्ति और ध्वन्यात्मक–लयात्मक सृष्टि से युद्ध के दृश्य को, उसकी पदचाप, तालबद्ध लय, चिढी, झुलसी, पथरायी, बिगडी, मानसिकता से भयावह चेहरे, उनके अस्त्र–शस्त्रो उसके पीछे छिपी विकृतियो और उसके दूरगामी अर्थो को व्यजित करता हुआ उस अपने मे एक पूर्ण और स्वतत्र , समकालीनता को व्यजक दृश्य बना देते है और उसमे भी उस 'प्रोसेशन' को वह अकेला, शब्द–निर्भर नही छोडते, हस्तक्षेप करते है–

> शायद मैने उन्हे पहले कही तो भी देखा था
>
> शायद उनमें मेरे कई परिचित।।
>
> उनके पीछे यह क्या!!

जब इस 'परिचित' मे साहित्यकार, पत्रकार, कवि, उद्योगपति, मत्री, कुख्यात उस्ताद सब मिलते जाते हैं तो कवि की 'हाय, हाय!!' भी बेहद सार्थक हो जाती है। प्रोसेशन से जब सहसा क्रोध भरा शोर उठता है– 'मारो गोली, दागो रसाले को एकदम' क्रान्ति विरोधी, दमनकारी, प्रवृत्तियो को एक सशक्त, क्रोधविष्ट, गयात्मक, नाटकीय चित्र उपस्थित होता है– रास्ते पर भागदौड, काव्यनायक पसीने से सरोबारे! फिर अचानक स्वप्न का टूटना। एक ओर काव्यनायक स्वयं भोक्ता, द्रष्टा है– और पाठक को भी वह उस

'भोक्तृत्व', दर्शकत्व का भागीदार बनाता है। यह तो 'बिजली के झटको–सी यातना' का अनुभव है– शब्दो मे जीवित है–

हाय्, हाय्! मैने उन्हे देख लिया नंगा,

इसकी मुझे और सजा मिलेगी।

जीवन की विसगतियॉ और उसकी प्रतिक्रिया दोनो एक साथ है और फिर यह सोचते है कि–

यह सब क्या है ?

किसी जन–क्रान्ति के दमन–निमित्त यह

मार्शल लॉ है!!

भागता मे दम छोड,

घूम गया कई मोड,

चौराहा दूर से ही दीखता,

× × × ×

हॉ वह रहता है सिरफिरा कोई एक।

किन्तु आज इस रात बात अजीब है!

वह जो सिफारिश है आज वह भी आत्मोद्‌बोधमय गीत गा रहा है और कवि मन उछल पडता है–

खूब भई, खूब भई,

यानी क्रिया–प्रतिक्रिया का, कवि मानस के आनन्द, आश्चर्य, भय हताशा का सवादात्मक स्वर, इस कविता की छन्द–रचना के, काव्यशिल्प का विलक्षण प्रयोग है। 'अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया, मर गया देश, अरे

जीवित रह गये तुम'– इन पक्तियो का आत्मर्भतर्सना, उद्बोधन, विडम्बना, विसगति, के सकेत मे बार–बार प्रयोग किया गया है जिससे पूरा नाट्यात्मक द्वन्द्व पैदा होता है।

क्यां करूँ, किससे कहूँ,

कहॉ जाऊॅ, दिल्ली या उज्जैन।

ये पक्तियॉ व्यंजकता मे भी अपूर्व है ही–एक टुकडे मे काव्यनायक की मन स्थिति, क्षत–प्रतिक्षण की प्रतिक्रियाये, अन्तर्द्वन्द्व बेचैनी की अभिनयात्मक स्वर–भगिमाये बनती जाती है। और फिर–

हाय, हाय।

उसने भी यह क्या गा दिया,

यह उसने क्या नया ला दिया

प्रत्यक्ष

मै खडा हो गया खुद ही के सामने

निज की ही घन छाया–मूर्ति सा गहरा

होने लगी बहस औ

लगने लगे परस्पर तमाचे

छि. पागलपन है,

वृथा आलोचन है।

छाया–मूर्ति से बहस, परस्पर तमाचे सभी कुछ नाटकीय भंगिमा क्या दृश्य का प्रतिरूप है। इस 'चक्र' और 'द्वन्द्व' और छटपटाहट के बीच बाहरी और

भीतरी दुनियाँ के अन्दर घटित क्रियाओ–घटनाओ के बीच कविता विकसित होती है।

एकाएक मुझे मान।।

पीछे से किसी अजनबी ने

कन्धे पर रखा हाथ।

चौकता मै भयानक

एकाएक थर थर रेग गयी सिर तक

नही, नही।

अगिक चेष्टाओ, प्रत्यक्ष अनुभूति और सात्विक भावो का, अनुभावो का बेहद हरकत–भरी भाषा मे चित्रण है। 'भागता मै दम छोड, घूम गया कई मोड।। की पुनरावृत्ति सामान्य नही है– जितनी ही साकेतिक और अर्थयुक्त है जन–क्रान्ति के सघर्ष के सदर्भ मे उतनी ही नाटकीय, लयपूर्ण और क्रियात्मकता से भरी।' उससे तनाव और जिजीविषा विकसित, प्रतिबिम्बित होती है– आवेग और तेज के साथ–

भागता हूँ दम छोड

घूम गया कई मोड।

धुँधले–से आकर कही–कही दीखते

भय के? या घर के? कह नहीं सकता

× × × × × ×

कोई मुझे खीचता है रास्ते के बीच ही।

जादू से बँधा हुआ चल पडा उस ओर।

भीतरी दुनियॉ के अन्दर घटित क्रियाओ–घटनाओ के बीच कविता विकसित होती है।

एकाएक मुझे मान।।

पीछे से किसी अजनबी ने

कन्धे पर रखा हाथ।

चौकता मै भयानक

एकाएक थर थर रेग गयी सिर तक

नही, नही।

अंगिक चेष्टाओ, प्रत्यक्ष अनुभूति और सात्विक भावो का, अनुभावों का बेहद हरकत–भरी भाषा मे चित्रण है। 'भागता मै दम छोड, घूम गया कई मोड।। की पुनरावृत्ति सामान्य नही है– जितनी ही साकेतिक और अर्थयुक्त है जन–क्रान्ति के सघर्ष के सदर्भ मे उतनी ही नाटकीय, लयपूर्ण और क्रियात्मकता से भरी।' उससे तनाव और जिजीविषा विकसित, प्रतिबिम्बित होती है– आवेग और तेज के साथ–

भागता हूँ दम छोड

घूम गया कई मोड।

धुँधले–से आकर कही–कही दीखते

भय के? या घर के? कह नहीं सकता

× × × × × ×

कोई मुझे खीचता है रास्ते के बीच ही।

जादू से बँधा हुआ चल पडा उस ओर।

और तिलक की मूर्ति को देखते ही मूर्ति का हिलना 'सब ओर चिगारियॉ गिरना,' 'अरे अरे यह क्या!!' फिर उनके मस्तक से खून टपकता देखकर बेतहाशा चिल्ला पडना–

हाय, हाय, पित पित ओ,

चिन्ता मे इतने मे उलझो

हम अभी जिन्दा है जिन्दा

चिन्ता क्या है,

काव्यनायक से केवल यह नही कहलाया कि 'हम अभी जिन्दा है। पर दोबारा' जिन्दा शब्द–प्रयोग से आशा–विश्वास भी पैदा किया और 'उच्चरित ध्वनि' और नाटकीय भगिमा भी। यह बातचीत की भाषा को टोन है। इतने मे छाती मे भीतर ठक–ठक सिर मे धड–धड निजत्व छीले जाने का अनुभव अद्भुत। बन्दूक की धॉय–धॉय ने आसमान कॅपाया तो काव्यनायक के पैरो मे गति भी दी। बन्दूक की धॉय–धॉय ने आसमान कॅपाया तो काव्यनायक के पैरो मे गति भी दी। अन्तत थककर बैठने, सोचने–विचारने पर रोने की पतली–सी आवाज का सूने–मे कॉपना, गाधी जी को देखने का सारा दृश्य अत्य प्रभावशाली है– आंशका, जिज्ञासा, विस्मय, वेदना, करुणा की उस अनुभूति मे उसे गांधी के शब्द से लगते हैं–

'भाग जा, हट जा

हम है गुजरे हुए जमाने के चेहरे

आगे तू बढ जा।'

प्राय दो के बीच टकराव, सवाद–कभी मूर्त कभी अमूर्त चलता है और भार और एक्शन से भरकर–

नाक पर चश्मा, हाथ में डण्डा

कन्धे पर बोरा, बॉह मे बच्चा।

पूरा रेखाचित्र। और लोक की लय मे बॅधा। फिर वह पूरा शिश–प्रसग। अद्भुत आश्चर्य से, ममता स्नेह से, भविष्य की कल्पना से, कर्म से, दायित्य वे भरा। शिशु का रोना, उसे चुपाने के सारे प्रयत्न दृश्यात्मक है और सतत प्रयास को, कर्मशीलता को स्थापित करते है। और जब वह शिशु सूरजमुखी फूल–गुच्छे मे बदल जाता है तो–

भई वाह, यह खूब !!

और फिर –'मै बढ रहा हूँ

कन्धे पर फूलो के लम्बे वे गुच्छे

क्या हुए, कहॉ गये ?

ओ हो!

बन्दूक आ गयी

वाह वा !!

वजनदार रायफल,

भई खूब!!

स्थिति परिवर्तन के साथ–साथ व्यग–उपहास, बातचीत का लहजा और उस मारक स्थिति मे रस लेने काव्यमय–नाट्यमय भंगिमा देखते ही बनती है। सारी हरकत और एहसास 'शब्द' मे है। सचमुच इस भाषा की उकनी

खोज 'जीवन–पद्धति की खोज' है– यह खोज सामाजिक–सास्कृतिक प्रक्रिया से जुडी हुई है। एकान्त–प्रिय कलाकार की मृत्यु का दृश्य अनुभव और भाषा अभिव्यक्ति का मार्मिक उदाहरण है। रामस्वरूप चतुर्वेदी कविता की रचनात्मक ईमानदारी पर बात करते हुए कहते है कि "मुक्तिबोध की रचना हर क्षण बेचैनी और ऐठन मे से निकलती है। × × × मूल प्रश्न है यह बेचैनी किस हद तक और कैसे रचना मे रूपान्तरित होती है। 'अधेरे मे' के लबे खंडो मे कवि की समस्या है समाज के उत्थान–पतन और आन्दोलनो के बीच अपनी रचना के प्रेरक तत्वो का अभिज्ञान, रचना केसे बाहर से अदर आती है और फिर कैसे बाहर दूर–दूर तक परिव्याप्त हो जाती है।"[10] यही बेचैनी और परिव्याप्ति 'अधेरे में' की भाषा की रचनाशीलता है। यह भाषा 'विद्रोह और रचना के सम्पृक्त अनुभव' का प्रमाण है। यहॉ 'अर्थों की वेदना घिरती है मन मे और 'प्रत्येक अर्थ की छाया में अन्य अर्थ/झलकता साफ–साफ'। रचना और अर्थ का स्रोत, भाषा से प्रवाहमान है। ज़ो 'अपने मे द्युतिमान' था 'मुक्ति के लिए तृषार्त्त' था उसका यों वध हुआ, मर गया एक युग, मर गया एक जीवनादर्श!!' इस वेदानुभूति के बाद ही 'आततायी सत्ता के सम्मुख पहुँचने की भयानक अनुभूति–

एकाएक हृदय धडककर रूक गया, क्या हुआ!!

भयानक सनसनी।

पकडकर कॉलर गला दबाया गया।

चॉटे से कनपटी टूटी कि यह क्या

त्वचा उखड गयी गाल की पूरी।

कान मे भर गयी

भयानक अनहद नाद की भन–भन।

यह भाषा दृश्यात्मक, गहरे तनाव से उत्पन्न क्रियात्मक और ध्वन्यात्मक है। फिर भाषा ही पूरा दृश्य बदलती है– चित्र बदलती है। शीश की हड्डी तोडी जा रही है– देखा जा रहा है कि किस यत्र मे ऊर्जा है, किस रग कौन सी फुरफरी है। इस पूरे दृश्य मे मानवीय यातना, अमानवीय षड्यत्र, तनाव और द्वन्द्व को कवि कैसे ही शब्दो की ध्वनियो से, बढती जाती झुझलाहट, दो विरोधी पक्षों के सघर्ष से व्यक्त करता है। जिसकी चरम अवस्था उस चिढी।·खिझलायी आवाज में आती है–

स्क्रीनिंग करो . मि0 गुप्ता,

क्रॉस एक्जामिन हिम थॉरोली!!

इसे हम केवल अंग्रेजी शब्दो का प्रयोग, 'अग्रेजी वाक्य का कविता के नाटकीय शिल्प को संवादीय सहजता' देने वाला प्रयोग कहते है तो नितात अपर्याप्त और भीतरी सवेदना के दर्द को न पकड पाना है क्योकि नाटक भी केवल सवादों से नही बनता, तनाव और विरोध, किया और विशिष्ट लय से बनता है। उपर्युक्त शब्द या वाक्य जहॉ आततायी सत्ता का मुखौटा, उसकी मानसिकता, कृत्रिमता को बेनकाब करत है वही उस 'तनाव' कोभी लाते है। सघर्ष और विद्रोह की पूरी सार्थक जमीन, ठोस आधार बनते है। निर्मल वर्मा के अनुसार 'दो तत्वों के बीच–मुक्तिबोध की आस्था और सन्देह के बीच–एक सतत बहत चलती रहती है। पात्र दो है– पर उनकी लडाई

का कुरुक्षेत्र मुक्तिबोध के भीतर है। 'श्रीकान्त वर्मा ने यह प्रश्न उठाया कि' मनुष्य के नरक को उपस्थित करने वाले काव्य की परिणति सगीत कैसे हो सकता है? अपने युग के बर्बर सवालो को उठाने वाली कविता तो भाषा मे सगीत के मूल्यो को नष्ट करती है उसे सख्त नुकीली और चट्टानी बनाती है। × × × मुक्तिबोध ने सगीत से पैदा हुए शून्य को तनाव से भरा। 'परिवर्तन' और कामायनी' का कविता ससार, नाट्यकौशल और सगीत की बुनियाद पर खडा है– 'अँधेरे मे' कविता मे न कोई कौशल है न कोई सगीत–केवल एक तनाव उसके अन्तर्विरोधो से भरे हुए ससार को जोडे हुए है। इन तनाव के कारण ही यह कविता, कविता है। अन्यथा उसके अभाव मे उसमे और गद्य मे कोई फर्क ही नही रह जाता। नयी कविता की चरम परिणति गद्य की लय मे हुयी। मुक्तिबोध की कविता गद्य की लय नही, गद्य की तनाव है।"[11] लेकिन इसी सकठबोध और भयानक आक्रामक चित्र के बाद सारी पैशचिकता के बीच भी वह चुपचाप किसी फटे हुए मन की जेब मे पत्र के रूप मे गिर पडता है। और तब शब्द यह एहसास कराते है।

सहानुभूति की सनसनी कोमल!!

हम कहॉ नही है,

सभी जगह मन।

निजता हमारी!

फिर सामूहिक संगठन के प्रयास का लक्ष्य–भाषा रूप में भिन्न आवेग, उत्साह जीवन आता है और फिर एक नयी अनवरत् तलाश! अरे, इन

रगीन पत्थरो–फूलो से मेरा काम नही चलेगा।। एक सकल्प, भाषा मे एक निश्चयात्मक स्वर लेकिन फिर जन–क्रान्ति मे एक़ निश्चयात्मक स्वर लेकिन फिर जन–क्रान्ति के लक्ष्यमार्ग की शक्ति, बाधाओ के स्वर, फिर एक नाटकीय तनाव औ क्रियाये और फिर एक साक्षात् दृश्य–

एक रेला और
पीछे से चला
अब मेरे साथ है।
आश्चर्य। अद्‌भुत ।।
लोगो की मुट्ठियॉ बॅधी है

और फिर अकेलापन। फिर जन–मुक्ति का उत्साह, आस्था–सकल्प। लेकिन फिर–

एकाएक हृदय धडकर रूक गया, क्या हुआ।।
नगर से बाहर धुऑ उठ रहा है,
कही आग लग गयी, कही गोली चल गयी।

और फिर आशंकित मन से निकली यह अन्तिम पंक्ति जन–क्रान्ति के साथ–साथ रचना–संघर्ष, रचना और कला के द्वन्द्व का, तनाव और नाटकीय कार्य व्यापार और चरम स्थिति के विकास का अत्यन्त सुन्दर आधार बन जाती है। यह आग, यह गोली यत्रवत् घूमते, बेपहचाने से लगते पथरीले चेहरो के विरूद्ध , निर्दयी के कठोरता के विरूद्ध आती है। यह पंक्ति पत्रकारिता, बौद्धिक वर्ग के कीतदास के स्याही से पुत चेहरो' के विरूद्ध आती है। क्रमशः जन–क्रान्ति की तीव्र आग फैल जाने पर, एक–एक वस्तु के प्राणाग्नि बम बन जाने पर यह 'कहीं आग लग गयी,

कही गोली चल गयी', अपने सारे अर्थ बदल देती है और जन–चेतना की पूर्ण जागृतावस्था से जुड जाती है और यही पक्ति 'कथा' को 'सच' मे बदलती है।

अब युग बदला है वाकई,

कही आग लग गयी, कही गोली चल गयी।

और उसके बाद भी 'युवको मे व्यक्तित्वान्तर' के साथ, शक्तियो के निश्चयात्मक प्रवाह के क्षण में यह पक्ति रचना और जीवन की अर्थवत्ता से जुड जाती है। यह पक्ति मुक्तिबोध की काव्यभाषा की साकेतिक शक्ति और गत्यात्मक व्यजना की प्रमाण है। इस केवल प्रगतिवादी दृष्टि से 'जन–क्रान्ति के स्वप्न की पूर्ति' या आशावादी दृष्टि – 'वास्तविकता पर आशावादी कल्पना, 'का आरोप कहकर सीमित नही किया जा सकता– न यह सघर्ष के बाद का कोई निष्कर्ष मात्र है, न केवल भय और आतक या विद्रोह की सीधी सादी अभिव्यक्ति है, और न 'मस्ती भरी सरलता का उदाहरण मात्र है। इसकी अनेक बार आवृत्तियो से जन–क्रान्ति का चित्र मूर्त और सजीव हुआ है– वह आज के परिप्रेक्ष्य का बोध कराती हुयी वर्तमान के परिवेश को भी चित्रित करती है और भविष्य का संकेत भी देती है और पूरी प्रक्रिया अपने गति, आवेग मे छा जाती है। 'अंधेरे में' भाषा की ऐसी नाटकीय सभावनाओ के उद्घाटन का अनूठा काव्य–प्रयास है।[12] इसमे कल्पना का वेग और विस्तार अपने मे विकट है। इसीलिए वे प्रगीतो के युग में महाकाव्यात्मक कल्पना के धनी और नाटकीय प्रतिभा के प्रयोगकर्ता है।'[13]

नाटको मे नाटक के भीतर नाटक होता है, यहाँ कविता के भीतर नाटक और नाटक के अदर कविता को सहज् अर्न्तग्रन्थन है। पुन स्वप्न–भग होने पर जब वह व्यक्ति गलियो मे, सडको मे, भीड मे जाता दीखता है तो–

धडकता है दिल

कि पुकारने को खुलता है मुँह

कि अकस्मात् .

यह दिखा, यह दिखा

वह फिर खो गया किसी जन–यूथ मे .

उठी हुयी बॉह यह उठी हुयी रह गयी।।

प्रत्येक पंक्ति मे एक नयी अनुभूति है, प्रतिक्रिया है। कार्य – व्यापार है, स्थिति है और 'एक निरन्तर प्रयास' है।

इसी नाटकीय भगिमा से युक्त गत्यात्मक भाषा के बीच मुक्तिबोध ने पारम्परिक शब्दो को नया अर्थ दिया है और उनकी प्रभाव–क्षमता मे नयी धारा पैदा की है। मनु, अनहद नाद, भक्ति। सत् चित् वेदना आदि शब्दो का नवीन सस्कार और संदर्भ देते हैं। तुलसी और प्रसाद ने मनु शब्द का प्रयोग आदि मनु के पाम्परिक पौराणिक अर्थ मे किया है। मुक्तिबोध का मनु पूरे ऐतिहासिक संदर्भ में जुडकर आज के आम आदमी तक की यात्रा पूरी करता है– वह रहस्यमय व्यक्ति है, पूर्ण अवस्था है, फटेहाल रूप भी है, हर आत्मा का इतिहास है, परम अभिव्यक्ति है। 'मनु' का प्रयोग इतने नवीन, विलक्षण और विकासकामी रूपी मे शायद ही

किसी ने किया हो। 'अनहद नाद' यहॉ हठयोग साधना के अर्थ–ब्रह्म–प्राप्ति के बाद योगी के द्वारा सूनी गयी।

उपमाये उद्घाटित–वक्षा मृदु स्नेहमुखी
एकटक देखती मुझको
प्रियतर मुसकाती
मूल्याकन करते एक–दूसरे का
हम एक–दूसरे को सवारते जाते है।
वे जगत समीक्षा करते थे
मेरे प्रतीक–रूपक सपने फैलाते है
आगामी के
दरवाजे दुनियॉ के सारे खुल जाते है
प्यार के सॉवले किस्सो की उदासी गलियॉ
गभीर–करूण मुस्कराहट मे
अपना उर का सब भेद खोलती है
अनजाने हाथ मित्रता के
मेरे हाथो मे पहुॅच उष्मा करत हूॅ
मै विचरण करता सा हूॅ एक फैटेसी मे
यह निश्चित है
कि फैंटेसी कल वास्तव होगी।[14]

और 'फिक्र' को बढाती है– साथ ही उस अंधियो सूने में कोई रात का पक्षी जरूर चीख जाता है–

वह निकल गया है गॉव मे शहर मे।

उसको तू खोज अब

उसका तू शोध कर।

वह मेरी पूर्णतप परम अभिव्यक्ति,

उसका तू शिष्य है

वह तेरी गुरु है

गुरु है .

पक्षी की भूमिा यहॉ कथा को आगे बढाने की है– कथा–सृष्टि का काम करते है ऐसे प्रतीक। एकदम–से सन्नाटे को तोडते है। वैस खडहर, टीला, पहाड, पठार, भयानक खड्ड, खोह, धॅसान, सूनी बावडी, ॲधेरा पत्थरी जीना बडे–बडे टॉवर, धुॅआ, चाबुक, मठ, गढ, ॲधेरे की सुरग–गलियॉ, चक्रवाक गतियॉ, जहरीली काले मेघ आदि सब प्रतीक ही है लेकिन ये सभी प्रतीक जहॉ इस लम्बी कविता के मुख्य प्रतीक की भयावहता और मानवीय त्रासदी का, नगी सच्चाई का, जन–संघर्ष मे आने वाली अनेक बाधाओं–यत्रणाओ–असफलताओं का, जीवन में व्याप्त विरोधात्मक स्थितियो–प्रवृत्तियों का और आदमी के चारो ओर बुन गये रहस्यमय जाल का संकेत करते है– वही फैटेसी और बिम्बो के साथ अपनी गत्यात्मकता भी। 'जंगल जल रहे जिन्दगी के अब'– अथवा,

राह के पत्थर–ढोकों के अन्दर

पहाडो के झरने

तडपने लग गये।

कुछ कवि अभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट शब्द की खोज करते है, मुक्तिबोध विशिष्ट बिम्ब, बल्कि उससे अधिक विशिष्ट प्रतीक की योजना करते है, उनके प्रतीक भी कथा (या गाथा, बिम्ब) सृष्टि की भूमिका बनाने लगते है। अधिकाशत 'अधेरे मे' कविता प्रतीको– बिम्बो के माध्यम से ही लिखी गयी है। 'अधेरे मे' की मूल कथा रूपकात्मक है अत बिम्ब और प्रतीक के बिना उसका चित्रण ही असम्भव है। कवि अधेरे जैसे भयानक डरावने सपनो से भरे, रहस्यमय प्रतीक के अतिरिक्त उसी की प्रतीकात्मकता को–पूरी व्यवस्था मे, मानव जीवन मे फैले अधकार, व्याभिचार को चित्रित करने के लिए अन्य प्रतीक भी चुनता है। वृक्षो मे बरगद और पीपल उनके महत्वपूर्ण प्रतीक है–

हर बार सोच और हर बार अफसोस
हर बार फिक्र
के कारण बूढे हुए दर्द का मानो कि दूर वहॉ,
अधियारा पीपल देता है पहरा। दूर वहॉ
× × × ×

दूसरी ओर–

दीखता है सामने ही अधकार सा–स्तूप–सा
भयकर बरगद–
सभी उपेक्षितो, समस्त वचितो,
गरीबों का वही घर, वही छत,
उसके ही तल–खोह–ॲधेरे में सो रहे
गृहहीन कई प्राण।

पीपल अगर जीवन की भयावहता का सकेत करता है तो बरगद जनगण का प्रतिनिधित्व करने वाला जन–सघर्ष और क्रान्ति से सम्बद्ध है। यह बरगद विशाल, विस्तृत है, सक्रिय चेतना–युक्त है। जब काव्यनायक बरगद के पास खडा है तभी उसे कुछ हलचल का एहसास होता है। बरगद–पात ही उसके कधे पर गिरकर उसे कुछ सकेत करना चाहता है– क्या वह किसी की चिट्टी है? क्या वह बरगद–आत्मा का पत्र है? मुक्तबोध की स्पष्ट मान्यता है कि "कोई भी प्रतीक तभी तक भावो चेतना की शक्ति रखता है जब तक की उसकी जडे सामाजिक–सामूहिक अनुभवो की धरती मे समायी हुई हो। मात्र व्यक्तिगत धरातल पर तो हजारों प्रतीक खड़े किये जा सकते है।[15] प्रतीको को भिन्न सदर्भ प्रदान करने की और यथार्थ से जोडने की उनकी दृष्टि 'अधेरे मे' कविता मे मूर्त हुयी हों। सबसे बडी बात यह कि कविता में अर्मूतता, गोपनीयता, रहस्यमय कौशल मात्र के लिए नही, जीवन–यथार्थ की और अधिक व्यग्यार्थ के प्रकट करने के लिए है। इसमे भी गंगा प्रासद विमल का यह कथन बहुत औचित्यपूर्ण है कि "अंगर मुक्तिबोध केकाव्य की पूरी बिम्ब–सूची एकत्र की जाये तो लगभग अधिकाश बिम्ब दृश्याकन के लिए प्रयुक्त नहीं हुए है अपितु वे प्रतीकात्मक वैशिष्ट्य की पूर्ति के साधन है।"[16]

मुक्तिबोध के सर्जनात्मक प्रयोग से कि अँधेरा मात्र प्रतीक बनकर नहीं रह जाता, पूरी कविता का सम्र बिम्ब बन जाता है और उसकी व्यजनायें फैलती जातीहै। इसका विस्तृत विवेचन आगे अनेक सदर्भो में किया गया है। अँधेरा पलायनमूलक नहीं संघर्षमूलक है। भयावह यह है कि

पर उसे तोडने की ताकत भी देता है। मुक्तिबोध प्रतीको को जीवन के बीच से ले आते है–

मिट्‌टी के लोदे के भीतर

भक्ति की अग्नि का उद्रेक

भडकने लग गया।

धूल के कण मे

अनहद नाद का कम्पन

खतरनाक ।।

'मुक्तिबोध' 'आग' और 'गोली' दोनो को लेते है– क्रिया – प्रतिक्रिया, ध्वस–दमन, ॲधेरा–प्रकाश आदि इससे उनके प्रतीको की व्यजकता स्वत बढती गयी है। ॲधेरे के विरूद्ध जो प्रतीक वह लाये है वे है– मशाल, रक्तालोक–स्नात–पुरुष, अरुण कमल, लाल रंग। यह मशाल निराला की मशाल की तरह अधेरे को बेधती और काव्यनायक की आशा–आस्था को व्यंजित करने वाली ही नही है– उससे और आगे यह जन–चेतना। विद्रोह और क्रान्ति की, सघर्षग्नि मे विश्वास की और कम की प्रतीक है।

तिलस्मी खोह का शिला–द्वार

खुलता है धड से

× × × ×

घुसती है लाल लाल मशाल अजीब सी

अन्तराल–विवर के तम में

लाल लाल कुहरा;

लाल रग क्रान्ति क़ा विद्रोह का प्रतीक है और साथ ही दीप्ति, तेज, उष्णता, अन्तर्मन के सत्य, आलोक और सघर्षरत् लोकजीवन का प्रतीक भी है–

कालिमा दिगम्बर पट फैला आलोक लाल
रक्तिम सघर्षे के क्षेत्रो पर खिलता है
वह महाबिम्ब
युद्धरत लोकजीवन, का वह भीषण प्रतीक
आकुल कराल।[17]

आरम्भ मे जगल से आती हवा इस मशाल को बुझा देती है और कविता की सघर्ष–यात्रा मे दिया जलता है, ढिबरी टिमटिमाती है– ॲधेरे मे गैस लाइट चमकती है– सघर्ष बढने पर ज्वालाये जलती है– अग्नि को उद्रेक महत्वपूर्ण हो जाता है। मशाल उस तिलस्मी खोह मे रहस्यमय, नाटकीय वातावरण की सृष्टि भी करती है साकेतिक अभिव्यक्ति भी। अरुण कमल 'अधेरे में' कविता का सबसे अधिक महत्वपूर्ण, सर्जनात्मक प्रतीक है– कथ्य का अनिवार्य अग है– यह अरुण कमल यूँ ही नही मिलेगा इसके लिए 'अभिव्यक्ति के सारे खतरे' उठाने ही होगे। सब 'मठ और गढ' तोडने होगे– दुर्गम पहाड़ो के उस पार कही नीली झील की लहरीली थाहे देखने को मिलेगी–

जिसमें कि प्रतिपल कॉपता रहता
अरुण कमल एक,
धँसना ही होगा

झील के हिम–शीत सुनील जल मे।

जादुई झील को करनी ही होगी मेरी प्रतीक्षा।

'धॅसने' का सकल्प और 'प्रतीक्षा' कराने का आत्मविश्वास और सघर्ष–शक्ति अरुण कमल के वैशिष्ट और महत्व को व्यक्त कर रही है। यह प्रतीक है उस रक्तक्रान्ति का जिसकी थाक पाने के लिए कर्मठ होना ही होगा पूरी सगठित चेतना के साथ। कमल जैसे पारम्परिक प्रयोग का मुक्तिबोध ने नया सदर्भ दिया है। इस प्रतीक के साथ हवाओ में अदृश्य ज्वाला की गरमी, गरमी का आवेश और जन–मन–उद्देश्य एकीकृत दीखते है–

मुझे अब खोजने होगे साथी–

काले गुलाब व स्याह सिवन्ती,

श्याम चमेली,

सॅवलाये कमल जो खोहो के जल मे,

भूमि के भीतर पताल तल मे

खिले हुए कब से भजते है सकेत

सुझाव सन्देश भेजते रहते।।

सारी खोज प्रतीकात्मक है। जो श्यामल था, वह सहसा बिजली की नंगी लताओ से झरते सफ़ेद नीले मोतिया चम्पई गुलाब्र फूल मे, अग्नि–फूलो मे बदल जाता है और काव्यनायक विचित्र स्फूर्ति से भर जाता है। सभी काले गुलाब स्याह सिवन्ती, श्याम चमेली, सॅवलाये कमल शोषित सर्वहारा वर्ग के प्रतीक है। यातनाग्रस्त है और सहचर मित्र है और उनके साथ मिलकर सामूहिक मुक्ति ही सार्थक है– वैयक्तिक पीडा और व्यक्तिगत मुक्ति नही।

एकजुट होकर प्रतिरोधी शक्तियो से लडाई क्रमश विकसित हुयी है प्रतीको बिम्बो से।[18] कविता मे बहाव नही है पहाड चढते हुउ कदमो का प्रयत्न और श्रम है। उस श्रम और कल्पना मे तालस्ताय तिलक और गॉधी भी आते है, कलाकार भी आता है और इन सबके साथ मूल कथ्य और रूपकात्मकता विकसित होती जाती है। 'बहती हवाओ सा लिरिकल प्रत्येक पक्ति मे चित्र के उभार हो और भी घूरती, और भी ताडती हुयी, ऑख से प्रत्यक्ष करता हुआ। अनुभूति के यथार्थ से कतराता हुआ नही बल्कि अपने तर्क और भावना के कुदाल से अनुभव की कडी धरती को लगातार गहरे खोदता जाता .. . धरती के आतकमय–रहस्यमय इतिहास और उनके बीच लहूलुहान मानव।' इस स्थिति के चित्रण मे मुक्तिबोध की उपमाये उनके रूपक तथा उत्प्रेक्षा आदि अलकारो की भी वही भूमिका है– उनके लिए पुराने काव्य चमत्कार 'रगीन पत्थर–फूल' और ठडे हो चुके है–
उनके लिए पुराने काव्य चमत्कार 'रगीन पत्थर–फूल' और ठंडे हो चुके है–
उन्हें अपने 'तेजस्क्रिय' फूलो की तलाश है इसलिए अलंकार वही है पर उनके उपमान बदल जाते है।

सलिल के तम–श्याम शीशे मे कोई श्वेत आकृति
क़ुहरीला कोई बडा चेहरा फैल जाता है।

पानी का स्वच्छ दर्पण तो कविता मे बहुत आया था पर पानी का ॲधेरा–सॉवला शीश और उसमें से श्वेत आकृति पर ओर नवीनता और कविता के कथ्य, बिम्ब–प्रतीको से मेल खाती है और दो रगों के, स्थितियो के, चित्रो के सौन्दर्य से परिचय कराती है– फैंटेसी को प्रगाढ करती है।

और जब काव्यनायक उस आकृति का पहचानता है कि यह वही व्यक्ति है जो एक बार तिलस्मी खोह मे दिखा था तो इतना प्यार उमडता है उसके मन मे कि उस प्यार का आवेग इस उपमानो मे छलक पडता है–

अरे, उसके चेहरे पर खिलती है सुबहे
गालो पर चट्टानी चमक पठार की
ऑखो मे किरणीली शान्ति की लहरे।

यह लाक्षणिकता छायावादी काव्य से भिन्न है और 'अधेरे मे' की समग्र सरचना से, प्रयोगो से मिलती है। उसी मे मानवीकरण के, नाद के प्रसग भ अनुभव को और संवेदनीय बनाते चलते है–

सूनापन सिहरा
ॲधेरे मे ध्वनियो के बुलबुले उभरे,
शून्य के मुख पर सलवटे स्वर की–

अथवा

ढीली ऑखो से देखते है विश्व
उदास तारे।

× × × ×

कॉपती है दूरियॉ गूॅजती है फांसले
(बाहरी कोई नहीं, कोई नही बाहर)

'आसपास फैली हुई जग–आकृतियॉ 'छपी हुयी जड चित्र–कृतियों–सी' अलग व दूर–दूर निर्जीव लगती है यहॉ उपमा अलंकार 'पारस्परिक सौन्दर्यानुभूति' से हटकर 'जीवनानुभूति' और कठोर यथार्थ से सम्बद्ध है।

सिविल लाइन्स मे अपने कमरे मे पडे हुए काव्यनायक का चित्र यूँ अभिव्यक्त किया गया है–

ऑखे खुली हुई है,

पीटे गये बालक–सा मार खाया चेहरा

उदास इकहरा

सलेट पट्टी पर खीची गयी तसवीर

भूत जैसी आकृति–

क्या वह मैं हूँ ?

मै हूँ?

मध्यवर्गीय काव्यनायक की सारी त्रासदी को, भय आतक को, खौफनाक वातावरण की परिणति कोकवित नितप्रति के अनुभव–जन्य उपमानो से चित्रित करता है– पूरा चित्र ही उसके लिए महत्वपूर्ण है। प्रोसेशन की स्वप्न–तरंगों के साथ कोलतार–पथ दूर से देखने पर ऐसा लगता है जैसे–

भरी हुयी खिची हुयी काली जिह्वा

विलक्षण और चित्रात्मक कल्पना द्वारा यह पूरा उपमान 'मृत्युदल की शोभायात्रा' को उभारने वाला हो जाता है। अकस्मात् चार का गजर खडकते ही, उदास मटमैला मन रूपी बल्मीकि विचलित' होता है। पूरे वर्ग की आत्मकेन्द्रित भयाक्रान्ति मनःस्थिति, निष्क्रियता, कमजोरियो और पीडा की व्यजनाये रूपक के द्वारा 'बाल्मीकि' उपमान मे आ जाती हैं। इसी प्रकार 'जमाने की जीभ निकल पड़ी है' उस भयावहता के व्यंग्य को मूर्त कर जाता है जिसके कारण 'मै' दम छोड भागता है। भागते–भागते सामने

ही भयकर बरगद 'अधकार – स्तप – सा' दीखता है– निर्जीव और भयानक! इसी निष्क्रियता के लिए धिक्कारते हुए जब मुक्तिबोध कहते है–

भूतो की शादी मे कनात से तन गये,

किसी व्याभिचार के बन गये बिस्तर

तो जीवन की विदूपना, अर्थहीनता और आत्मभर्त्सना का स्वर मुख हो उठता है। आगे भी कहते है–

दु खो के दागो मो तमगो–सा पहना,

जिन्दगी निष्क्रय बन गयी तलधर

मध्यवर्गीय मानसिकता और झूठे मोह मे अपने को डालकर आत्मतृष्ट रखने की, नि संग करने की प्रकृति का चित्रण करने मे ये उपमान उसी यथार्थ के हिस्से है 'गोलियो के गोल–गोल खोह अँधेरे' में भागते 'मै' को अजीब 'उमस–बास' 'गलियो को रुँधा हुआ उच्छ्वास' महसूस होता है और बेचैन ऑखे जब सब और देखती है तो कही कोई नही– सिर्फ–

श्याम आकाश मे, संकेत–भाषा–सी तारो की ऑखे

चमचमा रही है।

कभी मूर्त–अमूर्त, कभी अमूर्त और अमूर्त के प्रयोगो से कवि अपनी बात कहता है– यह 'नक्षत्रों के मौन निमंत्रण' का रहस्यलोक नहीं है– यहॉ 'कही कोई भी नही है' के शून्य के बीच तारों की संकेत–भाषा बहुत कुछ कह जाती है– एक मानवीय अनुभूति से भी भर जाती है।

मेरा दिल ढिबरी–सा टिमाटिमा रहा है।

अगर तारे सकेत–भाषा मे कहते है तो "मै" का दिल ढिबरी की तरह टिमटिमाता हुआ है। ये उपमान निम्न मध्यवर्गीय जीवन के है– उसके पीछे सामान्य जीवन का सामान्य अनुभव है और उस जीवन की बेचैनी और तनाव भी है। इसके बिल्कुल विपरीत मुक्तिबोध 'बिजली के फूल' जैसे प्रयोग भी करते है। प्रसाद ने 'कामायनी' मे श्रद्धा के वाह्य सौन्दर्य की विलक्षणता के लिए उस उपमान का प्रयोग किया था–

नील परिधान बीच सुकुमार

खुल रहा मृदुल अधखुला अग

खिला हो ज्यो बिजली का फूल

मेघ–बन बीच गुलाबी रग।

यहॉ परम्परागत आदर्श सौन्दर्य के लिए श्रद्धा के अधखुले अगो मे प्रसाद ने 'बिजली का फूल' देखा है जब कि 'अधेरे मे' सदर्भ और दृष्टि बदल जाने पर 'बिजली का फूल' क्रान्ति का वाहक बन गया है। "प्रसाद श्रद्धा के अधखुले अगो मे बिजली का फूल देखते है और मुक्तिबोध तिलक की सुलगती ऑखो मे। मुक्तिबोध उससे आग पैदा करना चाहते है, क्रान्ति की आग प्रसाद और मुक्तिबोध का यह अन्तर सदर्भो तथा दृष्टियो का अन्तर है।" सौन्दर्यवादी मूल्यों को तोडकर अभिव्यक्ति के सकट उठाने का यह सार्थक प्रयास है। प्राय. कवि लाक्षणिक प्रयोगो से अभिव्यक्ति करता है। आसपास दैत्य है– राक्षसी स्वार्थ, पाशविक दमनकारी प्रवृत्तियॉ–

किन्तु मै बहुत दूर मीलो के पार वहॉ

गिरता हूँ चुपचाप पत्र के रूप मे

किसी एक जेब मे

वह जेब

किसी एक फटे हुए मन की।

इस 'वर्ग' को जब अपनी निजता का बोध होता है तो भीतर बिजली के ज्वलन्त तारो की गुत्थी है और बाहर 'धूल–सी भूरी जमीन की पपडी' है। 'छाया–मुख' पीछा करते है 'श्यामकार' मुझे छोडते नही है लेकिन जैसे ही 'मै' अपने सहचर मित्रो को सगठित करने सोचता हूँ, वैसे ही 'बिजली की नंगी लताओं' से झरते 'अग्नि के फूलो' को समेटने लगता है और उनसे 'बिजली के फूल बनाने की कोशिश करता है लेकिन अभी उसे असन्तोष है और तहुत कुछ करना है। 'पर्चा' पढने के बाद जब 'मै' हवा मे उडता महसूस करता है–

और तब दिक्काल–दूरियॉ

अपने ही देश के नक्शे–सी टॅगी–हुयी

रॅगी हुयी लगती।।

संवेदना के विस्तार और घनी मार्मिक पीडा से ही यह उपमान निकला होगा और इसी कारण–

सचमुच, मुझको तो जिन्दगी–सरहद

सूर्यों के प्रागण पार भी जाती–सी दीखती।!

लेकिन जब क्रान्ति की आग दहक उठी तब

स्वर्णिम कमलो की पॉखुरी जैसी ही

ज्वालाये उठती हैं उससे

और जब 'मेरे युवको मे' व्यक्तित्वान्तर' की प्रक्रिया शुरू हो गयी है– विभिन्न क्षेत्रो मे, कई तरह से तब ऐसा अनुभव होता है–

मानो कि ज्वाला–पखुरी–दल मे घिरे हुए वे सब
अग्नि–कमल के केन्द्र मे बैठे।

अब आत्मा मे 'चमकीली प्यास' है, जब भर मे सुनहली तस्वीरे दीखती है– भूत जैसी आकृतियॉ नही। यह कविता की सघर्ष यात्रा है, सरलीकृत निष्कर्ष या लक्ष्य–प्राप्ति का स्थूल फार्मूला नही। इस कविता के उपमा, रूपकादि, लक्षणा – व्यजना सभी कुछ कविता की पूरी प्रकृति और प्रक्रिया को समझने हुए ही समझे जा सकते है– अलग से नही 'ॲधेरे मे' फैटेसी है और "फैटेसी का आकार तो अपना होता है किन्तु उसमे के रग जीवन–तथ्यो से उद्‌गत होते है।"[19] "फैटेसी एक झीना परदा है जिसमे से जीवन–तथ्य झॉक–झॉक उठते है। तथ्यो का उद्‌घाटन अत्यन्त गौण और विकार पूर्ण होता है किन्तु उन तथ्यो के प्रति की गयी क्रिया–प्रतिक्रियाये प्रधान होती है।[20] ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुक्तिबोण्ध की इस कविता में उनके शिल्प, छन्द, अलकारो सभी का तथ्यो के प्रति की गयी क्रिया–प्रतिक्रियाओ में योगदान है। डॉ0 रामविलास शर्मा अनेक आपत्तियॉ उठाने पर भी यह स्वीकार करते है कि "मुक्तिबोध कवियो के प्रिय रहे हैं और रहेंगे। उन्होने जो नये कलात्मक प्रयोग किये है, उनमे सीखने–समझने के लिए बहुत कुछ है। उन्होने 'फैंटेसी' का प्रयोग व्यंग–उपहास से लेकर करुण भावों की अभिव्यक्ति तक के लिए किया है। ऊपर से ॲधेरा ॲधेरा दिखने पर भी उनकी कविता में बडी विविधता है

साधारण जीवन–खासतौर से निम्न मध्यवर्ग के शहरी जीवन से जितने उपकरण उन्होन लिये, उतने उनकी पीढी के और किसी कवि ने नही बटोरे।'' अपनी सारी विशिष्टिताओ के कारण ही डॉ0 नामवर सिह ने 'अॅधेरे मे' की 'कवि–कर्म की चरम परिणति और' नयी कविता की चरम उपलब्धि कहा।

इस कविता का सबसे महत्वपूर्ण प्रतीक अनिवार्य प्रतीक तो अॅधेरा है जहॉ से कविता शुरू ही होती है और यह अॅधेरे बढता जाता है– घना होता जाता है। यहॉ अॅधेरा ही पूरी फैटेसी क्रियेट करता है– समग्र कविता का सृजन करता है और इसीलिए यह प्रतीक केवल छायावादी प्रतीकार्थ नही देता यानी मात्र नैराष्य उसकी व्यजना नहीं है। यह सामाजिक जीवन का अॅधेरा है जो लगातार रूप बदलता रहता है। यह अॅधेरा एक तिलस्मी खोह का जादुई रहस्यमय, डरावना वातावरण भी रचता है जो शहर के बाहर, पहाडी के उस पार सब तरफ है, ठहरे हुए जल पर भी है। अॅधेरा 'मौत की सजा' देने वाला भी है और अनेक ध्वनियो, दृश्यो, कार्यों के रहस्य की परते खोलने वाला भी है, 'इस सर्द अॅधेरे मे मानवीय भावनाये भी जैसे ठडी है। बैण्ड ध्वनियॉ उसे और घना कर देती है। हर रात को इसी नगर की गहन मृतत्माये जुलूस में चलती हैं– और यह अॅधेरा ही वह कारण है– जब सब कुछ विकृत और नंगा देख लिया गया और यही देख लिया जाना– एक के द्वारा भी – एक बेचैनी, खोज और संघर्ष की जमीन तैयार करता है– इसलिए मुक्तिबोध ने अॅधेरे के प्रतीक को जहॉ प्रगाढ अनुभूति और कल्पना दी है और उससे मिलते हुए रंगों को प्रधानता

दी है– वही अँधेरे के पीछे से या बीच मे चमकते हुए प्रकाश, मणियो अग्निफूलो को भी बराबर महत्व दिया है। डा0 नामवर सिह ने बहुत उचित कहा है कि ''अधेरे मे' कविता का प्रभाव जिस परिवेश के चित्रण पर निर्भर है, उसकी चित्रण–कला भी विचारणीय है। सबसे पहले कविता मे रात के अँधेरे की भूमिका। क्या इस कविता मे वातावरण के प्रभाव का बहुत कुद श्रेय अँधेरे को नहीं है? अँधेरा काव्यगत वातावरण का भयावह और रहस्यमय बनाने के साथ मूर्त भी बनाता है। अँधेरे मे वस्तुओ को मूर्तमान करने की विशेष क्षमता इसलिए होती है कि आसपास की बहुत–सी वस्तुये ओझल ही जाती है इसलिए अभष्ट वस्तुये विशेष रूप से उद्भासित होती है। .. मृतदल की शोभायात्रा का चित्र इस कविता मे इसलिए इतना स्फुट (विविड) है कि उसकी पीठिका मे रात का अन्धकार है। दिन के उजाले मे यही जुलूस शहर की भीड–भाड में दब जाता किन्तु आधी रात के सन्नाटे मे वह उंभर कर सामने आता है। मशाल की रोशनी में लोगो के चेहरे, उनकी पोशाको, घोडो के रग और सगीन की नोकें और भी चमक उठती है, यहॉ तक के सन्नाटा बैण्ड की आवाज को भी उभार देता है। दिन के उजाले मे कोलतार की जो सडक मामूली मालूम होती है वही रात के अँधेरे मे 'भरी हुयी खिची हुयी काली जिह्वा' मालूम होती है। इसी चौराहे, दरख्त और घंटाघर भी इस अधकार मे जादुई असर मे और के और हो जाते है। उल्लेखनीय है कि सीमान्तवादी भावबोध के लेखकों ने अपनी कृतियों मे प्रायः अन्धकार का उपयोग किया है। निर्मल वर्मा की 'लन्दन की एक रात' कहानी में यही अन्धकार है। दोस्तोये व्स्की के

उपन्यासो को घटनाकाल प्राय रात से सम्बद्ध करके एक और आयाम दे दिया है।"[21] सही तो यह है कि मुक्तिबोध इस प्रयोग को किसी प्रयोग या कला के रूप मे, रूढ के रूप मे कर ही नही रहे है– उनके सामने कोई बहुत सीधा–सादा अर्थ तम और प्रकाश का है भी नही –लेकिन सूक्ष्मतम स्तरो, परिवर्तनो और विरोधाभासो, विरोधी रगो के सौदर्य को दिखाते हुए यह अँधेरा इस लम्बी कविता की 'अनिवार्यता' बन गया है। 'अरुण कमल' को पाने का सघर्ष इसी मे विकसित होता है– अँधेरा तनाव, घेराव, फैलाव, मन, यत्रणाओ, गॉधी, तिलक, तॉलस्ताय सबको सामने लाता है। उसी मे हथौडा चलता है तो उसी मे 'शिशु' को रोना, थपथपाया भी है। उसमे भयानक बरगद दिखता है, तो उसी मे चमकती हुयी शाखाये और झरते हुए फूल भी है। इसलिए अँधेरे का उपयोग मानवीय, सामाजिक, राजनैतिक अर्थों मे करते हुए भी मुक्तिबोध रचनात्मक और पुनर्रचनात्मक स्तर पर नाटकीय तनाव, फिल्म और मच पर विरोधी रगो के सयोजन से उत्पन्न कलात्मक दृश्यात्मकता के साथ किया गया है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में 'अँधेरे मे' का जीवनानुभव मानवता के इतिहास मे बार–बार और जगह आवृत्त होता है। अँधेरा यदि प्रकृति का धर्म है तो कहीं मानव जीवन की विवशता है अँधेरे से आदमी डरता है पर सृजन के क्षण भी अँधेरे मे आते है।[22] इसलिए अँधेरे से आदमी डरता है पर सृजन पुनर्सृजन की, सघर्ष और कर्म की भी भूमि है।

'अँधेरे मे' काव्य भाषा की मूर्तिमत्ता, सजीवता, तनावपूर्ण नाटकीयता और सार्थक अभिव्यक्ति का आधार है उसकी बिम्ब–योजना।

उसके बिम्बो की जीवन्तता, सवेदना और कल्पना ही इस कविता की भाषा–शिल्प, छन्दविधान को विविध लय और मौलिकता प्रदान करती है। डॉ0 रामदरश मिश्र के अनुसार "अँधेरे मे" स्वप्नकथा होने के बावजूद हमारी समकालीन जिन्दगी की विषम वास्तविकताओ के विभिन्न स्तरो और पहलुओ से सर्वाधिक तीव्रता और समीपता से टकराती है और इस कविता मे तनावपूर्ण स्थितियो से उद्भुत सक्रान्ति गहन अनुभवी तथा इन्द्रिय बाधो के अनेक सुन्दर बिम्ब है जो कविता को कविता बनाते है .' ऐन्द्रियता बिम्ब का प्रथम गुण है। कवि–कर्म जिन जटिल जीवानुभवो और दुरुह रचना–प्रक्रिया घटित–अघटित घटनाओ, अतीत और वर्तमान की स्थितियो की प्रतिमाये कवि–मनाव पर बनती रहती है। उन्हीं से बिम्ब कविता में एक 'अनुभव स्वर' एक सवेदन का पुनर्सृजन करता है। कवित अपने गहन अनुभव का अर्थ–सगठन के साथ भाषा मे व्याप्त करना चाहता है और अपने व्यक्तित्व, दृष्टि, कविता के परिवेश, कविता की माग, प्रासगिता, प्रमाणिकता और चितन के आधार पर वह उन माध्यमो की बिम्ब, और प्रतीको की–खोज निरन्तर करता रहता है। 'बिम्ब इन्द्रियानुमूति है। जहॉ मूल अनुभव अनुपस्थिति होता है वहॉ उस अनुभव के बिम्ब उसका स्थान लेते है।[23] अनुभवो के व्यापक ससार की तरह इन बिम्बो की भी व्यापकता–सघनता होती है– ये बडे व्यजक और संवेद्य होते है उनमे आस्वादन का गुण भी होता है, ग्रहण का भी, स्वाद का भी, स्पर्श का भी, ध्वनि का भी, वर्ण का भी, दृश्य का भी, गति का भी। कवि की रचनात्मक प्रति पूरक और पर्याय बनाने में चलता है। धुँधली पडी मानसिकता

छवियो–प्रतिमाओ का सजीव मूर्तीकरण ही बिम्ब है और इसीलिए वह 'सृजन', 'पुनर्सृजन' दोनो है। सार्थक बिम्ब–योजना काव्यभाषा को सर्जनात्मक और कलात्मक दोनो बनाती है– उनका सम्बन्ध शिल्प दोनो से है।

हिन्दी कविता के क्षेत्र में मुक्तिबोध कविता के अन्त'स्वर और उसके रूपविधान मे, फार्म मे परिवर्तन की आकाक्षा की तीव्रता लेकर आए 'सुकोमल काल्पनिक तल' 'समन्वय', 'दर्शन' सभी झूठ कहते हुए उन्होने 'उनके नाश मे योग दो' कहा क्योकि बिना 'सहार के सर्जन असंभव है'– अपाहिज पूर्णताओ को वह तोडता चाहते है और खतरो से टकराना चाहते है। बार–बार विकसन, सगठन, परीक्षणो, प्रवर्तन और परिणति की सगतियो की पीडाये को झेलते हुए वह पत्थरी ढॉचे से छुटकारा' चाहते है और अग्नि के दहकते की छटपटाहट पैदा करना चाहते है। एक क्रान्तिकारी परिवर्तन शिल्प मे, भाषा मे, बिम्ब–योजना, प्रतीकयोजना मे, रूपकादि में नयी कविता की 'निजबद्धता' और एक निर्धारित यंत्रबद्धता को तोडता वह बहुत जरूरी मानते हैं। इस जडीभूत वृत्ति का उद्घाटन 'कण्डीशण्ड साहित्यिक रिफ्लेक्सेज' के रूप मे सूक्ष्मतापूर्वक करते हुए कहते है– 'वे (कवि) आगे के विकास के बजाय अपने ही आस–पास घूमते रहते हैं।.... उनके खुद के तैयार किये गये शिकंजे– यानी पुराने भाव और उनकी अभिव्यक्ति उन्हें बढने नही देते। 'कण्डीशण्ड साहित्य रिफ्लेक्सेज' यंत्रवत् कवितायें तैयार करवाते है। मनोवेग यांत्रिक हो जाते हैं, अभिव्यंजक रूप जडीभूत हो जाते हैं। कवि

अपने बनाये कटघरे मे फॅस जाता है और एक समय आता है जब कवि कतई मर जाता है।[24] मुक्तिबोध ने अपनी कविताओ के माध्यम से यत्रबद्धता और उसे·तोडने की जरूरत को महसूस कराया है।

'ॲधेरे मे', के बिम्ब इस 'यत्रबद्धता' के विरूद्ध तो है ही– यह पूरी कविता ही जिस प्रकार फैटेसी है, उसी प्रकार 'बिम्बात्मक' भी है– अपने मे समग्र बिम्ब। यह समग्र बिम्ब उस फैटेसी का ही अनिवार्य अग है। 'मुक्तिबोध जब कहते है कि 'बिम्ब फेकती वेदना नदियॉ तो वे एक तरह से उस कवि–कल्पना की ओर भी सकेत करते है। जो अपनी अजस्र सृजनशीलता में बिम्ब फेकती चलती है। वस्तुत कवि की शक्ति कल्पना के उस वेग और विस्तार से मापी जाती है जिसे अग्रजी मे 'स्वीप ऑफ इमिजिनेशन' कहते है और कहना होगा कि 'ॲधेरे मे' की कल्पना–शक्ति अपने समवर्ती समस्त कवियो मे सबसे विकट और विस्तृत है।'' इसीलिए आगे भी नामवर सिह इस बात पर बल देते है कि दो–चार बिम्ब–प्रयोगो से अथवा भाव–चित्रों से मुक्तिबोध की अभिव्यक्ति की अर्थवत्ता नही ऑकी जा सकती। ''उनकी अभिव्यक्ति की गरिमा का पता उस विराट बिम्ब–लोक से चलता है जो 'ॲधेरे मे' जैसी महाकाव्यात्मक कविता अपनी समग्रता मे प्रस्तुत करती है।[25] सचमुच इस कविता मे स्वयं 'ॲधेरे में' का बिम्ब ही ॲधेरे का ऐसा वृत्त है जो सबको बेनकाब करता है, जो अमानवीय कृत्यो का स्थल है, जो पूरे समाज और जीवन के साथ जासूसी करता है, जो पूरे इतिहास की दर्दनाक घटना और मानव–यंत्रणा का स्वयं इतिहास बनता

है– ऐसा कला जहॉ षडयत्र होते है, मानव–ऊर्जा को कुचला जाता है, जिसमें अभिशप्त जीवन की भयानक त्रासदी है– लेकिन उसी ॲधरे मे विपरीत स्थिति भी जन्म ले रही हे–सघर्ष की, रक्त–क्रान्ति की उसी ॲधेरे मे लाल–लाल मशाला जलती–बुझती है, लाल–लाल कुहरा दीखता है और रक्तालोक–स्नात–पुरूष साक्षात् दिखायी देता है। यह ॲधेरा गम्भीर और खतरनाक प्रश्नो से टकराता है। इस प्रक्रिया मे कभी–कभी एक शब्द या लघु वाक्य मात्र पूरा बिम्ब ही बदल देता है और नए वातावरण की सृष्टि करता है जैसे –

यह सिविल लाइन्स है

इतना भर कहकर कवि सिविल लाइन्स के माध्यम से इस व्यवस्था के वगर्ब–भेद, कृत्रिम अमानवीय दृष्टि, तथाकथित अभिजात्य बौद्धिक वर्ग की उपस्थिति का बोध करा देता है जहॉ पीतालोक प्रसार में काल गल रहा है, आस–पास फैली कृतियॉ जड चित्र–कृतियो सी लगती है–सब अलग और दूर–दूर और निर्जीव। और जहॉ अपने कमरे मे उदास सी लगती है– असंगति और सवेदनहीन तत्वो का एक पूरा दृश्य साकार हो जाता है– यह और गहरा होता है जब यह श्रव्य बिम्ब भी उसे मिल जाता है–

दूर दूर जंगल मे सियारा का हो–हो
पास–पास आती हुई घहराती गूॅजती
किसी रेलगाडी के पहियों की आवाज!!
किसी अनपेक्षित असंभव घटना का भयानक संदेह

अचेत प्रतीक्षा,

कही कोई रेल–एक्सीडेन्ट न हो जाए।

जगल, आशका, अमगल–सूचक ध्वनियॉ, सन्देह असभव के घटित होने का भय! और उसी मे तॉलस्टाय का दीख जाना आज की भयानक त्रासदी, जीवन की विडम्बना, एक महान लेखक के जीवन दर्शन, रचना–कर्म का सघर्ष और निष्ठा सबका ऐसा अनुभव साकार होता है कि उस पृष्ठभूमि मे 'निस्तब्ध नगर के मध्य–रात्रि के सुनसान 'अँधेरे मे' प्रोसेशन सचमुच मनुष्यता पर प्रश्नचिन्ह लगा जाता है? अमानुषिकता, स्वार्थ, कायरतापूर्ण क्रूर चरित्र के साथ–साथ निरीह अकेलेपन और अवसाद से घिरे मनुष्य की स्थिति का एहसास कराते हुए यह पूरा बिम्ब वातावरण के अद्‌भुत तनाव, को बढाता है जिसमे कवि की कल्पना, उपमान रूपकादि सब अनुकूल प्रभाव की सृष्टि करते है–

यह कोलतार–पथ अथवा

मरी हुयी खिची हुयी कोई काली जिह्वा

बिजली के द्युतिमान दिये या

मरे हुए दॉतो का चमकदार नमूना!!

कोलतार–पथ –सिविल लाइन्स' का है और तब उसके सारे अर्थ ध्वनित होने लगते हैं लेकिन उसके लिए मरी–खिंची हुयी काली जिह्वा उपमान लाकर कवित क्रूर यथार्थ का, वीभत्सता और मृत सवेदनतत्व का, निगल जाने वाली प्रवृत्ति का शोषण, का पूरा बिम्ब ही रच देता है। बिजली के

दियों के लिए लिया हुआ उपमान भी इसी ऊपरी असहज वृत्ति और क्रूरता का अपने मे काव्यात्मक नमूना है। फिर दूर से गैसलाइट पोतो के बिन्दु दीवाने पर

सॉवले जुलूस–सा क्या कुछ दिखता।।

दूर, वर्ण, ध्वनि, जिज्ञासा, अनिश्चय के बीच 'सावला जुलूस' बहुत सकेत कर जाता है।

और अब गैसलाइट निलाई मे रँगे हुए अपार्थिव चेहरे

उनके पीछे काले–काले बलवान घोडो का

जत्था सब संगठित सश्लिस्ट होकर किसी 'मृत्यु–दल की शोभा–यात्रा' के व्यंग्य, यत्रणा, क्षोभ, करूणा को एक साथ व्यक्त करते है। क्रमशः 'विचित्र प्रोसेशन' दासता भरी मानसिकता, मूल्यहीनता, अवसरवादिता, कायरता के प्रोसेशन मे बदलता जाता है–

लगता है उनमे कई प्रतिष्ठित पत्रकार

इसी नगर के।।

बडे–बडे नाम अरे, कैसे शामिल हो गए इस बैड–दल में बडे–बडे नामो का 'इस बैण्ड–दल' में शामिल होने से बडा, क्रूर मजाक क्या हो सकता है– व्यक्तित्वहीनता का इतना साक्षात् प्रमाण। और फिर सगीन नोको का चमकता जंगल' टैक–दल, मोर्टार, आर्टिलरी और उनमे कई परिचित–पथराये चेहरे–'उनका पूरा' इतिहास पूरा भारतवर्ष–उसका

दुर्घटनापूर्ण इतिहास मिलता जाता है–

काले काले घोडो पर खाकी मिलिट्री ड्रैस,

चेहरे का आधा भाग सिदूरी–गेरूभा

आधा भाग कोलतारी भैरव

भयानक!!

विद्रूपताये, विसगतियाँ, प्रकाश, कैमरे के कोण और तात्रिकता का कुरूप भयानक दर्शन जीवन–यथार्थ के विभिन्न पक्षो को उघाडते है। और जब अपने ही सब मित्र–आलोचक, साहित्यकार, सदेश मे सवेदनशील क्रियेटिव माने जाने वाले कवि, कलाकार, नर्तक और उन्ही में उद्योगपति, मत्री कुख्यात डाकू लि जाता है तो भीतर के राक्षसी, स्वार्थ, छिपे हुए उद्देश्य साफ नजर आ जाते है। यह प्रोसेशन कवि–कल्पना से फिर मात्रा प्रोसेशन नही रह जाता जब वह कहत है–

गहन मृतात्माये इसी नगर की

हर रात जुलूस में चलती

परन्तु, दिन मे

बैठती है मिलकर करती हुयी षड्यंत्र

x x x x

हाय, हाय! मैने उन्हें देख लिया षड्यत्र

इसकी मुझे और सजा मिलेगी।

रात का जुलूस मनुष्य के प्रति दिन षड्यत्र का प्रच्छन्न रूप है। 'कोई' एक है जिसने उन्हे नगा देख लिया है– वे अपने को असुरक्षित आतकित महसूस करते है इसलिए उस 'एक' को और सजा मिलेगी। षड्यत्र ही अपने मे मानवीय विरोधी है। सजा है लेकिन अब तो और अधिक मिलेगी–यह व्यग्य भय का व्यजक नही है, उस 'जुलूस' की अमानुषिक मानेवृत्ति और जन–जीवन की त्रासदी का व्यंजक है लेकिन यह 'एक' का देख लेना ही कविता के तनाव मे एक मोड और विरोधी शक्ति का स्वर मिलाता है जो आगे चलकर जन–क्रान्ति की पीठिका बनता है–मध्यवर्गीय काव्यनायक के आत्मसघर्ष–सामाजिक सघर्ष को और गहरा करता है। इस प्रकार यह पूरा वर्णन विम्बात्मक है और कविता के समग्र बिम्ब और 'गद्य के तनाव' का बेहद जरूरी हिस्सा। इसी के कारण–'मर गया देश, जो अरे जीवित रह गए तुम। और 'क्या करूँ, किससे क कहँ, कहाँ जाऊँ दिल्ली या उज्जैन' जैसी परिणति तक कविता पहुँचती है– ये अश समूची ऐतिहासिक, धार्मिक, सास्कृतिक राजनीतिक गढो की नींव हिला देते है। 'बिम्ब' की प्रक्रिया अधिक सश्लिष्ट और विकसित स्तर की मानी गयी है क्योकि बिम्ब कई तत्वों से निर्मित होता है और प्रतीक की तरह उसका स्वीकृत–स्थिर अर्थ नही होता, वह गतिशील होता है। 'इसलिए कविता मे अर्थ को स्वायत्त तथा विकसनशील बनाये रखने का मुख्य दायित्व बिम्ब पर होता है।'[26] यह सच है कि पश्चिमी समीक्षक बिम्ब का महत्व उसके चाक्षुष सवेदन के कारण मानते है। किन्तु रामस्वरूप चतुर्वेदी का कहना यह है कि " मुख्य बात यह है कि सश्लिष्ट गठन होने के कारण बिम्ब मे

उसके विभिन्न तत्वाक के बीच सपर्क और टकराहट से एक द्वन्द्वात्मक (डाइलैक्टिक) प्रक्रिय परिचालित होती है जो अर्थ को विकसनशील बनाती है इस तरह बिम्ब प्रधानत और अनिवार्यत एक अर्थ–सश्लेषण है और इसलिए रचना मे काव्यभाषा या कि काव्य बनने की मुख्य प्रक्रिया है।" निश्चय ही मुक्तिबोध की बिम्ब–योजना अर्थ–सश्लेष, अर्थ की विकसनवृत्ति का उदाहरण है–ये बिम्ब–प्रक्रिया इतनी सघन, प्रवाहमान, और लय–वैविध्य की सर्जक है कि कविता मे उससे विशिष्ट अर्थ–क्षमता विकसित हुई है और नाटकीय लय और तनाव को उसने अधिक सार्थक–जीवन्त किया है। प्रोसेशन जैसे विशेष प्रयोगो से, तॉल्स्टाय, गांधी, तिलक जैसे प्रयोगो से 'ॲधेरे मे' जैसी लम्बी जटिल कविता का समूचा रचनासघटन अपने मे समग्रत दीप्त हो उठा है। बिम्ब ही कविता की सारी भगिमा, लय–टोन, अर्थ को बदल देते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बिम्ब–विधान को 'सश्लिष्ट– कहा ही है। तिलक का सम्पूर्ण दृश्य मार्मिक बना है–सपाट सूने मे निसग स्तब्ध जडीभूत पाषाण–मूर्ति जैसे जीवन की मूल्यहीनता, अकेलेपन की पीडा और सवेदनहीनता पर स्तब्ध है–असंग है। मूर्ति का हिलना तन से अंगार फूटना, नासिक से खून बहना और काव्यनायक का व्याकुल होकर उसे अभी अपने जिन्दा हाने का विश्वास दिलाना और मन में एक भयानक जिद का उठना, अद्‌भुत बिम्बात्मकता का उदाहरण है। उसी सन्नाटे में, सर्दी मे, बोरे में कॉपते गॉधी का बिम्ब भी एक पूरा इतिहास कहता है और फिर 'शिशु' प्रसग के जुडने से अतीत, वर्तमान की भयानक विसंगति मे 'भावी के उद्‌भव' का, भविष्य की आशा, आस्था और

कर्म का सकेत मिलता है–जनता के गुणो मे सभावनाओ की तलाश मिलती है। मुक्तिबोध अधिकांशत स्मृति और कल्पनामूलक बिम्बो की रचना करते है और इस कार्य को वह अप्रस्तुत विधान से या लक्षण–व्यजना से, सकेतो से सम्पन्न करते हुए सवेदना को मूर्त रूप देते है। खास बात यह है कि उनके बिम्बो मे पुनरावृत्ति नही है और उनकी लम्बी कविता की समग्र बिम्बात्मकता मे अनेक प्रकार के बिम्बो का योगदान होता है।

मुक्तिबोध के बिम्बो मे इसीलिए बडा वैविध्य है–समकालीन कवियो मे अपने मे विशिष्ट और विस्तृत है–उसका क्षेत्र व्यापक है। सामान्यत उनके बिम्ब भयावह है–अधेरा, पठार, पहाड, समन्दर, नीली झील, गुफा, खोह, जगल, गली, अँधेरा, जीना, पत्थर, बीरान घटाघर, चौराहा, कोलतार पथ, भवन आदि के योग से रहस्यात्मक और व्यग्यात्मक, भयावह वातावरण पैदा हुआ है। लगता है जैसे बिम्ब–चयन मे इतिहास, राजनीति गणित, विज्ञान, प्रकृति, मनोविज्ञान, कला, जीवन, आदिम सभ्यता, विश्वसदर्भ, व्याकरण, भाषा, साहित्य किसी का कोना नही छोडा है। प्राकृतिक बिम्बों में पहाड, पठार, समन्दर, झील, पेड, गुफाये, जंगल, हवा, प्रभजन, बिजली, खुरदरे कंगार–तट, तुग शिखर आदि का वह भरपूर सार्थक उपयोग करते है और उन्हीं के माध्यम से कभी वातावरण–निर्माण करते है, कभी मानव जीवन और मानवहृदय की जटिल संवेदनाओं को रूपायित करते हैं–

सूनी है राह, अजीब है फैलाव

सर्द अँधेरा

ढीला ऑखो से देखते हे विश्व

उदास तारे

x x x x

अँधियारा पीपल देता है पहरा

हवाओ की नि.सग लहरो मे कॉपती,

कुत्तो की दूर–दूर अलग–अलग आवाज

टकराती रहती सियारो की ध्वनि से।

कॉपती है दूरियॉ, गूँजते है फासले,

(बाहर कोई नही, कोई नही बाहर)

इतने मे अँधियारे सूनेमे

कोई चीख गया है

रात का पक्षी

कहता है

वह चला गया है

वह नही आयेगा, आयेगा ही नही

अब तेरे द्वार पर।

x x x x

भूमि की ततहो के बहुत–बहुत नीचे

अँधियारी, एकान्त

प्राकृत गुहा एक।

विस्तृत खोह के सॉवले तल मे

तिमिर को भेदकर चमकते है पत्थर

तेजस्क्रिय रेडियो–एक्टिव रत्न भी बिखरे,

झरता है जिन पर प्रबल प्रपात एक।

प्राकृत जल वह आवेग भरा है,

द्युतिमय मणियो की अग्नियो पर से

फिसल–फिसलकर बहती है लहरे,

लहरो के तल मे से फूटती है किरने,

रत्नो की रंगीन रूपो की आभा

फूट निकलती

खोह की बेडौल भीटे है झिलमिल।।

जाहिर है आदिम जीवन के उपकरणो ने, ॲधेरे के बिम्ब ने यहॉ विराटता पैदा किया है। कभी–कभी बिम्बो को अधिक पूर्णता प्रदान करने के लिए मुक्तिबोध सार्थक विशेषणों का भी प्रयोग करते है–कटे–कटे पठारो का, गुजान रात, अजनबी हवाओं, सॉवले जल, 'शीत भरे थर्राते तारो के ॲधियाले' तल में, चट्टानी चमक पठार, की ॲधेरे की स्याही में डूबे हुए देव उजाड बजर टीले पर एहसास, आदि। सभी सक्रिय एवं श्रव्य बिम्ब–रचना द्वारा, अनुकूल सार्थक ध्वन्यात्मकता द्वारा वातावरण एव अपेक्षित अर्थ, स्थिति, तनाव की सृष्टि करते है। आरभ में ही काव्यनायक जब भीत पर बनती कुहरीली आकृति को देख हतप्रभ रह जाता है तो–

तालाब के आस–पास, अँधेरे मे वन–वृक्ष

चमक–चमक उठते है हरे हरे, अचानक

वृक्षो के शीश पर नाच–नाच उठती है बिजलियॉ

शाखाये, डालियॉ झूमकर झपटकर

चीख, एक दूसरे पर पटकती है सिर . . ।

यह अगर आतरिक मनस्थिति की दृश्यनुभूति और अभिव्यक्ति है तो तिलक–मूर्ति के प्रसग के बाद–

इतने में अकस्मात् कॉपा व धॉय धॉय

बन्दूक धडाका

बिजली की रफ्तार पैरो मे घूम गयी।

खोहो–सी गलियो के अँधेरे मे एक ओर

मै थक बैठ गया।

सोचने–विचारने।

अँधेरे में डूबे हुए मकानो के छप्परों पार से

रोने क़ी पतली–सी आवाज

सूने मे कॉप रही, दूर तक

कराहो की लहरो मे पाशव प्राकृत

वेदना भयानक थरथरा रही है।

यह ध्वन्यात्मक बिम्ब अपनी गतिशीलता मे मध्यवर्गीय काव्यनायक की मनःस्थिति और गांधी जी के पूर्व का आभास कराता है और दृश्यों का

आनन्द भी देता है। दृश्य–श्रव्य के मिश्रित बिम्ब का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण सैनिक जत्था और अंत मे जन–क्रान्ति के ज्वलन्त रूप के अन्तर्गत है। जब क्रान्ति की सुखद कल्पना एक प्राणयिनी में बदल जाती है–

मानो कि कल रात किसी अनपेक्षित क्षण मे ही सहसा
प्रेम कर लिया हो मनोहर मुख से
जीवन भर के लिए।।

और उस अज्ञात प्रणयिनी के स्वप्न–स्पर्श की याद आते ही–

कैमरे मे सबुह की धूप आ गयी है,
गैलरी मे फैली है सुनहला रवि–छोर
क्या कोई प्रेमिका सचमुच मिलेगी?
हाय! यह वेदना स्नेह की गहरी
जाग गयी क्यो कर ?
सब ओर विद्युत्तरंगीय हलचल
चुम्बकीय आकर्षण।
प्रत्येक वस्तु का निज–निज आलोक,
मानों कि अलग–अलग फूलो के रंगीन
अलग–अलग वातावरण है बेमाप,
प्रत्येक अर्थ की छाया में दूसरा, आशय
झिलमिला रहा–सा।
डेस्क पर रखे हुए महान् ग्रन्थों के लेखक

मेरी इन मानसिक क्रियाओ के बन गये प्रेक्षक,

मेरे इस कमरे मे आकाश उतरा,

मन यह गगन की वायु मे सिहरा।

भयावह बिम्बो के बीच मे ऐसा कोमल, स्निग्ध आकर्षण से भरा बिम्बात्मक चित्र जिसमे दृश्य भी है, क्रिया भी, मानसिक भावो का उतार–चढाव भी एक स्थिति–परिवर्तन की सुखद व्यजना भी। स्वय मुक्तिबोध की बिम्ब–योजना भी इससे स्पष्ट होती है कि सब बिम्ब मानो अलग–अलग है लेकिन हर अर्थ की छाया मे दूसरा आशय झिलमिलाता हुआ–सा। यह बिम्ब, स्मृति, कल्पना, और रागात्मक सम्बन्ध का सकेत करता है। ऐसे ही रागात्क सम्बन्ध का बोध शिशु–प्रसग मे होता है–

बालक लिपटा है मेरे इस गले से चुपचाप,

छाती से कन्धे से चिपका है नन्हा–सा आकाश

स्पर्श है सुकुमार प्यार भरा कोमल,

किन्तु है भार का गभीर अनुभव।

श्रृगार परक बिम्ब कम होने के कारण इस प्रकार के बिम्ब मुक्तिबोध की रागात्मक वृत्ति और भविष्य के प्रति, समाज के प्रति दायित्व के द्योतक है।

स्पृश्य बिम्ब के लाक्षणिक प्रयोग भी 'अँधेरे मे' हैं पर उसका लक्ष्य भी काव्यनायक की सशयग्रस्त मनोदशा, उसकी मानसिक यातना, उसकी गति और प्रयास का चित्रण करने के लिए है–,

कमजोर घुटनो को बार बार मसल

लडखडाता हुआ मै

उठता हूँ दरवाजा खोलने,

चेहरे के रक्तहीन विचित्र शून्य को गहरे

पोछता हूँ हाथ से

अँधेरे के ओर–छोर टटोलकर

बढता हूँ आगे,

पैरो से महसूस करता हूँ धरती का फैलाव,

हाथो से महसूस करता हूँ दुनिया,

मस्तक अनुभव करता है आकाश

दिल मे तडपता है अँधेरे का अदाज,

ऑखे ये तथ्य को सूँघती–सी लगती,

केवल शक्ति है स्पर्श की गहरी।

स्पर्श की शक्ति ही काव्यनायक की छटपटाहट को मध्यवर्गीय निष्क्रिय मानसिकता को, तीव्र अदम्य आकाक्षा और दृढ सकल्प में बदल देती है। मुक्तिबोध लगातार दो विरोधी प्रकृतिके बिम्बो को स्थितियों, चित्रो को लेकर चलते है। ॲधियारा और प्रकाश, सन्नाटा और चीख, रात और सुबह, स्वप्न और जागरण, मृत्यु और जीवन, कोमलता,–निष्क्रियता–सक्रियता–सक्रियता, ॲधेरे मे ध्वनियो के बुलबुले उठते रहते है और जब नीली झील मे प्रतिपल कॉपते अरूण कमल की थाह ढूँढने का संकल्प हो जाता है। तब उस संकल्प–चेतना के साथ–

चॉद उग आया है

गलियों की आकाशी लम्बी सी चीर मे

तिरछी है किरनो की मार

उस नीम पर

जिसके कि नीचे

मिट्टी के गोल चबूतरे पर, नीली

चॉदनी मे कोई दिया सुनहला

जलता है मानो कि स्वप्न ही। साक्षात्

मकानो के बडे बडे खडहर जिनके कि सूने

मटियाले भागो मे खिलती ही रहती

महकती रातरानी फूल भरी जवानी मे लज्जित

तारो की टकटकी अच्छी न लगती।

इस सघर्ष–क्षण में चॉद, चॉदनी, रातरानी की महक सबके यथार्थपरक अर्थ है–अँधेरे का सैलाब छँट गया है, सुनहला दिया जल रहा है लेकिन इनके प्रचलित रोमाटिक अर्थ नष्ट हो गए है और श्रृगार असगत–सी चीज लग रहा है। रातरानी फूल भरी जवानी मे लज्जा से नहीं झुक रही है, 'लज्जित' है–तारो की टकटकी भी अच्छी नही लगती है–यही मुक्तिबोध की मौलिक पहचान है।

मुक्तिबोध जब गंध–बिम्ब भी लेते है तो वह कविता के समग्र अनुभव का अभिन्न अंग है। साथ ही कविता के भयावह प्रवाह मे कुछ अलग लगते हुए भी वे बिम्ब परिवर्तन और द्वन्द्व के विकास के कारण होते है। 'मानो मेरे कारण ही लग गया मार्शल लॉ यह, मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया' के अनुभव की यत्रणा के बाद जब 'मैं बरगद के पास

खडा होता है तो उसे महसूस होता है–

रात्रि के श्यामल ओस से क्षलित

कोई गुरू गम्भीर महान् अस्तित्व

महकता है लगातार

मानो खडहर प्रसारो मे उद्यान

गुलाबी–चमेली के, रात्रि–तिमिर मे

महकते हो, महकते ही रहते हो हर पल।

किन्तु वे उद्यान कहॉ है,

ॲधेरे मे पता नही चलता।

मात्र सुगन्ध है सब ओर,

पर उस महक–लहर मे

कोई छुपी वेतना, कोई गुह्या चितना

छटपटा रही है छटपटा रही है।

यह गंध की खोज की बेचैनी है, उस सुगन्ध के पीछे छटपटाहट है।" इनमें विम्ब अपने को बिम्बित नही करता, कुछ और करता है जिससे परिचित कविता की राह से गुजरा जा सकता है।"[27] ये बिम्ब आतरिक विवशता का परिणाम है, किसी कलात्मक कौशल का नही। अलकार के लिए बिम्बों का प्रयोग मुक्तिबोध बहुत कम करते है अगर करते भी हैं तो वहा व्यग्यार्थ महत्वपूर्ण होता है– उसके प्रयोग से वह अपनी छटपटाहट की और अधिक मुखर, स्पष्ट करना चाहते है। रस–बिम्ब भी मुक्तिबोध मे अधिक नहीं है

लाकिन जब वे उनका प्रयोग भी करते है तो उसमे गहरे अर्थ और जीवन का यथार्थ बहुत दूर तक छिपा हुआ होता है।

मेरे ही उर पर धँसाती हुयी सिर,

छटपटा रही है शब्दो की लहरे

मीठी है दुसह!!

उर मे सिर धँसाती हुई शब्दो की लहरे 'मीठी भी है' असत्य भी है क्योकि "मुक्तिबोध एक सामाजिक चेतना सम्पन्न जीवन की विभिन्न समस्यायो के प्रति सजग, पर ऐद्रिक सवेदनाओ के प्रति अपेक्षाकृत तटस्थ से, जीवन के आनन्द–पक्ष की अपेक्षा उसकी द्वन्द्वातमकता के प्रति अधिक सचेत कवि मालूम पडते है।"[28] वैसे भी नयी कविता ने बिम्ब का क्षेत्र बहुत व्यापक किया–मुक्तिबोध ने उन्हे नयी भंगिमा और सवेदनात्मक विस्तार दिया। डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी उनकी इस विशिष्टता को रेखाकित करते हुए कहते हैं कि "मुक्तिबोध के बिम्बो में भय और आत्मीयता का एक विचित्र मिश्रण है जो उनके लिए आज की औसत भारतीय निम्न मध्यवर्गीय जिन्दगी का असली रूप है। उनके काव्य की शक्तिमत्ता अधिकतर इस बिम्ब– विधान से उपजती है और 'गरवीली गरीबी' के समूचे वैविध्य को रूपायित करती है।[29] विविधता के साथ क्रियाशीलता ही वह मुख्य सौदर्य है जो एक लम्बी कविता के बिम्बविधान को सप्राण बनाता है जिसमें उनकी रग–चेतना की प्रखरता और विरोधाभास ने भी योगदान दिया है। काले, लाल, सुनहले, भूरे, कत्थई, गुरुआ, साँवले, गुलाबी, खाकी, मटमैले, जैसे रंग कविता की

प्रकृति से मेल खाते है और प्राय एक अनोखा भावचित्र बनाते है – रग–योगना का विलक्षण, सारगर्भिता प्रयोग नाटक म प्रकाश और वर्ण के खुलने–मिलने कीं तरह। लोहे के चक्के से निकली स्वर्णिम नीली–लाल–लाल चिनगियॉ फूलो सी खिलती है, और अभी मौसम साफ नही है– 'गेरुआ मौसम है उते है अगार'। रक्तिम तितलियॉ, घॅघराला धुऑ पर उसमे गेरुई ज्वाला भी है। सॉवली हवा है तो अँधरे मे टके सितारे भी है, अँधेरे की स्याही और उसका फैलाव है, रक्त का तालाब है तो रक्त मे डूबी द्युतिमान मणियॉ, रुधिर से फूटती किरणे भी है क्योकि अनुभव भी है और सकल्प भी निष्क्रियता की वेदना है तो मुक्ति की सघर्ष भी। 'अँधेरे मे सुलगती सिगरेट अचानक तॉबे–चेहरे की ऐठ' झलकाती है। दियासलाई की क्षण भर की लौ मे 'मथरीली सलवट' भयानक दीखती है। यही नही–

सुनसान चौराहा सॉवला फैला,
बीच में वीराम गुरुआ घटाघर,
ऊपर कत्थई बुजुर्ग गुम्बद,
सॉवली हवाओ मे काल टहलात है।
रात मे पीले हैं चार घडी–चेहरे,
मिनट के कॉटों की चार अलग गतियॉ
चार अलग कोण
कि चार अलग संकेत।

निश्चय ही ये सभी रंग जीवन की विद्रूपता, बदरग स्थिति, घुंघराली अस्पष्ट, कटू यथार्थ से भरी स्थिति क व्यंजक–इनमे जीवन की चमक नहीं है, सौन्दर्य की तथाकथित रुमानियत नही है ये धूमिल, पीत, फीके, ठंडे रंग

है या फिर जलते हुए, भीषण भयानक, गरम। यहाँ ओस भी श्यामल है, जल भी साँवला है, 'उदास मटमैल मन रूपी वल्मीकि' है, 'अनगिनत काले–काले हाइफन–डैशो की लकीरो की हलचल' है, यहाँ तक कि जुलूस भी साँवला है। जगखायी जमी हुयी चिटखनी है, खुरदरे कगार–तट है और जिन्दगी के कमरो का अँधेरा है पर इन्ही के भीतर से कोई चेहरा उीरता है–मुसकरता है और सघर्ष करते–करते किरणे झिलमिलाने लगती है। इन रगो ने, रगो के विरोधो ने कविता की भाषा और बिम्बो को जुझारू प्रकृति का बनाया है। वे सम्मोहक नही है पर उनमे 'लडाई' है। 'हर शब्द अपने प्रति शब्द को काटता है, हर रूप अपने बिम्ब से जूझता है और हर ध्वनि अपनी प्रतिध्वनि से लडती है– ये जूझना कविता मे तय है और यही उनके बिम्बविधान मे शक्ति लाया है। प्रसिद्ध ललितनिबन्धकार कुबेरनाि राय के अनुसार "मुक्तिबोध की बिम्ब–रचना–पद्धति एक सचेत और जागरूप प्रक्रिया है। वे अग्रेजी के 'मेटाफिजीकल' कवियो की तरह बिम्ब को पूर्व निश्चित कर लेते है ओर अपनी सुविधानुसार उसे विकसित करते और तराशते रहते है। किसी भी बिम्ब की सदर्भ–निरपेक्ष स्वतत्र स्थिति में उनके अनेक सम्बन्ध सूत्र होते है (कविता में बिम्ब की स्थिति स्वतंत्र नही वरन् काय–कथय के परतंत्र हाती है) एक बिम्ब के कई सबध–सूत्रों को छोडकर शेष का आच्छादन कर देते है अर्थात् सम्पूर्ण विबम्ब भी न स्वीकार करके उसके कुछ क्रिया–कलापो का ही एक कविता में वरण कर लेते है।× × × अत मुक्तिबोध का बिम्बविधान विश्लेषणपरक है और बिम्ब धर्म चयन–आश्रित तथा क्रियापरक है– अर्थात् वह कविता के भीतर अपनी मूर्ति मे नही, अपने क्रिया–कलापों के माध्यम से जीवित और अस्तित्वशील

होता है।[30] अँधेरे मे के बिम्बों की विशेषता उसके क्रिया–कलापो मे, कथय के विकास ओर विश्लेषण मे, गतिमानता और समग्रता मे है– उनका वर्गीकरण करके देखना केवल एक सुविधा मात्र है। यहॉ पूरी फैटेसी ही बिम्बमाला से बनती है।

---

1 मुक्तिबोध एक मोर्चे पर चौतरफा युद्ध प्रभाकर श्रोत्रिय, मुक्तिबोध स0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ0 100
2 मुक्तिबोध एक मोर्चे पर चौतरफा युद्ध प्रभाकर श्रोत्रिय, मुक्तिबोध स0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ0 100वही पृ0 101
3 मुक्तबोध की सार्थकता श्रीकान्त वर्मा, आलोचना, 103
4 आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 321
5 एक साहित्य की डायरी मुक्तिबोध रचनावली . चार पृ0 92
6 हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास, पृ0 236
7 ॲधेरे मे एक विश्लेषण, पृ0 51
8 नन्दकिशोर नवल ॲधेरे मे एक विश्लेषण पृ0 52
9 चॉद का मुँह टेढा है, भूमिका
10 हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास, पृ0 236
11 मुक्तिबोध की सार्थकता आलोचना 1973
12 कविता के नये प्रतिमान नामवर सिह, पृ0 219
13 वही पृ0 219
14 चॉद का मुँह टेढा है पृ0 115
15 नये साहित्यकार का सौन्दर्य–शास्त्र पृ0 129
16 गजानन माधव मुक्तिबोध का रचनाससार पृ0 75
17 भूरी–भूरी खाक धूल मुक्तिबोध पृ0 229
18 चॉद का मुँह टेढा है . भूमिका शमशेर बहादुर सिह
19 मुक्तिबोध रचनावली चार, पृ0 198
20 मुक्तिबोध रचनावली चार, पृ0 198
21 कविता के नये प्रतिमान पृ0 214
22 हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ0 239
23 कविता के नये प्रतिमान नामवर सिह पृ0 118–119
24 कविता के नये प्रतिमान पृ0 219
25 कविता के नये प्रतिमान पृ0 219
26 काव्यभाषा पर तीन निबध रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ0 110
27 गजानन माधव मुक्तिबोध · चॉद का मुँह टेढा है इन्दुनाथ मदान, पृ0 108
28 गजानन माधव मुक्तिबोध अज्ञेय और मुक्तिबोध के काव्यबिम्ब रणजीत और वाजिद, पृ0 297
29 काव्यभाषा पर तीन निबन्ध पृ0 130
30 मुक्तिबोध ·· स0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, 'ब्रह्मराक्षस अर्थबीज और विस्तार', पृ0 130

□□

छठवां अध्याय

"दार्शनिकों ने विश्व की सिर्फ व्याख्या की है लेकिन सवाल है
उसको बदलने का।"[1]

मार्क्स–एगेल्स

और मुक्तिबोध के लिये –

"सत्य को अनुभव करना सहज है
मुश्किल बहुत
उसके कठिन निष्कर्ष मार्गो पर चले चलना।"[2]

मुक्तिबोध अपने समस्त साहित्य मे ज्ञान और चितन की क्रियागत परिणति की समस्याओं से जूझते रहे है। यही उनके मध्यवर्गीय काव्य नायको के आत्मसघर्ष की भी धुरी है। दुनियॉ को बदलने की चिता मुक्ति बोध है क्योकि उसका प्राप्त परिदृश्य बहुत बेरहम और मनुष्यता के लिये घातक है। मार्क्सवाद मनुष्यता की मुक्ति का दर्शन है। मुक्तिबोध इस दर्शन के साथ युग के बडे सवालो से जूझते हुये जीवन की सृजनातमक आयामो की खोज करते है, क्योकि यही वह शक्ति है जो इतिहास के इस अन्तर्विरोध भरे दौर से निर्णायक सघर्ष का मोर्चा बना सकती है। यानि जनता के श्रम, संबल और विश्वास का दोहन करने वाली पूॅजीवादी व्यवस्था को चुनौती देने वाले शक्ति स्रोत यही है। 'अन्धेरे मे' शीर्षक कविता मे जनता की मुक्ति के महान स्वप्न की यही संघर्ष भरी प्रक्रिया है जो अपने समय की भायानक पीडा भरी कसौटियो से गुजरती है। इस संघर्ष मे उनके काव्य नायक का उत्पीडित जनता के मुक्ति युद्ध मे अपनी ऐतिहासिक भूमिका दृढ कर लेने का संघर्ष भी है, जिसमें एक सकर्मक ऊॅचाई और व्याप्ति है।

मुकितबोध नयी कविता के कवि है। नयी कविता का मुख्य स्वर मध्य वर्ग की आकांक्षाओ और सघर्षों पर केन्द्रित रहा है। ज्यादातर कवियो की व्यक्तिवादी रुझान के कारण इस वर्ग की व्यक्तिगत हताशा, मनोदौर्बल्य या असामजस्य की बात ही उनके लिये मुख्य है किन्तु मुक्तिबोध का चुनाव यह

नही है। नयी कविता की पतनशीलता और कलावादी पाखड से टकराने वाले वे अकेले कवि और विचारक रहे है। उनका प्रयत्न मध्य वर्ग के सक्रिय सवेदनशील और सामाजिक को पहचानने का रहा है। इसलिये उनके काव्य नायक अपने वर्गीय अन्तर्विरोधो के अलगावो के गर्क नही है बल्कि उनमे अपनी अनिवार्य सामाजिक भूमिका के लिये सघर्ष की चेतना है। नामवर सिह जी के अनुसार 'अधेरे मे' के काव्य नायक की मुख्य समस्या 'अस्मिता की खोज' है। उनकी आकाक्षा इस 'अस्मिता की खोज' को वर्ग चेतना के रूप मे देखने की है। अस्मिता की खोज के इस मार्क्सवादी भाष्य से न उलझते हुये यह कहा जा सकता है कि 'अधेर मे' का काव्य नायक यदि कुछ खोज रहा है तो वह खोज है नये मानवीय इतिहास की रचना करने वाली क्रान्तिकारी शक्तियो की। अत जनता को गुलाम बनाने वाली शोषक शक्तियो से संघर्ष की बात ही उनके लिये मुख्य है तथा उनकी तमाम कविताये इस सघर्ष को अधिक प्रभावी बनाने वाली सभावनाओ की खोज करती है। नामवर जी के अनुसार यदि मुक्तिबोध के काव्य नायक को अस्मिता के लोप यानि मिथ्या चेतना से आक्रान्त मान भी लिया जाय तो उसके भीतर ऐसा क्या बेचैन और सक्रिय है जिसके कारण वह जिन्दगी के अन्धेरे कमरो मे उसकी 'अनिवार आहट' सुनता है। 'वह' जो और कोई नही उसकी अपनी चेतना का वह प्रखरतर होता हुआ 'रक्त प्लावित स्वर' है जो उसके आत्मसंघर्ष को क्रान्तिकारी जनसघर्ष से गहरे एकात्म तक विकसित करता है। इस प्रकार निजी अन्तर्विरोधो से सचेत सघर्ष की यह प्रक्रिया उसे सामाजिक अन्तविरोधो के से निर्णायक सघर्ष के लिये तैयार करती है। ऐसा नही लगता की मुक्तिबोध के काव्य नायक की बन्द स्थिति का कारण व्यवस्था से भय है। यद्यपि व्यवस्था दमनकारी है और उसके इस राक्षसी रूप की पहचान भी उसे है किन्तु इस व्यवस्था की मरणोन्मुखता से भी वह अपरिचित नही है। रात के अधेर मे निकलने वाले जुलूस को मुक्तिबोध ने इस हिसक तन्त्र के शक्ति परीक्षण के रूप में चिन्हित किया है। यह अनायास नही है कि इसे इसे मृत दल की शोभयात्रा कहते हैं। जनता के

शत्रुओ को मुक्तिबोध अपराधियो का सयुक्त परिवार कहते है और देखते है कि इसमे पूँजीपति, नेता, पत्रकार, कवि और अफसर जैसे सफेदपोशो के साथ नगर का कुख्यात हत्यारा डोमाजी उसताद भी शामिल है। रात के भयानक अन्धेरे मे यह जुलूस जनक्रान्ति के दमन के लिये जा रहा है। किन्तु मुक्तिबोध जानते है कि जनता के शत्रु अपने ही नाखूनो से पागल हो अपना सीना चीर डालते है।'[3] इनका आतक तभी तक है जब तक जनता इससे सघर्ष की अपनी भूमिका के प्रति सचेत नही है, मुक्तिबोध के काव्य नायक के लिये वर्ग विभाजित पूँजीवादी समाज की ये प्रक्रियाये और परिणतियाँ पूरी तरह से स्पष्ट है। इसलिये व्यवस्था अपने पूरे आतक के बावजूद उसका भय नही है। उसकी प्रधान समस्या अपनी श्रेणी के मनुष्य की वे व्यक्तिवादी अन्त प्रवृत्तियाँ है जो उसे खतरनाक ढग से उसे व्यवस्था के हितो की ओर ले जाती है। तथा इस प्रकार उसे शासक वर्गो की विचारधारा और पद्धति के अधीन बनाकर समाज के जीवित सघर्षशील हिस्ससे अलग–धलग कर देती है। उसकी समस्त दक्षता या विशेषज्ञता की आकर्षक कीमत लगा दी जाती है। इस प्रकार वह इस जन विरोधी तन्त्र का आज्ञाकारी पुर्जा भर होकर रह जाता है। उतना ही यान्त्रिक, उतना ही बेरहम और उतना ही जनविरोधी। इस ठडी और बेजान नियति मे उसकी गुलामी सर्वद्वारा की गुलामी से कम नारकीय नही। इसलिये एसकी मुक्ति के सवाल भी सर्वहारा की मुक्ति के सवाल से कही ज्यादा पेचीदा है। और ये ही सवाल मुक्तिबोध को चुनौती है।

मध्यवर्ग के वर्ग सहयोगी चरित्र के प्रति मुक्तिबोध को गहरी ग्लानि और गुस्सा है। इसे उन्होने की उस निर्मम व्यूह रचना के रूप मे पहचाना है जिसके अन्तर्गत उसके दमन और अन्याय के विरोध का कारगर मोर्चा बना सकने वाली शक्तियाँ, सामाजिक, सास्कृतिक प्रक्रियाओं के स्तर पर गलत मूल्य विधान में डाल दी जाती है। और विकेन्द्रित होकर मनुष्यता के लिए घातक समझौतो की राह पकड लेती है। इस प्रकार वह मध्य वर्ग जिसमे जीने की स्वाभाविकता और आजादी के लिये चिन्तन और संघर्ष की क्षमता

है तथा जो उत्पीडित मेहनतकश जनता को क्रातिकारी ताकतो मे बदलने वाला महान शिक्षक हो सकता है। चिलचिलाती हुई दूरियो, ठडे फासलो 'बियाबानो' या 'अपावन अधेरो' का शिविर होकर 'अभिशप्त खेहो', या निर्जीव चट्टानो मे बदल जाता है। मध्यवर्ग के एक बडे सम्भावनापूर्ण तबके के इस ह्रश्र को मुक्तिबोध ने गहरी पीडा के साथ देखा है।

नामवर जी ने 'अन्धेरे मे' कविता के अधेरे को इस स्वप्न कथा का ऐसा परिवेश माना है जिसमे चीजो को 'और का और' कर देने की क्षमता है। उनके अनुसार इस अधेरे के कारण इस जुलूस की भयावहता कही और बढ जाती है जो दिन के उँजाले मे भीडभाड मे कही दब जाता। यद्यपि नामवर जी के लिये भी मुक्तिबोध की इस कविता का यथार्थ इतना सरल नही है किन्तु 'अधेरे' की उनकी यह व्याख्या अपर्याप्त है। वैसे भी जुलूस मे शामिल तत्वो के दिन की दिनचर्या से पाठको को मुक्तिबोध ने अपरिचित नही रखा है –

'गहन मृतात्माये इसी नगर की
हर रात जूलूस मे चलती
परन्तु दिन मे
बैठती है मिलकर करती हुई षडयन्त्र
विभिन्न दफ्तरो, कार्यालयो, केन्द्रो मे, घरो मे।'[4]

अत स्पष्ट है कि अधेरा इस कविता का परिवेश भर नही है अपितु कविता की समूची अर्थ प्रक्रिया से गहरे सम्बद्ध है। मुक्तिबोध के काव्य नायक का सघर्ष इकहरा नही है। उसके भीतर कठिन आभ्यान्तर ग्रन्थियो और वाह्य समस्याओ के तनाव है। दूसरी तरफ ज्ञान और सवेदना को मानवीय दीप्ति और प्रखरता देने वाले सकर्मक जीवन से कटाव की यातनाये कम नहीं है। इसके अतिरिक्त नि.सन्देह यह अधेरा इस 'मुनाफाखोर तंत्र' का वह कवच भी है जिसके नीचे उसकी सारी पशुता और स्वार्थ छुप जाते है। मुक्तिबोध ने 'अधेर' और 'प्रकाश' के पारंपरिक प्रतिकार्थ को ही विकसित किया है। अंधेरा सर्वत्र जडता या अज्ञान से अवरुद्ध जीवन की पीडादायी

स्थितियो को व्यजित करता तथा 'प्रकाश' सच्चाई के सुनहरे तेज अक्सो का प्रकाश है। मुक्तिबोध के यहॉ अधेरा प्रकाश से ज्यादा दोहराया गया है और इसके तमाम शेड्स है–"काली स्याह शिलाये, तेजाबी काला गटर', सॉवले गुहान्धकार, 'ठण्डा अधेरा', 'अधियारा ताल', 'नीला पील्ला', 'तम श्याम– सलिल' जैसे तमाम प्रतीकाश्रित बिम्ब मिलते है। सदैव ये मनुष्य को धुरीहीन बनाने वाली भीतरी–बाहरी स्थितियो या भावो के व्यजक है। मुक्तिबोध के अनुसार जीवन की धुरी – 'जीवन का वृहद लक्ष्य'[5] है। यह वृहद लक्ष्य 'मानव की केन्द्रीय प्रक्रियाओ का अविभाज्य अग बनकर जीना है।'[6] मुक्तिबोध इसी को 'बिजली भरी तडपदार जिन्दगी कहते है।'[7] यह जिन्दगी मेहनत और मुक्ति के काम मे लगे हुये सर्वहारा की शानदार जिन्दगी है, जिसमे कठिन जीवन सघर्ष और यातना के बावजूद जीवन का स्वाभाविक रागोल्लास, मानवीय परस्परता और सक्रिय सामूहिक भावना है। मुक्तिबोध मे इस वर्ग के लिये गहरी करुणा, प्यार और उम्मीद है। उनके यहॉ जनता की प्राय लोकयुद्धो मे दक्ष छवि उभरती है। जिसकी शक्ति से अपने काव्य नायक के लिये नैतिक चुनौतियो का पक्ष खडा करते है। उसका संघर्ष जनता के उस अभिन्न मित्र का सघर्ष है जो सच्ची मैत्री की अग्नि परीक्षाओ मे तप रहा है और जनता के शत्रुओं की खतरनाक प्रणालियो और पैतरो का जबाबी मोर्चा तैयार कर रहा है जिन्दगी के गर्म स्पर्श उसकी चेतना को उदार, प्रखर और सकल्पवान बनाते है। मुक्तिबोध अपने काव्य नायक की उस अहम बद्धता के प्रति सर्वाधिक खबरदार है जिसके भीतर शासक वर्गों के लिये गुजाइशे निकल आती है। 'व्यक्तित्वातरण' की विदीर्णकारी प्रक्रिया मे उसे बिना किसी रियायत के उतार देते हैं और खतरो के खिलाफ लडने की उसकी क्षमता को चमकाते हैं।

मुक्तिबोध की कविताओ मे मध्यवर्ग अपनी समस्त सामाजिक सदर्भता और लक्षणो के साथ प्रवेश करता है। मध्यवर्गीय व्यक्तित्व मे विभाजन स्वाभाविक है और विभाजित होने की पीडा भी उतनी ही स्वाभाविक है किन्तु मुक्तिबोध के लिये इस मध्यवर्ग को दिशा देने की बात महत्वपूर्ण है। इस

प्रकार उनका सत्य विभाजित व्यक्तित्व के आदर्शीकरण का सत्य नही है बल्कि विभाजित व्यक्तित्व से सघर्ष का सत्य है। मुक्तिबोध के काव्य नायक मे निर्णायक स्थिति उसकी जीवनोन्मुखता की है। अपनी मानवीय बेचैनी के साथ वह मनुष्य की मुक्ति के महान स्वप्न की उस सघ

कुछ आलोचको के लिये मुक्तिबोध जयशकर प्रसाद से प्रभावित कवि है। नि सन्देह मुक्तिबोध ने प्रसाद कार्षभरी प्रक्रिया मे प्रवेश करता है जिसका महत्वपूर्ण प्रस्थान उसकी गहन आत्म समीक्षा है तथा जिसपर 'सत्–चित–वेदना' का सजग नियत्रण बना हुआ है। कामायनी को एक चुनौती की तरह लिया है और लगभग दो दशको तक उसकी समस्याओ से जूझते रहे। इसके अतिरिक्त मुक्तिबोध स्वय रचने की वैयक्तिक प्रक्रिया के कवि है वस्तुगत यथार्थ मे मानव मन की जटिल प्रक्रियायो के हस्तक्षेप को उन्होने गम्भीरता से लिया है किन्तु मुक्तिबोध निर्जन या अर्न्तमुखी वैयक्तिकता के कवि नही है। उनके सामने भयानक सकट काल की भीतरी–बाहरी गुत्थियो को समझने की जिम्मेदारी है। व्यक्ति, चरित्र, घटना या परिस्थिति के सापेक्ष समझ ही उन्हे मान्य है। इस दृष्टि से मुक्तिबोध निराला के ज्यादा करीब है। उनकी पक्षधरता और सघर्ष मे निराला की यथार्थ चेतना और रचनातमक जिम्मेदारी का स्पष्ट विकास देखा जा सकता है। वही 'जन–मन–करुणा' और 'लोकहित' मुक्तिबोध का भी अभीष्ट है जो निराला की मुख्य आकाक्षा है। मुक्तिबोध के अनुभव मे निराला के समय की सारी गुत्थियॉ अपनी बढी–चढी भयानकता के साथ मौजूद है। इसीलिये अनायास नही कि निराला के स्वप्न और सघर्ष का प्रखर और गम्भीर विकास मुक्तिबोध मे दिखाई देता है। मुक्तिबोध 'अँधेरे' को निराला ने 'मारण रजनी' के रूप में पहचाना और लिखा।

"मन्दिर में बन्दी है चारण / बन मे विचर रहे है वारण / रोता है बालक निष्कारण / माारण रजनी है।"[8]

ठीक यही रूपक मुक्तिबोध की इस कविता मे ज्यादा सश्लिष्ट, सघन और विकसित रूप लेता है। निराला ने भी 'मारण रजनी' के मूल मे

व्यक्तिगत लाभ और लोभ को ऊपर रखने वाले मध्यवर्गीय बौद्धिको के वर्ग सहयोग की मुख्य भूमिका देखी है। इन्हे ही वे शासक वर्गो का 'चारण' कहते है। निराला का यह 'रोता हुआ बालक' वही भावीजन है जिसे मुक्तिबोध का काव्यनायक पूरी जिममेदारी के साथ गॉधी के कन्धो से उठाता है तथा जो क्रमश ज्ञान और चेतना से लैस समूह की शक्ति मे बदल जाता है। मुक्तिबोध इसे 'सूरजमूखी–फूल–गुच्छे'[9] लिखते है। यह नया आलोक पैदा करने वाली जनशक्ति है जो क्रमश आने हक और भविष्य के लिये मोर्चाबन्द हो रही है। मुकित्बोध यहॉ बेहिचक 'वजनदार रायफल' लिख रहे है यानि जनता के भविष्य निर्माण मे वर्ग–सघर्ष की अपरिहार्यता समझते हुये 'शान्तिपूर्ण सक्रमण के सिद्धान्त' के प्रति अपनी स्पष्ट असहमति जाहिर करते है। जबकि खुश्चेव तक आकर समाजवादी सोवयित रूस भी शान्तिपूर्ण सक्रमण की बात अस्वीकार कर ली गयी थी। भारतीय वामपथी भी सशोधन वादी रुख आदि अपनाकर किसानो, मजदूरो और छात्रो का दमन करने वाली सरकार के साथ हो रहे थे। नेहरू के पंचशील मे उन्हे अपना सुविधाजनक तर्क मिल गया था। किन्तु मुक्तिबोध को पूॅजीवादी जनतन्त्र के प्रति कोई भ्रम नही था। वे पूरी जिम्मेदारी के साथ 'वजनदार रायफल' लिख रहे थे और समझ रहे थे। जनता के मुक्ति आन्दोलन से सक्रिय रूप से जुडे जन कवि नागार्जुन ने भी क्रान्ति के लिये जनता के इसी उभार को कारगर माना है। इस प्रकार सत्ता की अश्लीलता के प्रति निराला की आक्रमकता मुक्तिबोध के मूल्य स्पर्शी चिन्तन द्वारा और धारदार हो उठती है।

'अंधेर मे' कविता के पहले बन्द मे प्रश्न आता है–'कौन मनु?' मुक्तिबोध का यह मनु कामायनी के मनु की तरह एक सामाजिक व्यवस्था के घ्वस से निकला है। मुक्तिबोध लिखते है–

> "इतने मे अकस्मात् गिरते है भीतर से
> फूले हुये पलिस्तर
> गिरती है चूने भरी रेत
> खिसकती है पपडियॉ इस तरह

खुद ब खुद

कोई बडा चेहरा बन जाता है

स्वयमपि. "[10]

इस प्रकार कामायनी की ढहती सामती व्यवस्था की निर्मित मनु यहॉ पूॅजी व्यवस्था के अन्तर्विरोधो से बनी जटिल वैयक्तिकता का प्रतीक बनकर प्रस्तुत होता है। यह मनु जिन्दगी के अधेरो के बीच खडा है। किन्तु स्थितियॉ कदापि जडतापूर्ण यथास्थिति के पक्ष मे नही है। क्रमश गतिमान होती हुई वैयक्तिकता निजी अन्तर्विरोधो से संघर्ष करती हुई जगत की जटिल वास्तविकता मे प्रवेश करती है। और स्वप्न शुरू हो जाता है स्वप्न जिस पर बाहर–भीतर के तूफान को व्यक्त करने की जिममेदारी है। पूॅजीवदी समाज व्यवस्था के अन्तर्विरोधो के प्रति खबरदार होते हुये काव्य नायक को किसी भव्य हताशा में डाल देना मुक्तिबोध का चुनाव नही है। वे उसे परिवर्तनकारी शक्तियो की पहचान के लिये गहरी यातनापूर्ण प्रक्रिया मे डाल देते है। इसीलिये प्रत्येक ठहराव के विरुद्ध खडी ताकत की समझ उसके लिये सम्भव हो पाती है। तमश्याम परिदृश्य को चीरकर बाहर आने वाली तमाम तडपदार शक्तियॉ उठान ले रही है जिनके कारण परिवर्तन की गति तेज होती है और बाहर भीतर के बडे तूफान से नये मनुष्य का जन्म होता है। 'तिलस्मी खोह' का शिलाद्वार खुलता है, यानि काव्यनायक के लिये चीजो की अस्पष्टता खत्म होती है। इस प्रकार निजी और वाह्य अन्तर्विरोधो के प्रति उसकी दृष्टि की वस्तुपरकता दृढ होती जाती है। तथा वह 'रक्तालोक स्नात पुरुष' के रूप मे परिवर्तन की प्रखर क्रान्तिकारी चेतना का साक्षत्कार करता है। यद्यपि इस व्यक्तित्व की रहस्यमयता अभी कायम है। सभवत· इसलिये भी कि निज की परिपूर्णता के आविर्भाव का सघर्ष प्रक्रिया मे है। व्यक्ति और वस्तु जगत के सत्य की गहरी समझ के कारण ही मुक्तिबोध कविता के निर्णीत स्थितियो के कवि नही है। किसी भी स्तर पर वे अपने देश काल के खतरनाक और गम्भीर प्रश्नों से बच निकलने की सुविधा नही लेते। यही कारण है कि 'रक्तालोक स्नात पुरुष' को अनुभव

करने वाले काव्य नायक पर दोहरी चेतना का दबाव बना हुआ है। उसमे इस क्रान्तिपुरुष के प्रति आकर्षण भी है और भय भी। सशय और भय मध्यवर्गीय चरित्र के अन्तर्विरोध हैं। मुक्तिबोध मध्यवर्गीय व्यक्तित्व के प्रत्येक उल्झन, प्रत्येक गॉठ से टकराते है। 'अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति' कहकर काव्य नायक अपने अस्तित्व की मूल्यावान सभाव्यता की चिता करता है। "है" और "होने" का द्वन्द्व यहॉ तीखा हो रहा है इसी के साथ यथास्थिति चाहने वाली शक्तियो की सावधानी खतरनाक मोड लेती है– 'जगलो से आती हुई हवा ने/फूॅक मारकर एकाएक मशाल ही बुझा दी–?'[11] लिखकर मुक्तिबोध अराजक तन्त्र का उन्मादी आत्मविश्वास लक्ष्य करते है।

दूसरे बन्द मे काव्यनायक के सामने मुक्तिकामी मनुष्य से उसके पूरे अस्तित्व की माग करने वाली क्रान्ति की चेतना का उठता हुआ कद है जिसको समझने के साथ उसकी आत्म–समीक्षा सजग और दिशावान होती है तथा 'आत्मा मे सत–चित् वेदना' दहक उठती है। वह अवनी जग और जकडन पर निर्णायक प्रहार की शक्ति के साथ उठता है और – झॉकता है बाहर। बाहर–'सूनी है, राह अजीब है फैलाव/'[12] जीवन के उत्पादन और ऊष्मापूर्ण पर फैला हुआ सर्द अधेरा। ढीली ऑखो से विश्व देखते हुये गमगीन तारे जीवन की वास्तविक समस्याओं का समाधान न देख सकने वाले चिन्तन है। यहॉ मुक्तिबोध मे यथास्थिति की निगरानी करने वाने सामती तत्व के रूप में 'ॲधियारे पीपल का प्रतीक' दिया है। इस प्रकार वे स्वाधीन भारत की उस विचलन भरी सस्कृतिक प्रक्रिया को लक्ष्य करते है जिसमे साम्राज्यवादी पूॅजी की इच्छाओ के दबाव कायम है। भारतीय समाज मे पड हुये सामन्ती अवशेषो के आर्थिक–राजनीतिक के परिप्रेक्ष्य के प्रति मुक्तिबोध स्पष्ट है। अन्यत्र उन्होंने इन्हे शासक वर्गों के वक्त–जरूरत काम आने वाली फुर्तियॉ कहा है। इस मोड पर अधेरे की बन्द स्थिति का विरोध बनाये रखने के लिये 'रात का पंक्षी आता है जो वस्तुत. मनुष्य को जडताओ के विरोध के प्रति चेतन और अग्रसर बनाने वाले प्रेरक विचार का प्रतीक है।

इस प्रकार अधेरे की सारी दुष्ट ईच्छाओ पर भारी पडने वाले विरोध का अग्रगामी तेवर निखरता चलता है।

'जुलूस' के रूप मे मुक्तिबोध ने पूॅजीवादी समाज व्यवस्था को चलाने वाले तत्वो का राक्षसी गठबधन पहचाना है। इसे 'मृत दल की शोभा यात्रा' लिखते हुये वे अपना प्रखर इतिहास बोध दे रहे है। वे जानते है कि वर्तमान सामाजिक सरचना को टूटना ही है। भविष्य के इस सत्य को उन्होने स्वप्न के जरिये देखा है। इस प्रकार मुक्तिबोध कही भी यथार्थवादी दृष्टि की कसौटियो की अनदेखी नही करते।

'भैरव' मुक्तिबोध के लिये विनाश की शक्ति का आशय देने वाला मिथक है। 'अधेरे मे' कविता मे यह इतिहास की गति को रोकने वाली प्रतिगामी शक्ति के रूप मे प्रगट होता है। कवि, आलोचक और पत्रकार आदि को भी इस शोभा–यात्रा का भीतरी तत्व मानकर वे उनकी अवसरवादिता का भेद खोलते है। वे देखते है कि सत्ता का पिछलग्गू बनकर ये बौद्धिक जन अपना नया, मौलिक या श्रेष्ठ रचने की क्षमता से हीन हो चुके है। व्यवस्था का बाजा ढोने और उसके लिये धुने निकालने की घिनौनी नियति के अलावा इनके पास कोई विकल्प नही बचा है।

यही अचानक मुक्तिबोध का काव्यनायक इस विचित्र प्रोसेसन द्वारा देख लिया जाता है। उसके नगे जन विरोधी रूप को पहचान कर वह व्यवस्था के लिये खतरनाक हो उठता है। उसके व्यक्तित्व की सुख और सुरक्षा चाहने वाली ग्रन्थियॉ संवेदनशील हो उठती है और वह भागता है। इस प्रकार के पलायन, भय या सशय के कारण मुक्तिबोध को सगत मार्क्सवादी मानने मे रामविलास जी को कठिनाई हुई है। किन्तु वर्ग विभाजित समाज के भीतरी–बाहरी तनावो से निरपेक्ष जीवन की स्वीकृति मुक्तिबोध के लिये कठिन है। अपने काव्य नायक के सघर्ष को वे उसके परिप्रेक्ष्य की जटिलताओ से काटकर नही देख सकते और न ही उसकी निजी ग्रन्थियो की अनदेखी कर सकते है।

कविता के चौथे बन्द मे वास्तविक जीवन के घिरावो और तनावो के ज्यादा स्पष्ट उल्लेख है। स्वाधीन भारत की विषमतापूर्ण आर्थिक–राजनीतिक प्रक्रियाये अपनी समस्त निष्फलताओ के साथ सामने आती है। सत्ता के जनविरोधी फासिस्ट चरित्र को लोकतत्र के ऊपरी दिखावे की भी जरूरत नही है। चारो तरफ दमन और आतक जैसे–जैसे पूँजीवादी जनतत्र की खूँखारी बढती है, मुक्तिबोध के लिये क्रान्तिकारी चेतना के स्रोत सगठन और शक्तियो का स्वरूप स्पष्ट होता जाता है। इसी रूप मे मुक्तिबोध ने यहॉ 'बरगद' का प्रतीक लिया है। यह उनका प्रिय प्रतीक है जो क्रानितकारी चेतना का ज्यादा परिपक्व और सम्भावनापूर्ण आशय देता है। यह वृक्ष मनुष्य की गहरी आस्था और विश्वास का प्रतीक भी है। इतिहास की सकारात्मकता और परम्परा का जीवित भी इसमे व्यजित है। यही मुक्तिबोध के काव्य नायक को एक 'सिरफिरा जन' मिलता है। यह अनायास नही है कि दुनियॉ का महान क्लासिक रचने वाले साहित्यकारो ने भयानक युगीन सकट के विरुद्ध सत्य का निर्भीक पक्ष ले सकने वाले चरित्र के रूप मे 'पागल' का सृजन किया है। सामान्य मनुष्य मे सत्य की त्वरा के प्रतिकूल पडने वाले तमाम दबाव होते है। मुक्तिबोध का सिरफिरा भी पूरी निर्ममता के साथ मध्यवर्ग की परिजीविता दम्भ और स्वर्थ पर चोट करता है–'अब तक क्या किया?/जीवन क्या जिया!!'[13] ऋषि अजीगर्त के समान छोटी गलती का समान बडा दण्ड पाने वाले मध्यवर्ग की विडम्बना यहॉ और गहराती है। भीतरी बाहरी दुनियॉ का द्वन्द्व तीखा हो रहा है। 'प्रज्जवलित धी' सुसगत और विकसित हो रही है। उसमे जीवन के अन्तर्विरोधो व विभिन्न द्वन्द्वात्मक परिसिथतियो के बीच सतुलन रखने का विवेक बना हुआ है। मनुष्य की मुक्ति सघर्ष के प्रश्न का खिचाव आत्यन्तिक हो उठता है। इसलिये जीवन की स्वाभाविक धारा से अलग जा पडे अनुभव वेदना और निष्कर्ष भी तेजोद्दीप्त हो उठते है। 'जूझना ही तो है'[14] के साहसिक फैसले की भूमिका यही है। इस फैसले के सम्मुख विरुद्ध और अक्रान्त स्थितियो से सघर्ष की अनिवार्यताए है। वहॉ– 'सावली हवाओ मे काल टहलता है।'[15] काल यानी

समय को मुक्तिबोध ने गतियो, मतियो, कोणो और प्रतिक्रयाओ की सक्रान्ता मे ही देखा है। 'बूढे पक्षी' यहॉ परम्परा के खतरनाक प्रतीक है, यानी शोषक–उत्पीडक शक्तियॉ/चारो तरफ आतक की चुश्ती और जीवन निरूपाय बिखरता हुआ। तिलक काव्य नायक की फैसले के लिए अग्निमय धार की तरह आते है। इस प्रकार मुक्ति बोध जडता या जनविरोध के कठिन पैतरो के प्रति हरदम सावधान है। इसके अतिरिक्त जीवन की अनवरत शक्तिमान होती हुई अग्रगामिता को वे उसके विश्वसनीय सघर्ष मे देखते है। उस मध्यवर्गीय क्रान्तिकारी का करुण हर्ष मुक्तिबोध के काव्य नायक के लिए सबक की तरह है जो 'जरूरत से बहुत–बहुत कम बागी' होने के कारण व्यवस्था की खूनी खेल का शिकार हो जाता है। उसे मुक्तिबोध ने, 'कार्यक्षमता से वचित असग अस्तित्व' के' के रूप मे पहचाना है। इस प्रकार मुक्ति के लिए सघटित सघर्ष की चुनौतियो के प्रति मुक्तिबोध के काव्य नायक की एकाग्रता बढती है। व्यवस्था के कपट का उतना ही सतर्क जवाब देने की क्षमता के साथ ही वह अपनी आत्मा को उसकी समस्त विद्रोह चेतना के साथ व्यवस्था के 'खूनी क्रास 'एक्जिामिनेशन' से साफ–साफ निकाल ले जाता है। इस प्रकार उसके आत्म सघर्ष को जन सघर्ष से गहरी एकरूपता के लिए जरूरी विस्तार प्राप्त होता है –

'गिरता हूँ चुपचाप पत्र के रूप मे
किसी एक जेब मे
वह जेब.
किसी एक फटे हुए मन की'।[16]

और निजता गहरी, भास्वर और अग्निमय हो उठती है। उसमे अपने समस्त जड और पतनशील से सघर्ष तीव्र हो उठता है। जीवन के विद्युत स्पर्शो का आवेग व्यक्तित्व मे निर्णायक होता जाता है। इसलिए क्रान्ति की और गम्भीर जिम्मेदारी भरी गुप्त तैयारियॉ उसके लिए अनजानी नही रह जाती और वह परिणत होता है। इस व्यक्तित्वातरण को मुक्तिबोध ने मनुष्य के मुक्तिरण का अनिवार्य मोर्चा माना है। 'क्रान्ति' को उन्होंने कही भी

आसान चीज की तरह नही लिया है। वे उसे 'विश्व घटना क्रम' के जोखिम भरे अनुभवो के संक्रान्त परिप्रेक्ष्य मे ही देख रहे है। सशस्त्र सघर्ष को वे लोक युद्ध का अन्तिम मोरचा मानते है तथा उससे पहले उन तैयारियो की अवश्यकता समझते है जिनके द्वारा जनता मूल्यो और प्रणालियो को विकृत करने वाले तत्वो के प्रति खबरदार होती है। मुक्तिबोध जनता मे जगत समीक्षा का ज्ञान और साहस अनिवार्य मानते है। उसकी तीव्र भावनात्मकता उन्हे आश्वस्त करती है। यह अवश्य है कि जनता के प्रति उनके प्यार और विश्वास मे एक आत्यान्तिक आवेश भी है जिसके कारण वहॉ उनकी दृष्टि की द्वन्द्वात्मकता प्रभावित होती है। सम्भवत ऐसा इसलिए है कि इस जनता को उन्होने जनान्दोलनो मे सक्रिय भागीदारी के जरिये नही समझा है। इस लिए उसके अन्तर्विरोधो पर उनकी दृष्टि नही गयी है। इसलिए 'अधेरे मे' कविता मे आये जनक्रान्ति के चित्र भावुक आशावादिता की अतिरजना से बच नही पाये है किन्तु यहॉ तर्क स्वप्न का है जिसमे चीजो का स्फीत या आत्यान्तिक हो जाना अविश्वसनीय नही लगता –

"राह के पत्थर–ढोके के अन्दर
पहाडो के झरने
तडपने लग गये।
मिट्टी के लोदे के भीतर
भक्ति की अग्नि का उद्रेक
भडकने लग गया।
धूल के कण मे
अनहद नाद का कम्पन्न
खतरनाक !!
मकानो के छत से
गाडर कूद पडे धम से।
घूम उठे खम्भे
भयानक वेग से चल पडे हवा मे

दादा का सोटा भी करता है दाव–पेच
नाचता है हवा मे
गगन मे नाच रही कक्का की लाठी।"[17]

वगैरह मे मुक्तिबोध भयानक सकटकाल की उस मूल्यवान प्रक्रिया को देख रहे है जिसमे प्रत्येक वस्तु अपनी सप्राणता, गति और सम्भावना मे खडी हो रही है। मुक्तिबोध वस्तुओ का 'प्रणाग्नि बम' मे बदलना लिख रहे है। चारो तरफ सचेत ज्वलत प्रकाश का गेरूआ मौसम है। सक्रिय आत्माए मजबूत सकल्प के साथ रण क्षेत्र मे कूद गयी है। सबके भीतर व्यक्तित्वान्तरण घट रहा है और खिल रहा है। 'अग्नि का शतदल कोष'। निस्सदेह यह स्वप्न है। मुक्तिबोध के मुक्तिकामी काव्य नायक की उम्मीद के चटख रगो मे सुगलता हुआ वह स्वप्न जो पूरी शक्ति से स्वप्न की निराकारकता से लड रहा है। किन्तु स्वप्न तो स्वप्न है इसलिए टूट जाता है मगर उसकी आत्मा मे वह चमकीली प्यास जगा जाता है जिसके इस स्वप्न के सच्चे आशयो की खोज उसका मुहिम बन जाती है। यही से उसके लिए वह प्रकाश पथ प्रशस्त होता है जिसमे जीवन और जगत का सच्चा अर्थ उद्घाटित है। 'प्रज्ज्वलित धी' का वही परम उत्कर्ष जो अपनी क्षमता से दु स्वप्नो के कुटिल दबाव से मुक्त हो रहा है। इस प्रकार कविता के इन प्रकाश क्षणो का अनुभव पाठको के लिए ऐसा ही है। जैसे उन्होने ने दुष्ट इच्छाओ से भरी किसी गहरी अधेरी गुफा को लडते–भिडते पार करते हुए उसका दूसरा आजाद और प्रसन्न किनारा खोज लिया है। मुक्तिबोध के यहॉ अधेरा जितना अमानवीय और त्रासद है उजाला उतना ही चमकीला और भव्य। यह ठीक–ठीक आजादी के रग का है।

मुक्तिबोध अनेक दीर्घ और बेचैन कविताओ के कवि है। कविता उनके लिए दुनिया को पुन· रचने वाली गम्भीर चीज है। ऐसा भी लगता है कि वे जिन्दगी भर वे एक ही कविता लिखते रहे है और अपने स्वप्नो के ही नही कविताओ के भी अधूरे पन से जूझते रहे है। 'अधेरे मे' भी वे अपने स्वप्न को एक सम्भावना से सही परिणति नही दे पाये –

वह जगत की गलियो मे घूमता है प्रतिपल
वह फटेहाल रूप
तडितरगीय वह गतिमयता
अत्यन्त उद्विग्न ज्ञान–तनाव वह
सकर्मक प्रेम की वह अतिशयता
वही फटेहाल रूप!!
परम अभिव्यक्ति
लगतार घूमती है जग मे

पता नही जाने कहॉ, जाने कहा
वह है।[18]

क्या यह सच नही है कि क्रान्ति के अवसरवादी नेतृत्वो के छल से पिछडती हुई, शान्ति, मैत्री, न्याय और उदारता के दोमुहेपन से आहत मुक्तिकामी विश्व जनता आज भी पूॅछ रही है – 'पता नही जाने कहॉ, जाने कहॉ / वह है।'[19] क्या यह सच नही है कि पूजीवादी विश्व के खतरो के सबसे ज्यादा सवेदनशील हिस्से की सबसे साफ समझ मुक्तिबोध को थी। ये हिस्से बेहद गूढ और जटिल है। इसी लिए मुक्ति बोध कविता के जटिल शिल्प के कवि है।

फैटेसी मुक्तिबोध की काव्य–कला का औजार भर नही अपितु उनकी पक्षधारता और भविष्य दृष्टि का आधार है। इसकी शक्ति से वे अपने कवि के साथ–साथ अपने चिन्तक का दायित्व भी पूरा करते है। प्रतिबद्धता को उन्होंने ने सर्जनात्मक चुनौती की तरह लिया है। प्रतीक बिम्ब, मिथक, फैटेसी या अन्य भाषिक उपकरण उनके 'आगामी के स्वप्नो' के लिए पूरी तडप के साथ सघर्ष करते है। इनके कारण मुक्तिबोध के लिए दुनिया के सारे भेद, उजले–सावले किस्से और वास्तिवकता तमाम रूप या फैलाव आसान हो जाते है। फैटेसी जीवित यथार्थ ये सचेत अन्तक्रिया के साथ ही सम्पन्न होती है। यह वस्तुगत यथार्थ सारी प्रस्तर सतहो को तोडती हुई

उसके मूल्यवान आशय मे प्रवेश करती है। इसलिए मुक्तिबोध के काव्य जगत में जीवन और जगत के तमाम अनुभव या प्रक्रियाए अपनी सारता मे प्रकट होती है। इस रूपान्तरण के नियम विलक्षण है। इसमे तमाम ठोस सदर्भ, मान्यताए, चरित्र या घटनाये आदि ऐसी सूक्ष्मता को प्राप्त करते है जिसमे फैलाव और गहराई का अद्‌भुत सयम बराबर बना हुआ है। इसलिए चीजो की वह एकाग्रता भी सुरक्षित है जो मुक्बिोध को अभीष्ट है। 'गाधी', 'तिलक', या 'टॉलस्टाय' मुक्तिबोध के लिए इतिहास प्रसिद्व व्यक्तित्व भर नही है अपितु सामाजिक यथार्थ की गतिमान ऐतिहासिक प्रक्रिया के अग है। उनकी परख तथा स्वीकृत के प्रति मुक्तिबोध की दृष्टि की द्वन्द्वात्मकता कायम है। 'गाधी' की जनसामान्य को प्रभावित करने वाली भव्यता के सकेत देने के साथ–साथ वे उनके अन्तर्विरोधो को भी लक्ष्य करते है। 'टॉलस्टाय' भी अपने गुणो समेत उपस्थित है। टॉलस्टाय मुक्तिबोध के लिए भी मनुष्य की गहरी पीडा के रचनाकार है। उत्पीडित मनुष्य के लिए एक समाधान टालस्टाय के पास भी था। किन्तु रूमानी और अवास्तविक। टॉलस्टाय क्रिस्चियेनिटी की अध्यात्मिकता से प्रभावित थे। उनकी करूणा मे मानवीय गहराई कम नही थी किन्तु उनके 'विजन' में अमूर्तन था। इसलिए मुक्तिबोध उन्हे दूर सितारो मे घूमता हुआ और वही से पृथ्वी को देखता हुआ लक्ष्य करते हैं। 'दूर चमकते सितारे' मुक्तिबोध के लिए हरदम क्रियागत परिणति की चुनौतियों से कटे हुये विचार और चिन्तन है – 'ढीली आखो से देखते है विश्व'/उदास तारे' जीवन की वास्तविक समस्याओ के समाधान न दे सकने वाले विचार ही 'उदास तारे' है। तिलक के 'मस्तक–कोष' फूट पडने मे रामविलास शर्मा ने मुक्तिबोध की अपनी अपराध भावना या मृत्यु भावना का तिलक जैसी क्रान्तिकारी पर आरोप माना है किन्तु तिलक यहॉ मुक्तिबोध के काव्य नायक की मुक्ति चेतना के लिए प्रेरणा का हार्दिक सस्पर्श है। वे उसकी निष्ठा और शक्ति मे घुल जाते है।

कविता की सरचना से जुडे हुए प्रश्नो को भी मुक्तिबोध ने अपने महान स्वप्न और सघर्ष की अपेक्षा के अनुरूप ही हल किया है। निस्संदेह

मुक्तिबोध प्राय दुरूह कविताओ के कवि है। अतिशय प्रतीकबद्धता, फैटेसी या असबद्ध विम्बो की श्रृखला आदि के कारण उनकी कविता का शिल्प कठिन हो गया है किन्तु आवश्यकता उनके चिन्तन और आकाक्षा से जुडने की है। उनकी कविताओ के लगभग दुर्भेद्य तिलिस्म की कुजी यही है।

मुक्तिबोध की काव्य–प्रतिभा का चरम उत्कर्ष

'अँधेरे मे' मुक्तिबोध की अतिम तथा चाद का मुह टेढा है' की आखिरी कविता है। यह मुक्तिबोध की सबसे लम्बी तथा सशक्त कविता है। आलोचको ने इस कविता को अलग–अलग ढग से पहचानने की कोशिश की है और यह आज भी जारी है। यह कविता देश के आधुनिक जन इतिहास–स्वतत्रता पूर्व और पश्चात का एक दहकता स्पाती दस्तावेज है। इसमे अजब और अद्‌भुत रूप से और जन का एकीकरण है। देश की धरती हवा, आकश, देश की सच्ची मुक्ति, आकाक्षी नस–नस इसमे फडक रही है

और भावनाओ के अनेक गुम्फित स्तर पर[20] इसे महान रचना का नाम दिया गया है और इसे एकदम आधुनिक भी कहा गया है।'' कवि शमशेर की चुनौती है कि ''आधुनिक युग की यह सबसे बढिया कविता है।'' श्रीकात वर्मा को खेद है कि इसे पहचानने मे हिन्दी कविता को पचास साल लग गये। अब इस मन को पहचाना गया जब देश अधेरे मे जा चुका है। इतिहास के प्रश्न कविता के प्रश्नो मे बदल गये है।[21] डॉ0 नामवर सिह कविता के अन्त से अपनी सहमति व्यक्त करते हुए इसे 'परम अभिव्यक्ति की खोज' के धरातल पर आकते हुए कहते है कि "अस्मिता की खोज इसका मूल कथ्य है जिसे नाटकीय रूप दिया गया है।"[22] मुक्तिबोध को प्रगतिशील परम्परा का जगरूक कवि मानते हुए रामविलास शर्मा कहते है, "मुक्तिबोध साहित्य और राजनीति प्रगतिशील परम्परा के अत्यत जागरूक रहने वाले कवि थे। हिदी के अलावा मे मराठी के सन्त वाङ्‌मय से भली–भॉति परिचित थे, आधुनिक बगला, मराठी और हिन्दी काव्य साहित्य के प्रेमी थे, उनकी अस्तित्वादी भावधारा इस परम्परा बोध से टकराती थी, यह टक्कर जिस कविता मे बहुत

ही तीव्र रूप से प्रकट हुई है, उसका नाम है 'अधेरे मे'।"[23] इस प्रकार कविता के वस्तु–शिल्प को समेट कर इसके वस्तु और शिल्प का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। इसके शिल्प विधान को नाटकीय कौशल कहा गया है जिसमे 'मै' दो व्यक्ति–चरित्रो मे बटा है – एक काव्य नायक है और दूसरा उसका प्रतिरूप। काव्य नायक को आत्म–निर्वासित कहना अधिक सगत होगा या आत्मग्रस्त ? ये दोनो अलग सवाल है। डॉ0 रामविलास शर्मा काव्य नायक को अपराध–भावना से घिरा हुआ पाते है जो आदम की अपराध भावना से भिन्न है। वह न पूरी तरह से जनता के साथ है और न ही शोषको के साथ है।[24] इसका उदाहरण देखिए

विचित्र अनुभव!!
जितना मै लोगो की पॉतो को पार कर
बढता हूँ आगे,
उतना ही पीछे रहता हूँ अकेला।[25]

उनका यह अकेलापन डॉ0 रामविलास शर्मा की दृष्टि से अस्तित्वादी, रहस्यवादी, चिन्तन का परिणाम है और नामवर सिह इसे 'आत्म–निर्वासन' और मार्क्सवादी चिन्तन की परिणति मानते है।

यह लम्बी कविता आठ भागों मे विभक्त है। कविता का आरम्भ एक तिलस्मी खोह के रहस्यमय दृश्य से होता है, जो अत्यन्त नाटकीय है

जिन्दगी के ..
कमरों मे अधेरे
लगाता है चक्कर
कोई एक लगतार [26]

लेकिन यह रहस्यमय व्यक्ति दिखायी नही देता, सिर्फ उसके चलने की आहट बार–बार सुनायी पडती है। वह कौन है ? अकस्मात भीत के फूले हुये पलस्तर गिरते है, चूने भरी रेत गिरती है और पपडिया इस प्रकार खिसकती है कि स्वयं कोई एक बडा चेहरा बन जाता है। नुकीली नाक, भव्य ललाट, दृढ हनु। वह कौन मनु है ? इस प्रश्न के साथ ही जैसे काव्य

नायक प्रकट होता है उसे याद आता है कि यह वही रहस्यमय व्यक्ति है जो कभी शहर के बाहर पहाडी के उस पार तालाब के सलिल के तम–स्याम शीशे मे कोहरीली श्वेत आकृति मे प्रकट हुआ था और फिर थोडी देर बाद लाल–लाल कुहरे मे से एक रक्तालोकस्नात पुरुष के रूप मे निकलता हुआ दिखायी देता है।

घुसती है लाल–लाल मसाल अजीब–सी,
अन्तराल–विवर के तम मे
लाल–लाल कुहरा,
कुहरे मे, सामने रक्तालोक–स्नात पुरुष एक
रहस्य साक्षात्!![27]

रात के के अधेरे मे बन्द दरवाजे की सॉकल खटखटाने वाला शायद यही है। कवि इसी रहस्यमय व्यक्ति की तलाश मे है, उसकी अभिव्यक्ति की पूर्णता मे कवि की पूर्णता है। तिलस्मी खोह की लाल मसाल के प्रकाश मे इसी का चित्र उभरता है

वह रहस्यमय व्यक्ति
अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति है,
पूर्ण अवस्था वह
निज–सम्भावनाओ, निहित प्रभावो, प्रतिभावो की
मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव,

हृदय मे रिस रहे लान का तनाव वह,
आत्मा की प्रतिमा'[28]

मुक्तिबोध के अनुसार वह मनु है, पूर्ण अभिव्यक्ति है। 'चाद का मुँह टेढा है' मे संग्रहीत कविता 'अंधेरे मे' जो नही किन्तु 'कल्पना' (नवम्बर 1964) मे प्रकाशित इसी कविता की कुछ पंक्तियो मे कवि ने इस व्यक्ति की और पहचान बतायी है ·

किन्तु वह फटे वस्त्र क्यो पहने है

उसका स्वर्ण–मुख मैला क्यो है
वक्ष पर इतना बडा घाव कैसे हो गया
उसने कारावास–दुख झेला क्यो
उसकी इतनी भयानक स्थिति है क्यो
रोटी उसे पहुँचाता है कौन
कौन पानी देता है।[29]

यह मनु कौन है ? मनु किस बात के प्रतीक है? इस मनु और कामायनी के मनु की बाह्य आकृति कुछ मिलती–जुलती है लेकिन मानसिक सवेदना के स्तर पर दोनो नितान्त भिन्न है। मनु देव सभ्यता के विनाश और मानव सभ्यता की सृष्टि के प्रतीक है। आगे वही, 'कुहरे मे रक्तालोक–स्नात पुरुष रहस्य साक्षात् तेजोमय प्रभावमय उसका ललाट गौरवर्ण, दीप्त दृग, सौम्यमुख' बन जाते है। डॉ0 रामविलास शर्मा कामायनी के मनु से मुक्तिबोध के मनु की तस्वीर कुछ मिलती जुलती मानते है। कामायनी के मनु को मुक्तिबोध की निगाह से देखे तो वह स्वय मुक्तिबोध से काफी मिलते–जुलते दिखायी देते है।[30] मनु वह सब कुछ जो मुक्तिबोध है और होना चाहते है। उनकी परम अभिव्यक्ति मे सकर्मक प्रेम की अतिशयता है। मनु मे भी सकर्मक साहस शीलता और गत्यात्मकता है। मनु हिमगिरि के उतुग शिखर पर बैठे है, 'अधेरे मे' कविता का रहस्यमय व्यक्ति मुक्तिबोध को तुग शिखर के कगार पर बिठा दिया है। इसी व्यक्ति के अनुरूप वह अपना निजत्व गढते है। कविता की आन्तरिक सगति इस बात में है कि उसकी शुरूआत जिस व्यक्ति के चित्रण से होती है, उसका अंत भी उसी उल्लेख से होता है।[31]

यह रक्तालोक–स्नात पुरुष जो तिलस्मी खोह मे गिरफ्तार है, अधेरी रात मे कमरे के अन्दर आने के लिए आतुर है, मनु है, मुक्तिबोध की पूर्ण अभिव्यक्ति है। वह ही साकल बजाने वाला है। इस समय सूनापन 'सिहरने' लगता है, अधेरे मे आवाजो के बुलबुले उभरने लगते है और सून्य के मुख

पर सलवटे पडने लगती है। द्वार की साकल रह–रह कर बज उठती है। आधी रात, इतने अधेरे मे कौन आया है मिलने ? यह वही व्यक्ति है

पहचानता हूँ बाहर जो खडा है
यह वही व्यक्ति है, जी हॉ ।
जो मुझे तिलस्मी खोह मे दिखा था।
अवसर–अनवसर
प्रकट होता ही रहता
मेरी सुविधाओ का न तनिक ख्याल कर
चाहे जहा, चाहे जिस समय उपस्थित,
चाहे जिस रूप मे
चाहे जिन प्रतीको मे प्रस्तुत,
इशारे से बताता है, समझाता रहता,
हृदय को देता है, बिजली के झटके।[32]

उसे देखकर काव्य नायक को अनायाश स्नेह उमड पडता है। सह सोचता है कि दरवाजा खोलकर बाहो मे कस लूं, हृदय मे रख लू लेकिन काव्य नायक उसे बाहो मे इस लिए नही कस पाता

परन्तु भयानक खड्डे के अधेरे मे आहत
और क्षत–विक्षत, पडा हुआ हूँ,
शक्ति ही नही कि उठ सकूँ जरा भी
(यह भी तो सही है कि
कमजोरियो से ही लगाव है मुझको)

कवि उससे कतराता है, डरता है, क्योकि

वह विठा देता है तुग शिखर के
खतरनाक, खुरदुदे कगार पर।[33]

कहता है, रस्सी के पुल से दूसरे कगार पर पहुँच जाओ। उसने कवि को भविष्य का नक्शा दिया। उसकी चमक वह नही सह सकता, उसे छोड भी नही सकता

नही, नही, उसको मै छोड नही सकूँगा
सहना पडे मुझे चाहे जो भले ही।[34]

यह कवि के अतर्द्वन्द्व और छटपटाहत का प्रतीक है। कवि अपनी आत्मा पीडा और मानसिक सघर्ष के साथ एक गहरा सकल्प लेता है। यह सकल्प मुक्तिबोध का सकल्प है।

भय और प्रीत का यह नाटकीय द्वन्द्व ही इस 'आत्म–निर्वासित मन का मुख्य आकर्षण है।"[35] दरवाजा खोलने की मन स्थिति अत्यन्त नाटकीय है। अन्तत दरवाजा खोलने का सकल्प करता है फिर जोर लगाकर दरवाजा खोलता है लेकिन देखता है 'बाहर कोई नही, कोई नही बाहर। रात का पक्षी कहता है .

वह चला गया है,
वह नही आयेगा, आयेगा ही नही
अब तेरे द्वार पर।
वह निकल गया है गाव से शहर मे।
उसको तू खोज अब
उसका तू खोज कर।[36]

काव्य नायक आत्मग्रस्तता के बावजूद उसे गाव से शहर तक खोजना चाहता है। उसका साक्षात्कार करना चाहता है। लेकिन वह नही मिलता। अब वह पाता है कि जो जग लगी दरवाजे भी साकल, उसने अभी खोली थी उसी में वह पडा है। बद है। कवि आत्म–निरीक्षण करता है ·

यह सिविल लाइन्स है। मै अपने कमरे मे
यहॉ पडा हुआ हूँ
ऑखे खुली हुई है,
पीटे गये बालक सा मार खाया चेहरा
उदास इकहरा
स्लेट–पट्टी पर खीची गयी तसवीर

भूत–जैसी आकृति –

क्या वह मै हूॅ ?[37]

मै हूॅ।

कवि मध्यरात्रि के अधेरे, सुनसान मे किसी जुलूस के बैण्ड की हल्की, रुक–रुक कर बजने वाली आवाज सुनता है

प्रोसेशन ?

निस्तब्ध नगर के मध्य–रात्रि अधेरे मे सुनसान

किसी दूर बैण्ड की दबी हुई क्रमागत तान–धुन,

मद तार उच्च–निम्न स्वर–स्वप्न,

उदास–उदास ध्वनि तरगे है गम्भीर,

दीर्घ लहरियॉ।।[38]

कवि रात मे जाग रहा है वह इस जादुई करिश्मे को देख रहा है

लेकिन मै जाग रहा, देख रहा

रोमाचकारी वह जादुई करामात।[39]

कवि यहॉ फैटेसी के माध्यम से वास्तव मे उजागर करना चाहता है। जुलूस विचित्र है। चमकदार बैण्डदल, अनके किस्म की आकृतियॉ है। उनके पीछे सगीनो का जगल, टैक–दल, मोर्टार, आर्टिलरी सैनिको के पथराये चेहरे है। इस जूलस मे कवि मे अपने परिचित चेहरो को पहचानता है

काले–काले घोडो पर खाकी मिलिट्री ड्रेस,

चेहरे का आधा भाग सिन्दूरी–गेरुआ

चेहरे का आधा भाग कोलतारी भैरव,

आबदार।।

कन्धे से कमर तक कारतूस बेल्ट है तिरछा।

कमर मे, चमडे के कवर मे पिस्तौल है,

रोष भरी एकाग्र दृष्टि मे धार है,

कर्नल, ब्रिगेडियर, जनरल, मार्शल

कई और सेनापति सेनाध्यक्ष

चेहरे व मेरे जाने–बुझे से लगते
उनके चित्र समाचार पत्रो मे छपे थे,
उनके लेख देखे थे,
यहा तक की कविताए पढी थी
भई वाह।
उनमे कई प्रकाण्ड आलोचक, विचारक,
जगमगाते कवि–गण
मत्री भी, उद्योगपति और विद्वान
यहा तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात
डोमाजी उस्ताद
बनता है बलवन।।
हाय, हाय ।।[40]

जूलूस मे प्रकाड आलोचक, विचारक, कवि, मत्री, फौजी अफ्सर भी है। जुलूस मे शहर का कुख्यात हत्यारा गुडा भी शामिल है। ये कौन लोग हे ? कवि को यह जुलूस अजीब–सा गलता है। कवि अत्यत भयभीत और डरा हुआ है। कवि को लगता है कि जुलूस के लोगो ने उसे पहचान लिया है, सगीने उसकी ओर मुड गई है शोर होता है, इसे गाली मार दो

'मारो गोली, दागो स्साले को एकदम
दुनिया की नजरो से हटकर
छिपे तरीके से
हम जा रहे थे कि आधी रात अँधेरे मे उसने
देख लिया हमको
व जान गया वह सब
मार डालो, उसको खत्म करो एकदम।[41]

जुलूस मे शामिल विभिनन प्रकार के लोगो, सैन्यशक्ति, पत्रकारों, साहित्यकारो और समाजविरोधी तत्वो का उपयोग जनक्रान्ति को दबाने के लिए किया जाता रहा है। आज भी यहीं हो रहा है, विभिन्न वर्ग के लोगो

का यह गठजोड शोषण युक्त सत्ता का पोषक एव पक्षधर है। यहा कवि अपराध भावना से ग्रस्त हो जाता है। वह देखलिये जाने के कारण त्रस्त तथा आतककित है पर अभी न यह वर्ग मत है न वह शोभा यात्रा ही वास्तविक बन पायी है। अभी तो यह सम्भावना केवल उस वर्ग के मन मे छा गयी है। उसका 'घना व डरावना अवचेतन ही जुलूस मे चलता है। उसके अन्त का चिन्ह यह है कि उसके सारे हरबा हथियार एक साथ तन गये है।[42] कवि पुन सारी स्थितियो पर पुनर्विचार करता है। भॉति–भॉति के लोग जो अॅधेरे मे एक साथ जूलूस मे शम्मिलत थे। दिन मे वही मृतात्माये कार्यालयो, केन्द्रो, घरो मे मिलकर साजिशे करती है

गहन मृतात्माये इसी नगर की
हर रात जुलूस मे चलती,
परन्तु, दिन मे
बैठती है मिलकर करती हुई षडयत्र
विभिन्न दफ्तरो–कार्यालयो, केन्द्रो मे,
घरो मे।[43]

कवि समाज के शोषक वर्ग के अत्याचार, क्रूरता और प्रतिदिन के षडयत्र जो वे दिन मे अलग–अलग स्थानो में रचते है उसे 'रात को जुलूस' के माध्यम से उजागर करता है। वह डर गया है क्योकि उसने उन लोगो को नगा देख लिया है। मिलने वाली सजा से वह अत्यन्त भयभीत और डरा हुआ है।

हाय–हाय! मैंने उन्हे देख लिया नगा,
इसकी मुझे और सजा मिलेगी।[44]

चार का घटा बजता है। कवि अपने कमरे मे लेटा हुआ है। आगन के नल में खखारने की तेज आवाज आती है लेकिन शरीर मे शक्ति नही है। दिल गल रहा है। वह सम्भावित घटना से सतर्क है। अकस्मात सेनाए सडको को घेर लेती है .

एकाएक मुझे भान होता है जग का,

अखबारी दुनिया का फैलाव

फँसाव, गिराव, तनाव है सब ओर,

पत्ते न खडके,

सेना ने घेर ली है सडके।[45]

सडके क्यो सेनाओ ने घेर ली है ? वे क्या चाहती है ? यह मार्शल ला किसके दमन के लिए लागू किया गया है ? जब कभी भी जनप्रात की परिस्थितिया अनुकूल होती है और आम जनता विद्रोह कर उठती है उसे कुचलने और नेस्नाबूद करने के लिए सत्ता बराबर 'मार्शल ला' का इस्तेमाल करती है और यह हर उस आदमी का पीछा कर रही है जो व्यवस्था के विरुद्ध जन क्राति या विद्रोह मे कही न कही शामिल है :

मार्शल ला है।

दम छोड रहे है भाग गलियो मे मेरे पैर,

सास लगी हुई है,

जमाने की जीभ निकल पडी है,

कोई मेरा पीछा कर रहा है लगातार।[46]

कवि पुन: भयंकर बरगद की छाव मे वापस पहुँचता है। यही बरगद सभी उपेक्षितो, वचितो, गरीबो का घर है। छत है। वही रहता है एक सिर–फिरा आदमी। वह सिर–फिरा पागल अचानक पागलपन से मुक्त होकर आत्मोद्बधमय गीत गाता है। वह सचेत हो जाता है। उसके स्वर करुण, रसाल हृदय के स्वर है। डॉ0 रामविलास शर्मा उसे मुक्ति बोध के विवेक का स्वर मानते है

दुखो के दागो को तमागो–सा पहना,

अपने ही ख्यालो मे दिन–राति रहना,

असगबुद्धि व अकेले मे सहना,

जिन्दगी निष्क्रिय बन गयी तलघर,

अब तक क्या किया ?

जीवन क्या जिया ?

बताओ तो किस–किस के लिए तुम दोड गये,
करुणा के दृश्यो से हाय! मुह मोड गये,
बन गये पत्थर,
बहुत–बहुत ज्यादा लिया,
दिया बहुत–बहुत कम,
मर गया देश, अरे जीवित रह गये तुम![47]

आत्मा भर्त्सना का ऐसा प्रखर स्वर निराला के अतिरिक्त किसी दूसरे कवि की रचनाओ मे नही सुनाई देता। उसकी प्रखरता उत्पन्न होती है। मुक्तिबोध के विवेक से। कवि पूरी ईमानदारी से यह सवाल स्वय पूछता है। वह बेचैन हो जाता है। सोचने लगता है, 'क्यो करू, किससे कहूँ, कहॉ जाऊँ, दिल्ली या उज्जैन ? 'यह बेचैनी कब की ही नही है, बल्कि कविता के ही नाटकीय सदर्भ मे आज के आदमी की बेचैनी है। उन्हे लगता है कि मेरा निष्क्रिय संज्ञा से शहर पर संकट आ गया है। किसी छायामूर्ति के सामने वह खडा हो जाता है। बहस होने लगती है और 'लगने लगे परस्पर तमाचे'। यह अपराध भावना धार्मिक आस्थाओ के कारण आदम ने ज्ञान का फल चख लिया, इस कारण उत्पन्न नही होती। यह अपराध भावना सामाजिक दायित्व–बोध और अपनी आत्मग्रस्तता के एहसास से उत्पन्न होती है।[48] यह अपराध भावना मुक्तिबोध की अपराध भावना नही है बल्कि पूरे बुद्धिजीवी वर्ग की है। इसी प्रकार की अपराध भावना 'ब्रम्हा राक्षस' में भी है। इसमे एक ओर 'ऐक्शन' है। दूसरी ओर बुद्धिजीवी का 'विवेक'। इस प्रकार दोनो मे परस्पर टकराहट चलती है। कवि कभी 'ऐक्शन' कभी 'विवेक' के साथ होता है। वह कभी आम आदमी, कभी बुद्धिजीवी की दृष्टि से सारी स्थितियो को देखता है। आकता है। यह आम आदमी (जनता) और बुद्धिजीवी, दोनो की टकराहट।

एकाएक कवि की चेतना उसे जागृत करती है। वह चौक उठता है। एकाएक सिर तक थरथरी दौड जाती है। वह क्या है ? किसकी चिट्ठी है? कौन–सा इशारा है ? ये सारे सवाल उसके सामने उठ खडे होते है। चूंकि

वह लोगो द्वार पहचान लिया गया है और उसने उन्हे नगा देख लिया है, देखलिये जाने के कारण उसकी तलाश होती है और वह भागता है

बदूक धाय–धाय

मकानो के ऊपर प्रकाश–सा छा रहा गेरुआ।[49]

त्रास की यह भावना वास्तविक समाज मे सघर्ष से–व्यवस्था के रक्षको और व्यवस्था को बदलने वालो के बीच सघर्ष से – उत्पन्न हुयी है।[50] गोली चलती है। उसकी आवाज सुनते ही वह भागता है। कई मोड घूमता है। बंदूक छूटने से मकानो के ऊपर गेरुआ प्रकाश छा रहा है।

भय और आतक की मनस्थित मे उसका दिमाग चक्कर खाने लगता है और वह चुपचाप सिर पकडकर सीढी पर बैठ जाता है। सम्भावित 'केयास' और आतक की स्थिति से कवि आतकित है और भयभीत है। मुक्तिबोध की अन्य कविताओ में भी इस प्रकार के आतक और दहशत के साथ–साथ विशेष वातावरण की विशेष मनस्थितियो का चित्रण मिलेगा। इन्हे 'चम्बल की घटी' तथा 'इस चौडे ऊचे टीले मे' भी देखा जा सकता है। मुक्तिबोध की कविताओ के बीच–बीच मे विशेष स्थितियो मे प्रतीको, बिम्बो के माध्यम से 'हारर' और 'टेरर' क्रियेट किया गया है। यह 'हारर' और 'ट्रेरर' राति के अधेरे मे वातावरण को भयावह और रहस्यमय बनाने के साथ–साथ मूर्त भी बनाता है। मुक्तिबोध ने अपनी कविताओ मे आर्केटाइपिल बिम्बो का प्रयोग किया है। ये आरकेटाइपल बिम्ब मानव के सामूहिक अचेतन मन मे पडे रहते है। यह एक प्रकार का आदम बिम्ब है। मानव के सामूहिक अवचेतन का आरकेटाइप अग है। यह मानव के मन मे विशेष रूप मे हमेशा तथा हर समय विद्यमान रहता है।[51] आरकेटाइपल बिम्ब कवि के सामूहिक अवचेतन से ही सम्बन्धित नही रहता बल्कि जब वह अपनी काव्य–प्रतिक्रिया से गुजरने लगता है आदिम बिम्ब स्वत आने लगते है। मुक्तिबोध ने 'अंधेरे मे' इसी प्रकार के आदिम बिम्बो का प्रयोग किया है।

कवि अपने समकालीन सामाजिक – राजनीतिक स्थितियो – विकासों का मूल्यांकन करता हुआ मानव की बौद्धिकता के विकास मे जाता

है। वह समूची मानव बौद्धिकता की विकास परम्परा समसामयिक सन्दर्भो मे आकता है। कवि मानव विकास की निधियॉ जो 'विस्तृत खोह के सावले तल मे' निहित है और तिमिर को भेद कर चमकने वाले पत्थर, मणिया और रेडियोऐक्टिव रत्न, इस पर झरता प्रबल प्रपात पाता है। वह देखता है

प्राकृत जल वह आवेग–भरा है,
द्युतिमान मणियो की अग्नियो पर से
फिसल–फिसल बहती लहरे, लहरे के तल से फूटती किरने
रत्नो की रगीन रूपो की आभा फूट निकलती।[52]

वास्तव मे ये रत्न और मणिया मानव विकास की मणिया है। मानव विकास की निधियो को वह अलग–अलग बिम्बो के माध्यम से तलाशता है। वह विस्मृत नेत्रो से उनका प्रकाश देखता है। फिर मणियो को हाथो मे लेकर 'विभोर आखो' से देखता है लेकिन वह पाता है कि वे असली नही है? कवि सामूहिक अवचेतन[53] से अपने चेतन मे लौट आता है

अनुभव वेदना, विवेक निष्कर्ष
मेरे ही अपने यहॉ पडे हुये है
विचारों की रक्तिम अग्नि की मणि वे
प्राण–जल–प्रपात मे घुलते है प्रतिपल।

कवि पाता है कि यह ज्ञान मानव के अनुभव, वेदना और विवेक का ज्ञान है। लेकिन इस ज्ञान से मनुष्य को क्या मिला ? उसने इसका उपयोग किया क्या ? कवि आन्तरिक यथार्थ से ब्रम्हा यथार्थ मे आता है और उसका मन आन्दोलित हो उठता है। इस प्रकार कवि के वाह्य और आन्तरिक विचारो की टकराहट तीव्र हो जाती है। कविता का सीन बदलता है। अब कवि वाह्य यथार्थ का साक्षात्कार करता है। कवि देखता है कि सुनसान सावला चौराहा फैला है, उसके बीच में घण्टाघर है। वह गेरुए रग का है और वीरान है जिसका 'बुजुर्ग गुम्बद' कत्थई है। इसी प्रकार के 'घण्टाघर' का चित्रण 'चाद का मुह टेढा है' मे भी है लेकिन समय यहा रुका हुआ है। इसमे कोई गति नहीं है। यह 'गगन मे चुपचाप अनाकार खडा है।' यही रात

की सावली हवाओ मे काल टहलता है। घण्टे की घडी के चार कोण या चार चेहरे है जो चार–चार मतो और दृष्टिकोणे का सकेत देते है। 'गुम्बद–विवर' मे बैठे हुये बूढे असम्भव पक्षी बहुत तेज नजरो से देखते है सब ओर।' ये भयानक इरादो का सकेत करते है।

इस तरह एक–एक सकेत वास्तव को उघाडने के लिए दिया गया है 'मै कभी अपने भीतर के वास्तव को, कभी अपने बाहर के वास्तव को उजागर करता चलता है।[54] कवि रात के अधेरे और अधेरे मे दिखने वाली वस्तुओ को चित्रित करने के लिए अनेक काव्य रुढियो प्रतीको तथा विम्बो का माध्यम चुनता है। हमेशा कवियो ने अपनी कविताओ मे प्रचलित समकालीन या परम्परागत काव्य रुढियो का सहारा लिया हैं। मुक्तिबोध काव्यरुढिया उनकी अपनी काव्यरुढिया है जिन्हे वे रात के 'अधेरे', 'सन्नाटे' को मूर्त करने के लिए प्रयुक्त करते हैं।

अब वह एक सून–सान चौराहे पर है। वह चौक के बीच मे एक 'बन्दूक जत्था' और टैको का रास्ता देखते ही भाग खडा होता है। इस कविता मे कई दृश्यो के बीच तिलक की मूर्ति दिखाई देती है। कवि जब मूर्ति के पास पहुँचता है तब मूर्ति हिलती है और उसके तन से अगार झरते है फिर देखता है कि मूर्ति की नाक से गर्म खून बह रहा है। अंगरहा खून के धब्बो से भर गया है, 'मानो अत्याधिक चिता के कारण मस्तिष्क कोष ही फूट पड़े सहसा'।

जैसी दशा मुक्तिबोध की होने वाली थी, उसकी कल्पना मानो वे तिलक की मूर्ति मे करते है।[55] 'इसे कवि की मृत्यु की घटना से जोडकर भविष्यज्ञता का एक हास्यकर चित्र खीचना बौद्धिक ही नहीं नैतिक विचलन का सकट उपस्थित करता है।[56] डॉ0 रामविलास शर्मा का कथन है कि कवि अपने अपराध भाव, उस महान राजनीतिज्ञ के प्रति अपनी श्रद्धा का इससे बडा प्रमाण और क्या दे सकता था कि मन की तहो के नीचे छिपी मृत्यु की गुप्त आशका वह प्रस्तर मूर्ति पर आरोपित कर देता है। हमे कितनी स्वतत्रता हासिल हुई ? कवि तिलक के आदर्शों, मान्यताओ को खडित होते

देखता है। उसे ऐतिहासिक समकालीनता का अहसास होता है न कि वह प्रस्तर मूर्ति मे मृत्यु की गुप्त अशका आरोपित करता है। कवि का यह कथन 'हाय—हाय पित. पित ओ। चिता मे इतने न उलझो। हम अभी जिन्दा। चिन्ता क्या।। वास्तव मे तिलक का पर्याय है 'स्वतत्रता'। कवि यहाँ पर तिलक को प्रतीक के रूप मे प्रयुक्त करता है। कवि सवाल करता है कि हमारा जन्मसिद्ध अधिकार हमे कहाँ तक प्राप्त हो सका? और ऐसे ही क्षण मे विवेक का रदा और 'बसूला' चलता है। छाती में ठक— ठक सिर मे घड—घड की आवाज सुनायी देती है।

विवेक का चलता तीखा सा रदा
चल रहा बसुला
छीले जा रहा मेरा यह निजत्व कोई।[57]

विवेक के रदे से निजत्व छीलकर मुक्तिबोध अपना नया व्यक्तित्व गढने का प्रयत्न करते है आंतकपूर्ण यथार्थ के सदर्भ मे कवि विवेक के माध्यम से 'आत्म' (सेल्फ) पहचान की कोशिश करता है। 'ब्रह्मराक्षस' मे वही मैल धोता है, देह घिसता है"फिर भी 'मैल' नही छूटती। यह बुद्धिजीवी को अपराध भावना है।

तिलक के बाद गॉधी दिखाई देते है।, सर्दी मे बोरा ओढे हुए। वे ठड से कॉप रहे है। पास आन पर बिजली का झटका लगता है और गॉधी जी कहते है।

भाग जा हट जा, हम है गुजर गये जमाने के चेहरे
आगे तू बढ जा।[58]

कवि परंपरा से जुडकर आगे बढना चाहता है। नयी कविता इस परपरा को आगे बढा रही है या उससे पीछे जा रही है?[59] उसे गॉधी जी की चेतावनी मिलती है, जिसकी भाषा पुरानी न परम्परा हो कर समकालीन है—

दुनिया न कचरे का ढेर कि जिस पर
दानो को चुगने चढा हुआ कोई कुबकुट
कोई भी मुरगा

यदि बॉग दे उटे जोरदार

बन जाये मसीहा।[60]

गॉधीजी कवि को 'आगे बढने' के लिये कहते है कि गाधी जी के बाद उनके समर्थक अनुकर्ता उनकी परपराये आदर्शो–मान्यताओ को आगे बढा पाने मे पूर्णतया विफल रहे। गॉधीजी कहते है। जनता के गुणो से ही सभव भावी का उद्‌भव सत्ता नही जनता ही पूरा कर सकती है। जनता सामाजिक राजनीतिक परिवर्तन की जो कल्पना की थी उसे जनता ही पूरा कर सकती है। जनता के द्वारा ही क्रान्ति सभव है। इसमे मौजूदा "सत्ता" (इस्टैबलिशमेन्ट) और सत्ताधारी गाधी के अनुयायियो पर तीखा एव गहरा व्यग है। गॉधीजी अपनी परम्परा को आगे बढाने के लिये कवि को अपनी विरासत के रूप मे शिशु सौपते है।

मेरे पास चुपचाप सोया हुआ था यह

सॅभालना इसको, सुरक्षित रखना।

यह महत्वपूर्ण बात है कि यह शिशु गॉधीजी के पास सोया पडा था। यह न जागता है, न चीखता है। गॉधी जी इसे सिर्फ सॅभालने और सुरक्षित रखने को कहते है।

शिशु कवि के पास आकर उसी छाती से कधे से गले से चुपचाप चिपक जाता है, एक नन्हे आकाश सा लेकिन कुछ ही कदम बाद वह रो उटता है। यह रुदन नया नही है। अनेक बार उसने यह स्वर सुना है। पुचकारने–दुलारने और लोरियो के छलावे मे वह नही आता। उसके स्वर मे एक शिकायत है, गहरी है शिकायत। क्रोध भयकर । मुझे डर यदि कोई वह स्वर सुन ले। हम दोनो फिर नही रह सकेगे । मैं पुचकारता हूँ, बहुत दुलारता, समझाने के लिये तब गाता हूँ गाने।"

..मै चुप करने की जितनी भी करता हूँ कोशिश।

और और चीखता है क्रोध से लगातार।

गरम–गरम अश्रु टपकते हैं मुझ पर।[61]

शिशु के चीखने और गुस्से से कवि विचलित या दुःखी नही होता :

किन्तु न जाने क्यो खुश बहुत हूँ।

जिसको न मै जीवन मे कर पाया, वह कर रहा है।[62]

पैर आगे बढाता है। वह अधेरी गलियो मे चलता जा रहा है भीतरी सोच मे डूबा,

हृदय के थाले मे रक्त का तालाब।

रक्त मे डूबी है द्युतिमणियॉ।

रुधिर से फूट रही लाल –लाल किरणे।

अनुभव मे डूबे है सकल्प और

ये सकल्प चलते है साथ–साथ।[63]

इस सकल्प का क्या अर्थ है? अनुभव और सकल्प दोनो साथ–साथ चलते है। वह सचेत है कि कही कोई उनका स्वर सुन न ले।

आज के युग मे मूलभूत जीवन तथ्यो के तर्कसगत तथा अनुभव सिद्ध निष्कर्षों और परिणामो की ओर न जा सकने के कारण , आज का कवि वर्तमान मानव समस्याओ के प्रति भी उदासीन है।[64] यह मुक्तिबोध का आत्मालोचन नही बल्कि पूरे बुद्धिजीवी वर्ग का आत्मलोचन है। कवि व्यवस्था के आतककारी शिकजे से बचना चाहता है क्योकि एक बार वह देख लिया गया है और बच निकला है। वह अपना अधूरा कार्य शिशु के माध्यम से करना चाहता है। इसीलिए वह सामाजिक दायित्व और सकल्प के लिये अत्याधिक सचेत और सर्तक है।

ॲधेरे मे कवि सहसा पाता है कि :

वह शिशु चला गया जाने कहॉ ,

और उसके ही स्थान पर

मात्र है सूरजमुखी फूल गुच्छे ।

उन स्वर्ण पुष्पो से प्रकाश विकिरण

कन्धो पर, सिर पर, गालो पर तन पर,

रास्ते पर, फैले है किरणो के कण–कण।[65]

इद्रनाथ मदान शिशु की जगह कधे की बन्दूक को नक्सलवादी चेतना का सकेत और आधुनिकता की चुनौती मानते है। डॉ0 रामविलास शर्मा को सामाजिक दायित्वबोध रहस्यवाद मे बदला नजर आता है। लेकिन शिशु गायब नही होता रूपातारित हो जाता है। यह कोई कल्पना नही, यह आने वाले कल की फैटेसी है, जो आज का सच है। यर्थाथ है।

वह एक गली मे पहुॅचता है और एक दरवाजा खुला हुआ देखता है जिसकी अधेरी सीढियॉ है।फूल का गुच्छा गायब हो जाता है फिर कधा दुखने लगता है

कन्धे क्यो वजन से दुख रहे सहसा।
ओ हो,
बन्दूक आ गयी।
वाह वा ।।
वजनदार रायफल
भई खूब।।[66]

परिवर्तन या क्राति अहिसा से सभव नही है इसलिये अहिंसा के स्थान पर बन्दूक को ही वह कारगर हथियार मानता है क्योकि वह जानता है कि गॉधी की विरासत मे जो सत्ता मिली वह भी अहिसक तरीके से नही। मुक्तिबोध की दृष्टि साफ है। फासिस्ट व्यवस्था को हटाने या उसका ध्वस करने के लिये रायफल ही एकमात्र हथियार हो सकता है।

खुले कमरे मे मिलता है खून से लथपथ मृत कलाकार–
खून–भरे बालो से उलझा है चेहरा,
भौहो के बीच मे गोली का सुराख,
खून का परदा गालो पर फैला,
होटो पर सूखी है कत्थई धारा,
फूटा है चश्मा नाक है सीधी,
ओफ्को।। एकान्त–प्रिय यह मेरा
परिचित व्यक्ति है, वही हॉ,

सच्चाई का सिर्फ एक अहसास

वह कलाकार था

गलियो के अधेरे का, हृदय मे, भार था

पर, कार्यक्षमता से वचित व्यक्ति,

चलाता था अपना असग आस्तित्व ।

. .. .

स्वप्न व सान व जीवनानुभव जो

हलचल करता था रह–रह दिल मे

किसी को भी दे नही पाया था वह तो

शुन्य के जल मे डूब गया नीरव

हो नही पाया उपयोग उसका

किन्तु अचानक झोक मे आकर क्या कर गुजरा कि

सदेहास्पद समझा गया और

मारा गया बधिको के हाथो

मुक्ति का इच्छुक तृषार्त अतर

मुक्ति के यत्नो के साथ निरतर

सबका था प्यारा।

अपने मे द्युतिमान्।

उसका यो बध हुआ,

मर गया एक युग,

मर गया एक जीवनादर्श।।[67]

कलाकार मारा जाता है। कुछ कर गुजरने के सदेह के कारण उसकी हत्या की जाती है। अपना स्वप्न, ज्ञान और जीवन के अनुभव दूसरो को देने के ही पूर्व वह मारा गया। अब जीवन–आदर्श मुक्ति की कामना तथा एकान्त साधना कुछ संभव नही। कभी कलाकार बुद्धिजीवियो का जीवनादर्श था लेकिन अब वह नही रहा। उसका कोई उपयोग नही हो सका। नामवर सिंह मृत कलाकार के चित्र को सभवतः सबसे मार्मिक मानते है। यह भागने का

समय नही है, न स्वय को कोसने का इसलिये (फिजूल है इस वक्त कोसना खुद को) आततायी फासिस्ट सत्ता का प्रतिरोध करने के लिये दोस्तो (कामरेडो) की खोज और नये नये साथियो का साथ जरूरी है –

एकदम जरुरी दोस्तो को खोजूँ
पाऊँ मै नये नये सहचर
सत्–चित् भास्कर।।[68]

लेकिन जीने से उतरते ही कवि सहसा विद्रूपो से घिर जाता है

भयानक आकार घेरते है मुझको,
मै आततायी सत्ता के सम्मुख।

किसी भी सत्ता था भ्रष्ट व्यवस्था का मुकाबला अकेले नही किया जा सकता। उसके लिये प्रतिबद्ध सगठित समूह (कैडर) आवश्यक है। वह दोस्तो और नये साथियो को जुटा भी नही पाया था कि अचानक समझ कर उसे पीडित करते है। उसकी स्क्रिनिग करते है–

टूटे से स्टूल मे बिठाया गया हूँ।
शीश की हड्डी जा रही तोडी।
लोहे की कील पर बडे हथौडे
पर रहे लगातार ।
शीश का मोटा कवच भी निकाल डाला।[69]

दमन कारी सिर की हड्डी तोडते है ढूँढते है। मस्तक यत्र मे कौन विचारो की कौन–कौन सी कहां प्रेस है ? ऊर्जा, कहॉ से पर्चे छपते है? इस सस्था के सेक्रेट्री को खोज निकालो, "शायद उसका ही नाम हो आस्था।' कहॉ से सरगना इस टुकडी का उसकी स्क्रीनिग थारोली की जाती है। आपातकालीन सक्रमण की स्थिति में सत्ता समाज पर सेंसर लागू करती है। यह सेंसर यहॉ भी प्रेस संस्था के सेक्रेट्री तथा बुद्धिजीवी पर लागू है। बुद्धिजीवी अपने को सेंसर की यातना से मुक्त करने की कोशिश करता है। वह मुक्ति की राह निकाल लेता है। सत्ता के पोषकों के पास होने के और

'खूँटे' मे बधे होने के बावजूद 'पत्र के रूप' मे वह अपनी बात दूसरो तक पहुँचाता है।

कवि छोड दिया जाता है। क्रातिकारी सघर्ष की तैयारी होती है। इतने मे दूर आकाश मे 'बिजली की नगी लताओ' से झरते सफेद, नीले, मोतिया चम्पई गुलाबी फूल दिखाई देते है

मै उन्हे देखने लगता हूँ एकटक ,
अचानक विचित्र स्फूर्ति से मै भी
जमीन पर पडे हुए चमकीले पत्थर
लगातार चुनकर
बिजली के फूल बनाने की कोशिश
करता हूँ।[70]

कला परम्परागत आदर्श सौदर्य है। बिजली का फूल सौर्दय का प्रतीक है। कलागत सदर्भ बदल जाने पर बिजली का फूल, जो सौर्दय का माध्यम है, क्राति का वाहक (बिजली का फूल बन जाता है।इस प्रकार एक विशेषण अन्य सदर्भ मे अलग अर्थ देता है। एक ही विशेषण के अर्थ अलग–अलग सर्दर्भो स्वत. बदल जाते है। अर्थों की यह भिन्नता प्रसाद और मुक्तिबोध की कविताओं मे देखी जा सकती है। इस सदर्भ मे छायावादी कवियों मे प्रसाद को देखा जा सकता है। कामायनी के श्रद्धा सर्ग मे बिजली का फुल श्रद्धा के वाह्य सान्र्दय का और ॲधेरे मे, क्रान्ति को चित्रित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। इन्हे देखा जा सकता

नील परिधान बीच सुकुमार
खुला रहा मृदुल अधखुला अग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ–बन बीच गुलाबी रग।[71]

प्रसाद श्रद्धा के अधखुले अगो में बिजली का फूल देखते है और मुक्तिबोध तिलक की सुलगती ऑखो मे। मुक्तिबोध उससे आग पैदा करना

चाहते है, क्राति की आग। प्रसाद और मुक्तिबोध का यह अतर सदर्भो तथा दृष्टियो का अतर है।

कवि का काम रगीन पत्थर–फूलो से नही चलता। सारी यत्रणा, यातना के सभावित खतरे उठाकर सौदर्यवादी मूल्यो को तोडना होगा। सौदर्यवादी दायरे से निकलना होगा। उसे अभिव्यक्ति का सकट नजर आता है

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होगे,
तोडने होगे ही मठ और गढ सब।[72]

मुक्तिबोध ने अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाए और उनकी कविता समकालीन भारतीय मनुष्य की पीडा की 'खडित रामायण' है।[73]

आगे उन बॉहों का सकेत है जिनमे एक 'अरुण कमल' हर पल कॉपता रहता है। उसे ले आने के लिए घॅसना होगा 'झील के हिम–शीत सुनीत जल मे'। कवि उस तक पहुॅचने के लिए 'दुर्गम पहाडो' और झील के जल मे 'धॅसने' का जोखम उठाने को तैयार है। कमल क्राति का प्रतीक है अत कवि अपने लक्ष्य तक पहुॅचने के लिए किसी भी प्रकार का खतरा (रिस्क) उठाने के लिए तैयार है। लेकिन विचित्र अनुभव है, वह जनता के साथ आगे बढना चाहता है

विचित्र अनुभव!!
जितना मै लोगो की पॉतो को पार कर
बढता हूॅ आगे,
उतना ही पीछे मै रहता हूॅ अकेला।[74]

डॉ0 रामविलास शर्मा मानते है कि "निम्न मध्यवर्ग के औसत बुद्धिजीवी की यही स्थिति है।" यह स्थिति सिर्फ निम्न मध्यवर्ग के बुद्धिजीवी की ही नही बल्कि पूरे बुद्धिजीवी वर्ग की है। जनता उसके विचार 'विक्षोभ–मणियो, विवेक–रत्नो' को लेकर अॅधेरे में बढती है। जनता उसके

विचार को कार्यरूप (ऐक्शन) मे लाती है लेकिन उसके साथ बुद्धिजीवी आगे नही बढ पाता

कितु मै अकेला
बौद्धिक के जुगाली मे अपने दुकेला[75]

पूँजीवादी व्यवस्था जनता को अधिक दिन तक गुमराह नही कर सकती

कविता मे कहने की आदत नही, पर कह दूँ
वर्तमान समाज मे चल नही सकता।
पूँजी से जुडा हुआ हृदय बदल नही सकता,
स्वातत्रय व्यक्ति का वादी
छल नही सकता मुक्ति के मन को,
जन को।[76]

गॉधी जी के 'हृदय–परिवर्तन के सिद्धात के प्रति जनता का मोह भग टूटता है क्योकि उससे पूँजी से जुडे हुए हृदय को बदल पाना सभव नही। पूँजीवादी व्यवस्था जनता को और नही छल सकती। जनता मे जागृति (अवेयरनेस) आ रहा है। वह जानती है कि 'सशोधनवादी' तरीके से पूजी से जुडे हुए हृदय को बदला नही जा सकता। गॉधी जी के 'हृदय परिवर्तन' मे अब जनता का विश्वास नही रहा अत वह मौजूदा व्यवस्था से मुक्त होना चाहती है। उसे बदलना चाहती है। इसी मुक्ति के लिए वह जनक्राति का आह्वान करता है। वह देखता है 'नगर से भयानक धुआ उठ रहा है, कही आग लग गयी, कही गोली चल गयी है।' इसका बार–बार दोहराया जाना अलग–अलग स्थितियो के चित्रण मे है। इसलिए यह सरचना का अभिन्न अग है।[77] नगर का वातावरण भयावह हो उठा है। 'कही आग नग गयी, कही गोली चल गयी' अलग–अलग विभिन्न सदर्भों मे प्रयुक्त हुआ है। वह हर बार अर्थ के दूसरे आयामो को खोलता जाता है। इससे कविता में एक सुसबद्धता (युनिफार्मिटी) और रिद्म है। कविता की यह 'सुसंबद्धता' और

'ध्वनि' नगर के वातावरण के आतंक – 'केयास' को और प्रभावधील ढग से प्रस्तुत करती है।

सडकों पर मरा हुआ सुनसान फैला है। हवाओ मे अदृश्य गर्मी है। यह गर्मी ज्वालामुखी की है। ज्वालामुखी की गर्मी मे वह उग्र क्राति के जनसंगठन की कार्यवाही देखता है

साथ–साथ घूमते है, साथ–साथ रहते है
साथ–साथ सोते है, खाते है जीते है
जन–मन उद्देश्य।।[78]

क्रातिकारी एक ही साथ घूमते, रहते, सोते और खाते है। जीते है। उनका और जनता का एक ही उद्देश्य है। वह अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सतत सघर्षरत है लेकिन सब चुप है

सब चुप, साहित्यिक चुप और कविमन निर्वाक्
चितक, शिल्पकार, नर्तक चुप है
उनके ख्याल से यह सब गप है
मात्र किवदन्ती।[79]

डॉ० बच्चन सिह इसे बुद्धिजीवी की संवेदना का क्षोभ मानते है। इसलिए वे लिखते है, "इस योग से ही तो वह अपना एस्थेटिक बनाता है। उसके एस्थेटिक की जटिलता मे एक बुद्धिजीवी की संवेदना का क्षोभ है।"[80]

ये सभी बुद्धिजीवी सामान्य जन पर होने वाले अत्याचार और यंत्रणाओ पर विश्वास नही करते, न उनके सकट को समझते है। वे सारी घटना को 'गप' मानकर अलग–अलग हैं। चुप है। यह चुप्पी किस बात का सकेत देती है? ऐसे तथाकथित् बुद्धिजीवियों पर तीखा व्यग्य करते कवि उन्हे 'एक्सपोज' करता है

रक्तपाई वर्ग से नाभिनाल–बद्ध ये सब लोग
नपुसक भोग–शिरा जालो में उलझे।[81]

ये बुद्धिजीवी नपुसक है। 'भोग–शिरा जालो मे' उलझने वाले 'रक्तपाई' वर्ग के लोग है। सभवत ये सत्ता के दलाल बुद्धिजीवी है। इसीलिये ये चुप है।

एक छद्म आभिजात्य, मध्यवर्गीय सुरक्षा भाव और साहस के अभाव के मिले–जुले दबावो के रहते नयी कविता मे किसी और कवि ने समकालीनता को उसकी भयानक गहराई और पूरे विस्तार मे देखने की ऐसी मार्मिक और सच्ची कोशिश नही की जैसी मुक्तिबोध ने।[82]

बौद्धिक वर्ग की स्थिति और उसकी नियति कवि जानता है

बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास,
किराये के विचारो का उद्भास
बडे–बडे चेहरो पर स्याहियॉ पुत गयी।[83]

समाचारपत्रो पर सेसर है। सवाद, समीक्षा, सब पर सेसर, क्योकि मार्शल लॉ है। क्राइसिस की इस स्थिति मे बुद्धिजीवी भी 'सेसर्ड' हो गया है या बिक गया है। वस्तुत बुद्धिजीवी की आज भी यही स्थिति है। आज का बुद्धिजीवी सत्ता का 'क्रीतदास' है क्योकि वह उसी के द्वारा स्थापित और प्रतीष्ठित है इसीलिए उसकी अपनी कोई 'विचारधारा' या 'चितन' नही है। बुद्धिजीवी की यही सबसे बडी ट्रेजिडी है।

शहर मे अब लाठी और सलेट–पट्टी से हथियारबद दमनकारियो का मुकाबला नही किया जा सकता। इस तरह क्राति की विजय हो नही सकती। मुक्तिबोध उसे दमन और आतक से पराजित होते भी नही देखते। युवको के व्यक्तित्वातर से क्राति का स्वप्न खत्म हो जाता है।[84] डॉ० रामविलास शर्मा लाठी और सलेट–पट्टी से हथियारबद दमनकारियो से मुकाबले की बात उठाते हैं। यह सही है लेकिन कविता की पूरी प्रकृति को समझना चाहिए। कविता की पूरी (टोटल पोएटिकप्रासेस) को समझे बगैर कवि की बात नही समझी जा सकती। ये लाठी और सलेट–पट्टियॉ अस्त्र नही बल्कि सत्ता के प्रतिकार की प्रतीक है जिन्हें कवि स्वप्न मे देखता है। युवकों के व्यक्तित्वांतर से क्रांति का स्वप्न खत्म नही होता बल्कि दृढ हो

जाता है क्योकि ये युवक नये जमाने के युवक है। कवि क्राति के अनेक मोहक दृश्य देखता है

मकानो के छत से

गाडर कूद पडे धम से

घूम उठे खभे

भयानक वेग से चल पडे हवा मे।[85]

दादा का सोटा और कक्का की लाठी भी गगन मे दिखाई देती है।

दादा का सोटा भी करता है दॉव–पेच

नाचता है हवा मे

गगन मे नाच रही कक्का की लाठी

यहॉ तक कि बच्चे की पेदे भी उठती,

तेजी से लहराती घूमती हवा मे

सलेट–पट्टी।[2]

इसके अतिरिक्त एक–एक वस्तु एक–एक प्राणाग्नि बम है या बम के बराबर है। कवि इन्हे परमास्त्र प्रक्षेपणास्त्र मानता है ये सारी स्थितियॉ, इसकी प्रतीक हैं कि जो जहॉ और जिस स्थिति में है, क्राति के लिए सक्रिय हो गये है-

यह कथा हनी है, यह सब सच है, भाई।।

कही आग लग गयी, कही गोली चल गयी।![86]

अब युग के बदलाव के साथ–साथ लोग भी बदले है। इसीलिए 'आत्मा के चक्के पर चढाया जा रहा है सकल्प–शक्ति के लोहे का मजबूत ज्वलंत टायर ।।' ताकि लोगो को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नये सकल्प के साथ तैयार किया जा सके।

युग के बदलाव के पीछे ऐतिहासिक विकास का एक लम्बा सिलसिला है। लोग युगो से शोषण और यातना से जूझते–पिसते आए है लेकिन आज स्थिति भिन्न है। 'जगल जल रहे जिन्दगी के अब', जिसे रोका नही जा सकता, दबाया जा सकता है।

वेदना नदियॉ

जिनमे कि डूबे है युगानुयुग से

मानो कि ऑसू

पिताओ की चिता का उद्विग्न रग भी

विवेक–पीडा की गहराई बेचैन

डूबा है जिसमे श्रमिक का सताप

वह जल पीकर

मेरे युवको मे होता जाता व्यक्तित्वातर

विभिन्न क्षेत्रो मे कई तरह से करते है सगर,

मानो कि ज्वाला–पखुरियो से घिरे हुए वे सब

अग्नि के शत–दल कोष मे बैठे ।।[87]

कवि परपरागत ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के संदर्भ मे आज की बदली हुई स्थिति को उजागर करता है। पुराने युग और परपरा के साथ पुरानी पीढी युगो तक शासकीय शोषण, यातना और यातना की पीडा झेलती रही लेकिन आज का नौजवान परपरागत शासकीय बर्बरता, अमानुषिक क्रूरता और शोषण के खात्मे तथा नये समाज की ईजाद के लिए कटिबद्ध है। वह परिवर्तन एव क्राति का वाहक है।

स्वप्न टूटने के बाद कवि फिर अपने को अकेला पाता है। स्वप्न के सहारे कवि मे आशा जगती है। वह उसका अर्थ ढूढने की कोशिश करता है। सारे ससार मे वही सपने देखता है। उसे 'सुनहली तस्वीरें' दिखाई देती हैं। मानो स्वप्न में किसी की खूबसूरत बॉहो ने कस लिया हो

उस स्वप्न–स्पर्श की, चुम्बन की याद आ रही है,

याद आ रही है ।।

अज्ञात प्रणयिनी कौन थी, कौन थी ?[88]

कवि एक युवक के दिवा–स्वप्न की भॉति स्वप्न मे अज्ञात प्रणयिनी की कल्पना करता है। वास्तव मे जिस प्रकार एक किशोर प्रेम के पूर्व स्वप्न

मे किसी प्रेमिका की जैसी कल्पना करता है कवि क्राति के बारे मे वैसी ही कल्पना करता है।

यह केवल काव्य–शैली का चमत्कार नही, बल्कि कथ्य की गहरी अर्थवत्ता का सूचक है। अस्मिता को खोज–सम्बन्धी ज्यादातर कविताओ मे या तो केवल एक प्रकार की हताशा की खोज मिलती है या फिर उपलब्धि की बलता् आत्मतुष्टि। आकस्मिक नही है कि दोनो ही प्रकार की कविताए प्राय प्रगीतधर्मी होती है। प्रगीत शैली के अनुरूप ही उनके कथ्य मे भी अस्मिता की खोज का अतिसरलीकृत सपाट रूप मिलता है। मुक्तिबोध ने इस सपाटता से बचकर एक तीखे तनाव को सफलता के साथ कपित किया है जिसका मुख्य आधार 'अँधेरे मे' कविता की कौशलपूर्ण घटना–विन्यास है।[89] स्वप्न के बाद उसे सब कुछ यथार्थ लगने लगता है। तीसरी बार वह पुन गैलरी मे खडा होता है और उस रहस्यमय पुरुष को देखता है

> गलियो मे, सडको पर, लोगो की भीड मे
> चला जा रहा है
> वही जन जिसे मैने देखा था गुहा मे
> धडता है दिल
> कि पुकारने को खुलता है मुँह
> कि अकस्मात–
> वह दिखा, वह दिखा
> वह फिर खो गया किसी जन–यूथ मे।[90]

उसे पुकारने के लिए उठी हुई बॉह उठी रह गई, इसी बीच वह किसी जन–यूथ मे ओझल हो जाता है। खोज और उपलब्ध के बीच की दुविधा या 'सस्पेस' ही 'अधेरे मे' कविता को अद्भुत नाटकीयता प्रदान करती है और मुक्तिबोध उसे ढूढता है। वह पूरी तरह अभिव्यक्त नही हुआ है, कवि अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति की तलाश करता है। वह व्यक्तिपूर्णता का आदर्श रूप है। वह कवि का गुरु है लेकिन वह कवि के पास कभी आया नही, कभी पास बैठता नहीं, उसे तिलस्मी खोह मे पहली और आखिरी बार देखा था,

पर वह जगत की गलियो मे घूमता है प्रतिपल—फटेहाल रूप। उसके बारे मे समाज मे लोग न सोचते है न उसकी तलाश करते है, कवि इस स्थिति को जानता है अत. वह तलाशता है

इसीलिए मै हर गली मे
और हर सडक पर
झॉक—झॉक कर देखता हूँ हर एक चेहरा
प्रत्येक गतिविधि,
प्रत्येक चरित्र
व हर एक आत्मा का इतिहास,
हर एक देश व राजनीतिक परिस्थिति
प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श
विवेक प्रक्रिया, क्रियागत परिणत।।
खोजता हूँ पठार समुन्दर
जहॉ मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म सभावना।[91]

कवि की तलाश पूर्णता की तलाश है। यह पूर्णता क्राति की परिपक्व स्थिति है। इस पूर्णता से वह ज्ञान को क्रिया के रूप मे बदलना चाहता है। जब तक ज्ञान (आइडिया) क्रिया (ऐक्शन) में रूपातरित नही होगा, पूर्णता सभव नही है। कवि की तलाश कलाकार की तलाश नही है। वह समाज की भी तलाश है। इसीलिए कवि सोसायटी और अपनी 'आइडेटिटी' को एक कर देता है। उसकी अपनी अलग कोई आइडेटिटी नही है (वह अलग करना भी नही चाहता), जो आइडेंटिटी सोसायटी की है, वही उसकी है। 'अँधेरे मे' कविता की अतिम पक्तियॉ उस अस्मिता या 'आइडेटिटी' की खोज की ओर संकेत करती हैं जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलत समस्या है। निःसंदेह इस कविता का मूल कथ्य है। अस्मिता

की खोज, किंतु कुछ अन्य कवियो की तरह इस खोज मे किसी प्रकार की आध्यात्मिकता या रहस्यवाद नही, बल्कि गली–सडक की गतिविध, राजनीतिक परिस्थिति और अनेक मानव चरित्रो की आत्मा के इतिहास का वास्तविक परिवेश है।[92]

अस्मिता की तलाश वह गली–सडक तक ही नही करता बल्कि हर देश और हर राजनीतिक परिस्थिति जिसमे भी सभव हो, इसके अतिरिक्त वह पठार, पहाड, समुदर हर जगह तलाशता है। वास्तव मे जहॉ कवि और समाज दोनो की खोज बिन्दु पर मिलती है, वही अस्मिता और अस्मिता की खोज की पूर्णता है।

'ॲधेरे मे' कविता पर अपनी प्रतिक्रिया करते हुए डॉ0 बच्चन सिह ने लिखा है, "मुक्तिबोध ने 'ॲधेरे मे' चाहे जिस उद्देश्य से लिखी हो लेकिन उसे लेकर आलोचक 'ॲधेरे मे' ही रहे है। रामविलास शर्मा इसमे 'अपराध–भावना' देखते है और नामवर सिह 'आत्म–निर्वासन' जो मार्क्सीय विवेचना मे भी गृहीत है और अस्तित्ववादी विवेचना मे भी, पर 'आत्म–निर्वासन'ऐसी स्थिति है जो रचनात्मक नही है। जबकि अकेलापन सर्जनात्मक होता है।"[93]

'ॲधेरे मे' मे मुक्बिोध की सबसे लम्बी और आखिरी कविता है। 'चॉद का मुॅ टेढा है' मे सगृहीत अन्य लम्बी कविताओ की तुलना मे 'ॲधेरे मे' कविता कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। 'ॲधेरे मे' मुक्तिबोध की एक ऐसी ही कविता है, जिसमें उनकी काव्यात्मक शक्ति के अनेक तत्व घुल–मिलकर एक महान रचना की सृष्टि करते है, जो रोमानी होते हुए भी अत्यधिक यथार्थवादी और एकदम आधुनिक है।[94] मुक्बिोध की कविता असुरक्षित जीवन की कविता है। उसमे भावबोध की अस्थिरता और विचारों की उलझन भी है। लेकिन यह सब किसमे नही है। इसलिए उनकी कविता मे सीखने–समझने के लिए बहुत कुछ है–खास तौर से कवियो के लिए।[95] कुल मिलाकर उसे यदि नयी कविता की भी चरम उपलब्धि कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी।[96] मुक्बिोध की कविता 'ॲधेरे मे' अपने शब्द, बिम्ब, प्रतीक, सकेत विभिन्न सदर्भो और गहरी अर्थवत्ता के कारण निश्चय ही अपनी समकालीन

कविताओ से भिन्न और सर्वोपरि है। मुक्बिोध कवि–विचारक के साथ–साथ एक महान द्रष्टा भी रहे है। उनहोंने जो सोचा–समझा, लिख। युग और समाज के प्रति उनके मन मे जो एक गहरी बेचैनी, तडप और छटपटाहट थी उसे मूल मे काफी कुछ कर गुजरने की एक अदम्य आकाक्षा थी जो मुक्तिबोध नही कर सके, जिसे वे अपनी कविताओ मे छोड गए, आज वही घट रहा है हमारी ऑखो के सामने। आज वे ही स्थितियॉ, सवाल, सकट, सेसर, मार्शल लॉ, व्यक्तित्वातरित नौजवान और बुद्धिजीवी है लेकिन कही कुछ नही बदलता। आपात कालीन स्थिति मे आज भी 'चुप' है। साहित्यकार, कलाकार, नर्तक कोई भी 'चुप्पी' तोडना नही चाहता। या तो ये फासिस्ट सत्ता के सरकारी दलाल है या सत्ता के आतक से भागे हुए 'अडर ग्राउड' बुद्धिजीवी। आजादी के 27 साल बाद भी किसी कवि ने अपनी कविता मे बदली हुई सामाजिक–राजनीतिक परिस्थितियो के सदर्भ मे वो कोई भी सवाल (मुक्तिबोध ने निरन्तर अपनी कविताओ मे उठाया) नही उठा सके। ऐसी स्थिति में निस्संदेह मुक्तिबोध आधुनिक युग के श्रेष्ठ और महान कवि है।

'अंधेरे मे' स्वप्न कथा के माध्यम से कही गई एक सत्य कथा"

अँधेरे मे होना मनुष्य के स्वभाव मे निहित जिज्ञासा के लिए सदैव ही एक चुनौतीपूर्ण स्थिति रहा है। अपनी प्राकृतिक सत्ता मे भी, अँधेरा जहॉ जगत और जीवन का एक सर्वातिसायी और आर्वती सत्य रहा, वही मनुष्य के जीवन और उसकी खोजी दृष्टि के लिए एक समस्या भी। यह अधेरा मनुष्य की रचनात्मक प्रकृति के लिए जब –जब ललकार बनकर उपस्थित हुआ, मनुष्य ने कुछ रचा, कुछ सिरजा। अल्लामा इकबाल ने सम्भवत अधेरे की ऐसी ही ललकार सुनकर, मनुष्य की अपनी रचना शक्ति को विराट् सृष्टि कर्ता की रचना शक्ति के मुकाबले मे रखते हुए कहा होगा – 'तू शब आफरीदी, चिराग आफरीदम्' (तूने रात बनाई तो मैने बनाया चिराग)। मनुष्य की रचनाशीलता की इससे अधिक सटीक परिभाषा और क्या हो सकती है कि जब–जब कही कोई रात बनाये और अधेरा करे, तब–तब मनुष्य चिराग बनाने का कोई न कोई उपाय ढूंढ ले। लेकिन जब अधेरा प्राकृतिक भी न हो, बल्कि मनुष्य के विरूद्ध स्वय मनुष्य के द्वारा निर्मित हो, तब चिराग बनाने का काम और भी अधिक चुनौतीतलब हो जाता है। क्योकि तब, न तो उस अधेरे की पहचान प्राकृतिक अधेरे की पहचान की तरह सरल और सर्वातिशायी होती है अैर न ही यह तय रहता है कि उस अधेरे मे दिशा खोजने के लिए किस तरह का चिराग बनाया जाना है।

मुक्तिबोध की कविता 'अधेरे मे' एक ऐसी ही चुनौती–तलब स्थिति की कविता है। इस कविता मे जिस अधेरे का चित्र है, वह प्राकृतिक अधेरा नही है। वह अपने सारे फैलाव मे ("सूनी है राह अजीब है फैलाव यह सर्द अधेरा" और "और ज्यादा गहरा और ज्यादा अकेला / अधेरे का फैलाव") मनुष्य निर्मित अंधेरा है। इसलिए इस अधेरे की पहचान मनुष्य के खिलाफ सक्रिय मनुष्य की पहचान से सीधे जुड जाती है। कौन है वह ("रक्तपायी वर्ग" और उससे " नाभिनाल–बद्ध ये सब लोग / नपुसक भोग शिरा–जालो मे उलझे") जो इस अंधेरे मे अपना हित ("भीतर का राक्षसी

स्वार्थ ") साधता है और कौन है इस अधेरे मे, जिसका सब कुछ दाव पर लगा है (" ..न शरीर मे बल है/ अधेरे मे गल रहा दिल यह!") और कौन है वे सहचर जिनको लेकर यह सामाजिक स्वास्थ्यदायी आकाक्षा की जा सकती है कि "पाऊँ मै नये-नये सहचर / सकर्मक सत्‌चित वेदना-भास्वर!!" यानी अपने वर्ग विभक्त समाज के वर्गीय चरित्र की समझ के विना इस अधेरे का पूर्ण रहस्य नही खुल सकता।

'अधेरे मे' का सम्भावित रचना-काल सन् 1957 से 1962 के बीच माना जाता है। यह वह समय है, जब भारतीय समाज मे स्वतन्त्रता प्राप्ति का आवेगजन्य उत्साह, धीरे-धीरे राजनीतिक यथार्थ-जन्य आशकाओ मे तब्दील होने लगा था। जिस सत्ता मे भारतीय जनता की व्यापक भागीदारी का विश्वास दिलाया गया था तथा समाजवादी ढग की समाज-रचना का आश्वासन दिया गया था। वह पूजीपति वर्ग के हाथो मे केन्द्रित हो रही थी। मुक्तिबोध की वर्ग की चेतस् दृष्टि ने यह बात बहुत शुरू मे ही भाप ली थी। 'नया खून' नामक पत्र मे उन्होने सन् 1955 मे लिखा था-" भारत मे पूजी तीनो ढग से लगाई जा रही है। अगर भारत मे रूसी इस्पात कारखाना सरकारी औद्योगिक क्षेत्र में खुल रहा है तो अमेरिकी सहायते से टाटा अपने इस्पात कारखाने का बहुत बडा विस्तार कर रहा है। और विडला ब्रिटिस सहायता से नया इस्पात कारखाना खोल रहा है। तीसरे प्रत्यक्षत विदेशी पूंजी भी भारत मे आ रही है । और आयेगी। ... मतलब यह कि केन्द्रीय सरकार के सलाहकारो पर ब्रिटिश और अमेरिकी पूजी का बहुत बडा भाग है। ... समाजवादी ढंग की समाज रचना का तरीका यह नही है। कि भारत में अमेरिकी पूजी को पच्चीस वर्ष की गारटी दी जाय और ब्रिटिश पूजी के बारे मे चूं तक न किया जाय । इससे एक बात तो सिद्ध होती है. कि आगामी पच्चीस तीस वर्षो तक के लिए समाजवादी ढग टाल दिया गया है।" इस तरह की जिन आशकाओ को मुक्तिबोध एक सजग और प्रबुद्ध भारतीय नागरिक के रूप मे, अपने मन में उठता पा रहे थे, उन आशकाओ को वे एक संवेदनशील और दायित्व चेता भारतीय कवि के रूप मे अपनी

रचना मे गतिशील प्रेरणा का अग बनाकर रखना चाहते थे। इस तथ्य का साक्षी है वह पत्र, जो मुक्तिबोध ने 9 दिसम्बर 1963 मे अग्नेष्का सोनी को लिखा था। इस पत्र मे अपनी कविता 'अधेरे मे' के फलक पर उभारे गये वातावरणकी कैफियत बताते हुए मुक्तिबोध ने सकेत किया था– " उसमे एक आशका है, अधेरी आशंका का वातावरण है– कही हमारे भारत मे ऐसा–वैसा न हो।"

यह भी आकस्मिक नही है कि कल्पना (नवम्बर 1964) मे जब यह कविता छपी तो उसका शीर्षक था– " आशका के द्वीप अधेरे मे"। आखिरकार किस 'विशेष मन·स्थिति के प्रवाह मे मुक्तिबोध ने अपनी इस कविता को वह शीर्षक दिया होगा? ध्यान देना चाहिये कि इस कविता के सम्भावित रचना काल से लगभग एक दशक पूर्व अज्ञेय अपनी प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' लिख चुके थे। नदी के प्रवाह के बीच द्वीप की स्थिरता ("स्थिर सर्मपण है हमारा") अज्ञेय के यहां व्यक्तित्व की विशिष्टता का प्रतीक है। अज्ञेय द्वीपत्व पर मुग्ध होते हैं और उसके साथ अपने व्यक्तित्व के तादात्म्य की स्पृहा करते है। इसके विपरीत मुक्तिबोध के यहा द्वीपत्व को लेकर आशंका है। क्योकि उनकी नजर मे स्थिरता को व्यक्तित्व की विशिष्टता का प्रतीक मानने का मतलब है – यथा स्थितिवादी मानसिकता को प्रश्रय देना और जन क्राति की तैयारी मे अवरोधक बनना। मुक्तिबोध देख रहे थे कि भारत की अधिसंख्य जनता गरीबी के अनियन्त्रित प्रवाह मे थपेडे खा रही है। और इस प्रवाह के बीच भारतीय समाज मे अमीरी के टापू, समृद्धि के द्वीप बन रहे है। और एक बहुत बडी विडम्बना मुक्तिबोध को यह प्रतीत हुई कि हमारे मध्य वर्ग की आखो मे भी यही द्वीप स्वप्न बनकर तैर रहे है। उसी की तो परिणति यह हुई–

लोक–हित–पिता को घर से निकाल दिया
जन–मन–करूणा–सी मॉ को हॅकाल दिया
और अतत·
जम गये, जाम हुए, फॅस गये

अपने ही कीचड मे धस गये।।

इस विडम्बना की ओर विशेष ध्यान आकृष्ट करने के लिए ही शायद उन्होने अपनी कविता के शीर्षक में 'अधेरे मे' के साथ आशका के द्वीप भी टाक दिया होगा। बाद मे हो सकता है, उन्होने सोचा हो कि पूरी कविता अपने कथ्य मे, अनुभवो की जिस द्वद्वात्मकता से गुजरकर सम्भव हुई है, आशका के द्वीप से तो उसका केवल एक पक्ष द्योतित होता है। इसके विरूद्ध उसका दूसरा पक्ष भी है। – " इस तम–शून्य मे तैरती है जगत्–समीक्षा" जो मध्यवर्गीय सस्कारो के रहते कितनी भी असह्य हो लेकिन जिसके बारे मे लिखा गया मूल निर्णय यही है– " नही नही उसको मै छोड ही नही सकूगा/ सहना पडे चाहे जो भले ही !" चूंकि पूरी कविता मध्यवर्गीय सस्कारों के अतिक्रमण के द्वारा जन–क्रांति मे योग देने लायक बनने के लिए किये गये संघर्ष की कविता है। और चूकि आशका और आश्वस्ति, आशका और सकल्प, के द्वन्द्व मे, कविता की चेतनागत अग्रसरता मूलत " विवेक–प्रक्रिया, क्रियागत परिणति" की आश्वस्ति और " परम अनिवार आत्म– संभावाअभिव्यक्ति" की खोज का जोखिम उठाने के सकल्प की ओर है, इसलिए भी आशंका के द्वीप का " अधेरें मे' के साथ शीर्षक में होना मुक्तिबोध को आवश्यक न लगा हो, तो यह उचित ही है।

'अधेरे मे' के कथ्य के विचारधारात्मक अभिप्रायो को लेकर हिन्दी के आलोचकों के बीच काफी विवाद है। लेकिन सहमति के एक न्यूनतम बिन्दू पर प्राय सबने इसमें 'खोज' और 'सर्घष'के स्वरों के अद्योपांत समाहिति स्वीकार की है। खोज एक ऐसी वृत्ति है जिसमें साहित्य, दर्शन और विज्ञान–प्रायः इन तीनों का साझा रहा है। साहित्य और दर्शन की भारतीय परम्परा मे इसे ज्यादातर आध्यात्मिक और रहस्यवादी सन्दर्भ मे ही विशेष महत्व मिला और विज्ञान की परम्परा मे भौतिक तथा पादार्थिक ज्ञान के सदर्भ मे । परम्परा के इस छोर पर, जहा से हमने वस्तुत आधुनिक होना महसूस किया है, इस खोज– वृत्ति का उस तरह सवेदना और ज्ञान के स्तर पर दो–फाक बने रह पाना कठिन होने लगता है। मुक्तिबोध इस कठिनाई

को अपनी चेतना मे पूरी तरह झेलते है। इससे उनका कवि– व्यक्तित्व जटिल होता है, किन्तु 'जागृत– बुद्धि' और 'प्रज्वलित घी' भी। अकारण नही है कि ' ज्ञानात्मक सवेदना' और ' सवेदनात्मक ज्ञान' जैसे पद हमे किसी मध्यकालीन कवि या काव्यशास्त्री के यहा नही मिलते , आधुनिक कबि के यहा मिलते है, और इस पर भी विशेष उल्लेखनीय यह कि जिस आधुनिक कवि के यहा मिलते है वह मुक्ति बोध ही है, निराला भी नही।[1] यह केवल मध्यकालीन बोध और आधुनिक बोध के अन्तर का परिणाम नही है, बल्कि यह आधुनिक बोध के अर्न्तगत भी– मात्र ' विचार' से 'विचारधारा' की ओर बढते हुए यर्थाथ की ठोस जमीन पर आने की प्रक्रिया की परिणति है– जिसको मुक्तिबोध ने कहा–" विवेक– प्रक्रिया , क्रिया–गत परिणति" ।

मध्यकालीनता की सीमारेखा जहा तक आती है वहा तक ज्ञान शव्द अपनी पावनता मे, अपने परम्परागत पावित्र्य मे पूरी तरह सुरक्षित है। क्योकि ज्ञान भी कहां सवेदना से बाहर नही है,भक्ति और आध्यात्म की सवेदना के वृत्ति में ही है। वह निरा पदार्थीकृत होता तथ्यात्मक ज्ञान नही है। मगर ज्ञान का आधुनिक प्रत्यय तो तथ्यात्मक होने की प्रक्रिया मे ही विकसित हुआ। साहित्य की रचना होने की शर्त यह है कि नितान्त तथ्यात्मक वह हो नही सकता किन्तु इसके साथ ही, अब यह तय है कि तथ्यात्मकता ने हमारे अनुभव को प्रत्यक्ष यर्थाथ का जो आधार दिया हैं उसे तज कर चलने में ही साहित्य की कोई गति नही है। इस लिए आधुनिक कवि को ज्ञान और सवेदना दोनो की चिता करनी पडती है। इसी चिन्ता के कारण निराला अपने राम को जिस शक्ति की खोज मे प्रवृत्त दिखते हैं, उसके लिए उन्हे 'मौलिक कल्पना' की आवश्यकता पडती है। ("शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन")। यह आधुनिक विचार का वह धरातल है जहां कल्पना की स्वायत्तता (आयथार्थ) की नही कल्पना की मौलिकता की गुहार है। मौलिकता भी दोहरे अर्थो में – मूलवृर्त्तिता के अर्थ मे भी और नवीनता (सामयिकता) के अर्थ मे भी मूलवर्तित के नाम पर निराला की कविता मे आध्यत्मिकता और रहस्यवादिता भी खप जाती है लेकिन मुक्ति

बोध 'विचार' से भी आगे 'विचारधारा' तक पहुचे हुए कवि है। समाज मे मानवीय शक्ति की खोज मे जब वे विकल होते है तो आमूर्त विचार उन्हे सहारा नही दे पाते दाम नही दे पाते। उनके सपनो मे चलता है आलोचन/विचारो के चित्रो की आवली मे चितन । "और तब वे एक ठोस विचारधारा के सहारे अपनी खोज मे अग्रसर होते है। किसी भी विचारधारा के साथ यात्रिक होने का जो खतरा रहता है मुक्ति बोध उसे पूर्णतया पहचान चुके होते है। वे विचारधारा को यात्रिक प्रक्रिया की नही, बल्कि मानवीय प्रक्रिया का अग बनाते है। और इस प्रक्रिया को पूरी समाज रचनात्मक गति देने के लिए हृदय और बुद्धि दोनो की परस्पर पूरकता का महत्तव स्वीकार करते है।ज्ञानात्मक सवेदना और सवेदनात्मक ज्ञान के स्तरो का एकीकरण उनके काव्य बोध मे इसी अर्थ मे अपने लिए जगह बनाते है।

यह एकीकरण हृदय और बुद्धि के द्वन्द्व की उस समाधान से सवर्था भिन्न है जो कामायनीकार को उपलब्ध हुआ था। कामायनी के मनु का आत्मसघर्ष को द्वन्द्वातीतता की स्थिति (कैलाश) मे पहुचा कर समाप्त हो जाता है।–

मनु ने कुछ कुछ मुसक्या कर
कैलास ओर दिखलाया।
बोले, 'देखो कि यहां पर
कोई भी नही पराया।

ऐसी द्वन्द्वातितता मनु की वैयक्तिक्त सिद्धि तो हो सकती है लेकिन उसकी सामाजिक मूल्यवत्ता में मुक्ति बोध को गहरा आत्मविश्वास था। मनु की वैयक्तिक्त सिद्धि का स्वरूप यह है–

मै की मेरी चेतनता
सबको ही स्पर्श किए–सी।

जब कि मुक्ति बोध को वह सामाजिक सिद्धि अभीष्ट है, जो इस प्रक्रिया का अग हो–

विवेक चलाता तीखा सा रन्दा

चल रह वसूला

छीले जा रहा मेरा निजत्व ही कोई ।

और जिसमे 'मै' सक्रिय होकर हम मे हस तरह तब्दील हो

जय कि यह विश्वास प्राप्त कर ले –

समस्व, समताल

सहानुभूति की सनसनी कोमल।।

हम कहा नही है

सभी जगह मन ।

निजता हमारी।

कामयनी के मनु की वेयक्तित्क सिद्धि, हद से हद, किसी प्रक्रिया का अत ही हो सकती है। किसी प्रक्रिया का आरम्भ बन पाना उसक लिए संभव नही रह जाता । 'अधेरे मे' के काव्य – नायक के लिए वैसी ही द्वन्द्वातीतता सामाजिक विकास की यथार्थ प्रक्रिया से कतई मेल खाने वाली नही होती। इसलिए मुक्तिबोध के लिए वह अर्थ हीन हैं। कामायनी के अन्त में आदर्श मनुष्य की परिकल्पना यह है कि वह "चेतन का साक्षी मानव, हो निर्विकार हसता सा" और " सब भेद भाव भुलवा कर, दुख – सुख को दृष्य बनाता" यह कहे कि "यह मैं हूँ ।" यह है प्रसाद के द्वारा मनु के माध्यम से की गई मनुष्य की अस्मिता की खोज। और इस खोज मे जो हाथ लगा, वह वस्तुत. आदर्श मनुष्य नही बल्कि अमूर्त मनुष्य है। क्योकि अपने मूर्त (भौतिक) आस्तित्व में मनुष्य नही बल्कि अमूर्त मनुष्य है क्योकि दुख सुख को अलग से वह अपने लिए 'दृश्य' नही बनाता, दुख सुख में स्वय दृश्यमान होता है। मुक्तिबोध जब लिखते है– " आत्मा मे भीषण/ सत्–चित्–वेदना जल उठी, दहकी" तो ऐसी ही दृश्यमान मनुष्य का पता देते है। यह मनुष्य और अधिक स्फूर्ति अर्जित करता है ("मेरा यह चेहरा– धुलता है जाने किस अथाह गम्भीर, सावले जल से . ") द्वन्द्व की इस स्थिति मे आकर–

चक्र से चक्र लगा हुआ है...

जितना ही तीव्र है द्वन्द्व क्रियाओ– घटनाओ का
बाहरी दुनिया मे
चलता है द्वन्द्व कि
फिक्र से फिक्र लगी हुई है।

'अंधेरे मे' कविता के आरम्भ मे दीवाल पर पपडी उचटने से जो आकृति (" नुकीली नाक, भव्य ललाट, दृढ हनू") उभरती है वह भी काव्य नायक को 'मनु' का आभास देती है, परन्तु इस विफल जिज्ञासा के साथ की "कौन मनु?" यह जिज्ञासा एक ओर तो काव्य नायक के मन की अनिश्चितयात्मक स्थिति की व्यजक है दूसरी ओर उसकी दृष्टि की इस निश्चयात्मक प्रतीति की भी, कि यह मनु कामायनी जैसे महाकाव्य द्वारा परिचित कराया गया मनु नही हो सकता।

दरअसल यह एक प्रकार से कामायनीकार के मन के मनु से असतुष्ट होकर, उसके अपेक्षाकृत अधिक सही और सार्थक विकल्प के रूप में कल्पित मुक्तिबोध के मन का अभिष्ट मनु है। इसकी मूल प्रकृति है– निरन्तर द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया मे रहना। कविता के शुरू मे "हृदय मे रिस रहे ज्ञान का तनाव वह" है। वह न खुद द्वन्द्वातीत होना चाहता है और न काव्य नायक या वाचक का द्वन्द्वातीत होना चाहता है।

अपनी द्वन्द्वात्मक प्रकृति के कारण यह मनु की कामायनी वाली "समरसता" के आदर्श से अपना पथ अलग कर लेता है। वह 'अंधेरे मे' के काव्य के नायक को स्थिति – प्रज्ञ बनाने के लिये नही ,बल्कि 'गतिप्रज्ञ' बनाने के लिये आया हैं। क्योकि वह व्यक्तिवाद की अहंग्रस्त प्रवृतियो (जो कि बकौल मुक्तिबोध, "पूंजीवाद के हृास –ग्रस्त स्वरूप मे ही उत्पन्न हो सकती हैं" प्रतीक बनकर नही रह जाना चाहता वह अहंकार और जन विरोधी प्रभुत्व लालसा (जो पूँजीवाद की प्रधान विशेषताये है) के विरूद्ध संघर्षशीलता का जनचरित्री प्ररूप रखना चाहता है। इसीलिये, वह खुद भी अपने को कही भी एक "स्थिति मे नही निरन्तर "एक गति " ("विद्युल्ल– हरिल वही गतिमयता") मे रखता है। शुरू में वह "अनजानी, अनपहचानी

आकृति " के रूप मे अपना आभास कराता है। फिर लगातार स्पष्टतर होने के क्रम मे रूपान्तरित होता जाता है। (फैटेसी,जो शुरू मे एक आभास रूप मे होती है। वह तुरन्त की अनेक चित्रों की सुसगत पॉत बनने लगती है।") 'अधेरं मे' के काव्य—नायक की पूरी यात्रा मे वह बाहर और भीतर से उसका दिशा— निर्देशन करता है। बाहर वह कभी "सलिल के तमश्याम शीशे मे कोई श्वेत आकृति" बनकर उभरता है, कभी कुहरे मे सामने, रक्तालोक—स्नात—पुरुष एक' भीतर वह हृदय मे रिस रहे ज्ञान का तनाव, "आत्मा की भीतर से घनीभूत होती उसकी यह प्रतिमा बनकर उभरता है। पहचान कविता के अन्त मे एक व्यापक समाज—रचनात्मक (सोशियो—क्रियेटिव) मूल्य मे परिणत होती है। क्योकि वह क्रान्तिधर्मी "जनयूथ" के साथ एकात्म होने की प्रेरणा देती है—

> एकाएक वह व्यक्ति
>
> सामने
>
> गलियो मे सडकों पर, लोगों की भीड मे
>
> चला जा रहा है
>
> वही जन जिसे मैने देखा था गुहा मे ।

"वह व्यक्ति" ("दिखाई जो देता /पर नही जाना जाता " तथा जिसे देखकर शुरू में यह प्रश्न उठा था—"कौन मनु?") अब " वही जन " है। इतना ही नहीं शुरू मे जो "कोई अनजानी, अनपहचानी आकृति " था, अब वही अनखोली , निज समृद्धि का परम उत्कर्ष 'है।

कवि मुक्तिबोध द्वारा 'अंधेरे मे' के काव्य के नायक की समस्या के मूल बिन्दू को अनजानी"अनखोजी" तक स्थानान्तरित करके ले आना विशेष अर्थ—गर्भित है। जीवन और जगत के "अनुभव , वेदना, विवेक— निष्कर्ष' को हमारे मानस में जो "तेजो प्रभावमय" अन्विति ग्रहण करनी चाहिए, वह सुविधावादी आत्मग्रस्तता के हमारे मध्यवर्गीय संस्कारो के दबाव—तले अनजानी रह जाती है। इसलिये पहली समस्या तो यही है कि उसके वास्तविक परिज्ञान के लिये आत्म सघर्ष किया जाये। लेकिन फिर मात्र

परिज्ञान भी, सामाजिक सघर्ष के सदर्भ मे, कोई अन्तिम स्थिति नही है उसके किसी पाये हुए स्तर मे सतुष्ट होकर रह जाने का कुछ अर्थ नही होता। (तभी तो"असंतोष मुझको है गहरा शब्दाभिव्यक्ति–आभाव का सकेत।") उसकी सार्थकता तो एक अनवरत प्रक्रिया मे चरितार्थ होने से ही होगी है (यह कभी न खत्म होने वाली कविता की धात्री है।) इसी प्रक्रिया मे अधेरे मे का काव्यात्मक यह जान पाता है कि जिस समाज मे वह रह रहा है, उसमे उसके होने का (उसके अस्तित्व का अर्थ क्या है और फिर यह भी कि सवाल कि केवल अपनी भूमिका को जान लेने भर का नही है, बल्कि अविरत उसकी सक्रियता की खोज करने का है– 'परम अभिव्यक्ति अविरत घुमती है जग मे। सक्रिय होना ही तो अभिव्यक्त होता है। इस 'परम अभिव्यक्त को अनिवार और आत्म संभवा कहा गया है।" अनिवार " इसलिये कि समाज के ऐतिहासिक विकास क्रम द्वारा अर्जित आघूर्ण (मोंमेंटम) इसके पीछे है, जिसे कोई प्रतिभागी शक्ति कितना भी बधित करे लेकिन रोक नही सकती है। और "आत्म संभवा" इसलिये कि जो रचनात्मक सषर्घ इसे रूप देता है, वह पूरी निष्ठा और ईमानदारी से व्यक्ति को खुद करना है। यहॉ यह भी उल्लेख कर देना है अनुचित न होगा कि मुक्तिबोध के सदर्भ मे जिसे हम उनका आत्म संघर्ष कहते है, वह वास्तव मे उनके रचनात्मक सघर्ष और सामाजिक संघर्ष और सामाजिक सघर्ष के योगफल का नाम है।

सघर्ष की अवधारणा को वैज्ञानिक स्वरूप देने के वालो मे आधुनिक काल के तीन मनीषियो –डार्विन, मार्क्स और फ्रायड को विशेष श्रेय दिया जाता है। डार्विन के विकासवाद, फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद, और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के क्रमश 'अस्तित्व के लिये संघर्ष' 'मनसंघर्ष' तथा 'वर्ग–सघर्ष' के सिद्धान्तो ने मनुष्य के सोच और व्यवहार की दिशाए ही बदल डाली। हिन्दी के आधुनिक साहित्य के अध्ययन और विश्लेषण के क्षेत्र की यह एक विडम्बना ही कही जायेगी कि आधुनिक रचनानुभव मे उपर्युक्त तीनो सिद्धानें के समग्र प्रभाव की चिन्ता करने के बजाय सामन्यतया उन्हे क्रमशः तीन वादो – प्रकृतिवाद, मनोविश्लेषणवाद और प्रगतिवाद के खेमो मे

बॉटकर देखा गया। मुक्तिबोध का काव्य ऐसा अनर्गल बॅटवारा करके चलने वालो के लिए ऑख खोलने वाला साबित हो सकता था। लेकिन यहॉ भी एक दुर्घटना यह हुई कि मार्क्सवाद बनाम अस्तित्ववाद रहस्यवाद के बीच ही उनकी खींचा–तानी होती रह गयी। जबकि मुक्तिबोध अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग तलाशने के लिए ज्ञान–विज्ञान के अनेकानेक स्रोतो को मथ डालतना चाहते थे। – "बहुत–बहुत तबीयत होती है कि ऐसा देशी–विदेशी सात्यि हाथ मे आ जाय जिसके द्वारा मेरी अपनी समस्याओ पर कुछ प्रकाश पडे, कुछ राहत मिले, कोई मार्ग प्राप्त हो।" (मुक्तिबोध रचनावली, खड 4, पृ0 97, 'अकेलापन और पार्थक्य' शीर्षक लेख)। अपने एक विस्तृत लेख 'समीक्षा की समस्याऍ' मे मुक्तिबोध आधुनिक रचनाकारो की सवेदनात्मक ग्रहणशीलता के सदर्भ मे सीधे–सीधे प्रश्न समीक्षको के सामने रखते है। "ज्ञान के कण जहॉ भी मिले, जहॉ भी प्राप्त हो, उन्हे तुरन्त अपने आकुल सवेदनो द्वारा उठाकर कृतज्ञ होना, और मुग्ध भाव से उन्हे स्वीकान करना, क्या आवश्यक नही है?" इसलिए अस्तित्ववाद और हसस्यवाद के आच्छादन से मुक्त संघर्षशीलता का तेज यदि मुक्तिबोध की कविता मे देखना है तो केवल मार्क्सवाद के परिप्रेक्ष्य में उसकी जॉच–परख से काम न चलेगा बल्कि उसे विकासवाद और मनोविश्लेषणवाद के परिप्रेक्ष्य मे भी रखकर जॉचना होगा।

चाँद का मुँह टेढ़ा है

'चॉद का मुॅह टेढा है।'[97] मुक्तिबोध के पहले काव्य–सगह की छठी कविता है। इसी कविता का शीर्षक पुस्तक का शीर्षक बना है। कविता वर्णन एवं वातावरण–निर्माण से प्रारम्भ होती है।

नगर के बीचोबीच आधी रात के अधेरे मे काली शिलाओ रो बनी भीतो और आहातो पर सुरक्षा की दृष्टि से लगाये गये कॉच के टुकडो पर चॉदनी फैली हुई है और कॉच के टुकडे संवलाई हुई झालरो जैसे लग रहे हैं।

वाचक की कैमरा दृष्टि जैसे किसी क्रेन के सहारे भीतो के उस पार जाती है, और पाती है कि वहॉ धूम्रमुख चिमनियॉ है, मीनारे है, मीनारो के बीच चॉद का टेढा मुॅह झॉक रहा है। यह चॉद भयानक स्याह् सन् तिरपन का चॉद है। गगन में कर्फ्यू और धरती पर चुपचाप जहरीली छि थू है। पीपल के खाली पडे पक्षियो के घोसलो मे चखाली तारतूस पैठे है। गजे सिर चॉद की संवलाई के किरणो के जासूस सामसम नगर मे धीरे–धीरे घूम–घूम रहे हैं, और नगर के कोनो के तिकोनो के छिपे है। चॉद की कनखियों की कोर निकली है ये कोणगामी किरणो ॲधेरे मे पीली–पीली रोशनी की पट्टियॉ बिछाती है औ नगर की जिदगी का वह टूटा–फूटा उदास प्रसार देखती हैं।

यहॉ हमने कविता के पहले बन्द का मात्र पदान्वय किया है प्रथम बद मे ही कविता का कथ्य प्रकट हो जाता है, कुछ शब्दो के माध्यम से, जैसे धूम्रमुख चिमनियॉ, कारखाना, सन् तिरपन, कर्फ्यू, कारतूस, जासूस आदि। अनुमान लगाया जा सकता है कि कविता का सम्बन्ध किसी मजदूर हडताल से है जो सन् तिरपन मे हुई। हडताल की गम्भीरता इस बात से पता चलती है कि व्यवस्था को हडताल दबाने के लिये गोली –कारतूसों का सहारा लेना पडा, कर्फ्यू लगाना पडा। अलबत्ता चॉद की भूमिका कुछ अच्छी नही है। उसकी किरणों के जासूस शहर–भर मे फैले हुये हैं। चन्द्रमा मुक्तिबोध की

अन्य कविताओ मे भी वर्तमन पतनशील पूँजीवादी व्यवस्था के प्रतीक के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। 'मेरे सहचर मित्र' कविता मे उन्होने कहा है–

मै स्याह चन्द्र का फ्यूज बल्ब
जल्दी निकाल
पावन–प्रकाश का प्राण बल्ब
वह लगा सकूँ
जो बल्ब तुम्ही ने श्रमपूर्वक तैयार किया
विक्षुब्ध जिन्दगी की अपनी
वैज्ञानिक प्रयोगशाला मे।[98]

एक अन्य कविता मे कवि के मुख पर मुस्कानो का आन्दोलन है और वह अपनी प्रिया के साथ खिडकी से बाहर देख रहा है–

अपनी खिडकी से देचा रहे है हम दोनो
डूबता चॉद कब डूबेगा।[99]

'लकडी का बना रावण' शीर्षक कविता के सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र पूँजीवादी विराट पुरुष की आसमानी व्यवस्था का एक अग है चन्द्रमा।[100]

कविता मे आगे चार छोटे–छोटे बद है जिनमे वर्णन एव वातावरण–निर्माण की प्रक्रिया आगे बढती है। कवि की नजर का वर्णन–कर्ता कैमरा चन्द्रमा की कोणगामी किरणो के साथ–साथ अहाते से बाहर आ गया है, समीप के विशालाकार ॲधियारे ताल पर, और देखता है कि यहॉ भी सूनेपन की स्याही मे डूबी हुई चॉदनी सवलाई हुई है। समीप के भीमाकार पुलो और उनके नीचे बहते नालो की धारा मे भी ध्सराशायी चॉदनी के होठ काले पड गये है। नाले के इधर–उधर मजदूर बस्तियॉ है। हरिजन गलियॉ हैं। मजदूर बस्तियॉ और हरिजन गलियॉ महानगरो मे प्राय· गन्दे नालो के ही आसपास पायी जाती है। हरिजन गलियो मे कुहासे मे डूबे हुये पेडो के बीच से गॅजे सिर टेढे मुँह चॉद की कंजी ऑखे दिख रही है। बाहर का वक्त है और भुसभुसे उजाले के फुसफुसाते षडयन्त्र मे शहरा मे चारो ओर जमाना भी सख्त है।

मुक्तिबोध रचनावली मे इस कविता का एक भिन्न पाठ दिया है। रचनावली के सपादक का मानना है कि इसका रचनाकार 1953–1962 तक फैला हुआ है। 1957 मे यह, 'विविधा' मे प्रकाशित हुई, लेकिन मुक्तिबोध ने इसका अन्तिम सशोधन 1962 मे किया। कविता का अन्तिम प्रारूप कौन सा है यह जानने के लिये जब सपादक श्री नेमी चन्द्र जैन से सम्पर्क किया तो उन्होने कहा कि यह बताना बहुत कठिन है कि अन्तिम प्रासरूप कौन सा है जो कविताये विभिन्न पत्र–पत्रिकाओ मे छप चुकी है उनकी प्रकाशन तिथि के आधार पर यह प्रायः तय किया जा सकता है। अन्तिम प्रारूप कौन सा है यह जानने के लिये उन्होने एक रास्ता और सुझाया कि अन्तिम दिनो मे तुको के प्रति उनका आग्रह कम हो रहा था। अत एक कविता के अनेक प्रारूपो मे जहॉ तुको का प्रयोग कम हुआ हो उसे ही परवर्ती प्रारूप मानना चाहिये। श्री नेमिचन्द्र जैन के अनुसार कविताओ के छोटे या बडे किये जाने की प्रवृत्ति उनके संशोधन का समय बताने मे सहायत सिद्ध नही होती।[101]

रचनावली की भूमिका में श्री नेमिचन्द जी ने प्रारूपो की विभिन्नता की समस्या पर विस्तार से चर्चा की है। मुक्तिबोध एक ही कविता पर कई काम करते थे इसलिये प्रारूप अलग–अलग हो जाते थे। उन्होने लिखा है– "उनकी रचनाओ के विभिन्न प्रारूपों की विस्तार से जॉच की जानी चाहिये जिससे एक ओर तो अब तक प्राप्त रचनाओ के प्रमाणिक पाठ निश्चित रूप से निर्धारित हो सके। दूसरी ओर, यह भी सम्भव है कि प्रारूपो के सम्यक् सम्पादन द्वारा कई रचनाओ का एक अधिक सशक्त और सम्पूर्ण रूप तैयार हो सके। पाण्डुलिपियो में अक्सर ऐसा पाया गया कि एक ही रचना को उन्होने कई बार लिखा और इन विभिन्न प्रारूपो मे कुछ हिस्से सामान्य होने के बावजूद कुछ हिस्से एकदम अलग हो जाते है और एक ही कथ्य के अलग–अलग स्तरो को जाहिर करते है। कुछ अन्य रचनाओ मे यह भी अनुभव होता है कि विभिन्न प्रारूपों मे अलग–अलग अश अपने आपे में अधिक सशक्त और प्रभावी है। इसलिये अगर सावधानी से उन अशो को

जोंडा जाये तो इसकी पूरी सम्भावना है कि उस रचना के मौजूदा रूप के मुकाबले एक अपेक्षाकृत अधिक सुगठित और समर्थ रूप तैयार हो जाये।"[102]

उपरोक्त उद्धरण के प्रकाश से सभव है कि सपादक महोदय ने कविता के कई प्रारूपो से मिलाकर रचनावली में प्रकाशित प्रारूप बनाया है। इतना अवश्य है कि रचनावली के पाठ मे तुको का आग्रह अधिक हो। इतना अवश्य है कि रचनावली के पाठ मे तुको का आग्रह अधिक है। उन्ही के मतव्य के अनुसार यह पाठ अन्तिम नही होना चाहिये, क्योकि उन्होने बताया था कि अन्तिम दिनों मे मुक्तिबोध का तुको के प्रति आग्रह कम हो रहा था।

रचनावली के पाठ के प्रारम्भिक अशों मे कई पक्तियॉ, जिनमे तुक मिल रह थी, 'चॉद का मुहॅ टेढा है' पुस्तक के पाठ मे नही है। जैसे–

1 मीनारों के बीचोबीच चॉद का है टेढा मुॅह लटका मेरे दिल मे
खटका[103]

2 कारतूस छर्रे
हवाओं के पल्लू भी सिहरे।[104]

3. नगर छान डाला है
समय काला–काला है।[105]

4. बहकते अटकते हुये
झरते भटकते हुये।[106]

उपरोक्त चारों उदाहरण एक ही पृष्ठ के है। 'चॉद का मुॅह टेढा है' पुस्तक के पाठ मे यह नही है। अत हम मानकर चलते है कि 'चॉद का मुॅह टेढा है' पुस्तक वाला पाठ ही अन्तिम है। अब कविता मे आगे चले।

भुसभुसे उजाले के फुसफसाते षडयन्त्र मे शहर के चारो ओर जमाना सख्त है। भुसभुसा उजाला चन्द्रमा का है और षडयन्त्र भी उसी का है। उजाले के लिये 'भुसभुसे' विशेषण का मनोविज्ञान भी यही है।

वाचक अब गली के मोड पर खडे अजगरी मेहराबो और घनघेर गठियल शाखें वाले बरगद का वर्णन करता है। बरगद पुराना है, क्याकि

उससे निकलने वाली मरे हुये जमानो की संगठित छायाओ की सडी–'बुसी बास चारो ओर फैली हुई है। सन्नाटा है, यदा–कदा लोगो के आने–जाने की आवाज के साथ पक्षियों के फडफडाने और अपनी बीट गिराने की आवाज आती है। वाचक वक्तव्य देता है, जैसे यह समय की बीट हो –समय की बीट' मे बीट अग्रेजी शब्द हो सकता है। तीन पक्तियॉ कविता मे फिर से आती हैं।

गगन मे कर्फ्यू है,
वृक्षो मे बैठे हुये पक्षियो पर कर्फ्यू है
धरती पर किन्तु अजी। जहरीली छि· थू: है।

'मुहाने के आगे सडक के बाहरी ओर बरगद की एक बडी डाल इस तरह फैली है कि वाचक को लगता है गोया आदमी के जन्म से पहले जगली मैमथ की सूँड पृथ्वी की छाती पर कुछ सूँघ रही हो।

बरगद की घनी–घनी छॉह मे सूनी–सूनी गलियॉ, फूटी हुई चूडियो की सूनी–सूनी कलाई सी नजर आ रही है। लेकिन गरीबों के इस ठॉव मे गलियों के चौराहे पर खडे भेरों का सिन्दूरी अस्तित्व है। उनकी गेरूई मूर्ति की पथरीली व्यंग्य–मुस्कान पर भी टेढे मुँह वाले तिलिस्मी चॉद की राजभरी अय्यारी रोशनी पड़ रही है। तजुर्बो का ताबूत जिदा बरगद सब जानता है कि भैरो कौन है? और यह भैंरों की चट्टानी पीठ पर और पैरो की मजबूत पत्थरी सिन्दूरी ईंट और ज्वलंत अक्षरो और भभकते वर्णों वाले लटकते पोस्टर कहॉ से आते है?

कविता के इन कतिपय वंदो मे जो पक्ष स्पष्ट है रूप से सामने आ चुके है। एक पक्ष है–मानारों वाले कारखाने, चन्द्रमा और उसकी जासूस चॉदनी का। दूसरा पक्ष है– नाले के उस पार हरिजन मजदूर बस्तियो के बरगद और भैरो का।

आगे की कविता इन दोनों पक्षो के वर्गीय सघर्ष की कविता है। चन्द्रमा वर्ग का फुसफुसाता षडयन्त्र चलता रहता है और गलियो मे हडताली पोस्टरो की सघर्ष–गाथा जारी रहती है।

बरगद तो मुक्तिबोध का प्रिय प्रतीक है ही, भैरो का भी जिक्र मुक्तिबोध के गद्य–पद्य मे मिलता है। 'अधेरे मे' कविता का बरगद भी गरीबो का घर, गरीबो की छत है। यहॉ भी वह हरिजन गलियो को प्रश्रय दे रहा है। इस बरगद को पूरा इतिहास बोध है, इसीलिये तो वो तजुर्बो का ताबूत है। विरोधाभास यह देखिये कि ताबूत मे तो मृत शरीर रखा जाता है लेकिल यह बरगद जिन्दा है। यह विरोधाभास इस बात की ओर सकेत करता है कि अतीत मृत होकर भी नही मरता। गतिशील इतिहास की प्रतिच्छवि है बरगद, मुक्तिबोध के लिये बरगद सबकुछ जानता है। भैरो के बारे उसका ज्ञान धार्मिक चेतना के वस्तुवादी आधार का ज्ञान है। मजदूरो की बस्ती मे लगी भैरो की मूर्ति गेरू से पुती हुई है और वह अमीरो के मन्दिरो की मूर्ति की तरह ऐसी अभिजात्य नहीं है। कि कोई उसकी पीठ पर पोस्टर न चिपका सके। भैरो सघर्षरत मजदूर बस्ती मे रहकर स्वय संघर्ष का प्रतीक बन जाते है। मुक्तिबोध ने धार्मिक प्रतीको को कट्टर कम्युनिस्टो की तरह या कुत्सित समाजशास्त्रियो की तरह कभी त्याज्य नही समझा। वस्तुगत जीवन मे प्रयुक्त होने वाले धार्मिक उपादानो को प्रतिगामी सन्दर्भो मे ही देखने के बजाय प्रगतिशील सोच से जुडकर देखा है। सघर्षशील सर्वहारा की बस्तियो मे संघर्ष यदि सत्य है तो भैरो का अस्तित्व भी सत्य है। मुक्तिबोध ने भैरो का व्यक्तित्व जनोन्मुखी बनाया है। चचल चौहान ने भैरो के प्रतीकार्थ के विषय में लिखा है– 'गरीबो के ठॉव मे' 'भैरों' की सिन्दूरी गेरुई मूरत चौराहे पर खडी है। उस पर टेढे मुँह चॉदनी की ऐयारी रोशनी पड रही है। भैरो की मूरत मे पथरीली व्यग्य स्मित है। इन सकेतो से लगता है कि भैरो उस जनता का प्रतीक है जो कभी भी अपनी निष्क्रियता को छोड सक्रिय हो क्रान्ति कर उठेगी। उसमें दृढता है जो उसका पथरीलापन है उसकी पीठ चट्टानी है, अटूट है।[107]

हडताल और कर्फ्यू की यह सघर्ष गाथा 1953 मे नागपुर मे हुये विराट आन्दोलन की गाथा है।

पोलिश लेखिका अग्नेश्का उस जमाने मे जाकर मुक्तिबोध से मिली थी। इस सन्दर्भ मे 'मुक्तिबोध की आत्मकथा' का यह अश दृष्टव्य है– "मैने अधूरी कविताये, लम्बी कवितताये, डायरी, लेख–सभी अग्नेश्का को सौप दिया। 'चॉद का मुँह टेढा है' कविता नगर के बीचोबीच आधी रात–अधेरे की स्याह बस्ती मे– कल सुना रहा था नागपुर मे वह कारखाने के बहाते के पार कलमुँही चिमनियो के पार गरीब बस्तियो के सूनसान उदास लोगो और जुम्मा टैक के पास खडी तिलक की मूर्ति को देखकर आयी है। पोलैण्ड से आने पर हिन्दुस्तान मे अग्नेश्का ने प्रजातन्त्र के अजीब कर्फ्यू का आतक, कारतूस–छर्रे गोलियो का हाय–हाय भरी जिन्दगी यानि भारत की धरती चुपचाप जहरीली छी थू महसूस की है।[108]

अग्नेश्का ने मुक्तिबोध को लिखा– "मैने" अनुभव किया आप हर दुनियावी घटना को निजी स्तर पर जीते है। नागपुर के कर्फ्यू का जिक्र करते'करते आप भावकल हो उठते है। जैसे जो कुछ चारो ओर हो रहा है देश या विदेश मे आपका व्यक्ति उसका केन्द्र बिन्दु बनकर जीता जागता है जहॉ प्रगतिगामी शक्तियो का विकास आपको पुलकित करता है वही प्रतिक्रियावादी अवरोधो से आपको ठेस पहुँचती है। इस प्रकार आपका ह्दय–आत्मा का आयतन–उल्लास औ पीडा का एक समन्वित कोष नजर आता है।[109]

मुक्तिबोध की आत्मा का आयतन कवितागत फैंटेसी को आगे बढाता है–अधियाले ताल पर चॉदनी सॅवला रही है। समय का निराकार घन्टाघर गगन मे चुपचाप अनाकार खडा है। जाहिर है हरिजन गलियो में घटाघर की कोई व्यवस्था नही है यहॉ का घंटाघर इसलिये अनाकार है। यहॉ से जिन्दगी के कॉटे ही बताते है कि कितनी रात बीत गयी। भैरो की पीठ पर पोस्टर चिपकाने के बाद गली का मुहाना फुसफसाते शब्दो और चप्पलो की छप–छप से गूँज उठता है।

ये फुसफुसाते शब्द बहसरत लोगो के है। बहस का अर्थ ही यह है कि कुछ लोग एक मत के है, कुछ दूसर मत के। जगल के डालों से

गुजरती हवा जैसे कुछे इशारो के आशय लेकर गली मे आयी हो, उसी प्रकार बहस छिडी हुई है। बहस मे किन्ही ब्रह्मराक्षसनुमा निष्क्रिय मध्यवर्गीय, बुद्धिजीवियो के अनाकार तर्क भी है। किन्तु गलियो की आत्मा मे सार्थक शब्द बहस को निर्णय तक पहुँचा देते है। अधेर के पेट मे से ज्वालाओ की आत के समान शब्दो की धार निकलती है। जैसे ही बरगद के खुरदुरे अजगरी तने पर टार्च की रोशनी की एक मार फैल जाती है, निविड अन्धकार मे बरगद के तने के पास टार्च की रोशनी के कारण सिर्फ दो हाथ दिखाई देते है, जो बाके तिरछे वर्णों और लाल–नीले घनघोर हडताली अक्षरो वाला एक पोस्टर तने पर चिपका जाते है। इस गतिविधि के लिये मुक्तिबोध की उपमा देखिये–

मानो हृदय मे छिपी बातो ने सहसा
अँधेरे से बाहर आ भुजाये पसारी हो।

पोस्टर और उसमे छपे हुये हडताली अक्षरो के प्रति मुक्तिबोध का लगाव उनका सर्वहारा के मुक्ति प्रयत्नो और आन्दोलनो के प्रति लगाव है। यह लगाव उनकी वर्गीय पक्षधरता की सहज रागात्मक अभिव्यक्ति है।

कविता मे दूसरी ओर चॉदनी की जासूसी गतिविधियॉ बरकरार है। पोस्टर लगाने की हलचलो के कारण बरगद मे पले हुये पक्षियो की फडफड हुई और इस फडफड से चौकन्नी हो गयी एक बिल्ली। यह बिल्ली जो रजनी के निजी गुपतचरो की प्रतिनिधि है मध्यम चॉदनी मे एकाएक खपरैलो पर ठहर गयी। यमदूत पुत्री सी इस बिल्ली की सारी देह स्याह है, सिर्फ पजे श्वेत है और नाखून खून से रगे है यानि अभी–अभी एक शिकार करके आयी है। यह बिल्ली जानना चाहती है कि मकानो की पीठ अहातो की भीत, बरगद की डालो और अधेरे के कन्धों पर हडताली पोस्टर कौन चिपकाता है।

मुक्तिबोध की फैटैसी की यह अपनी खूबी है कि यथार्थ बिम्बो मे फैटेसी के कल्पना बिम्ब घुलमिल जाते हैं। जैसे गली के मुहाने के फुसफसाते शब्दों में जगल की हवाओं के इशारे के आशयो का घुलमिल

जाना। जैसे बरगद के तने पर हृदय मे छिपी हुई बातो की भुजाये निकल आना और जैसे मकानो, आहातो और बरगद की डालो के साथ अधेरे के कन्धो पर भी पोस्टर का चिपकाना या पोस्टर चिपकाते मजदूरो की जासूसी के लिये बिल्ली या चॉदनी का आना।

वर्णन करने की यह ऐसी फैटैसीयुक्त चित्रात्मकता है जिसमे यथार्थ बिम्बो के कारण कथ्य के प्रति विश्वसनीयता जन्मती है और कल्पनाजन्य प्रतीक बिम्बो से काव्यात्मक गरिमा बढती है। मुक्तिबोध अपनी फैटैसी को सदैव यथार्थ के गतार्थों के आस–पास रखते है। इसलिये क्योकि कही ऐसा न हो कि आप बिल्ली, चॉदनी, बरगद और भैरों जैसे प्रतीको को समझ ही न पाये।

कविता मे बिल्ली के साथ–साथ टेढे मुँह चॉद की ऐयारी रोशनी भी आ गई है। मकान–मकान घुसकर लोहे के गजो की जालियो के झरोखे को पार कर लिपे हुये कमरे मे जेल के कैदियो के कपडो जैसी चॉदनी फैल जाती है। यहॉ आकर गोया वह यहॉ के वासिन्दो को जेल सुझा रही हो। हडताल करोगे तो जेल मे बन्द हो जाओगे। सिर्फ चॉदनी ही नही चॉदनी के पक्ष की अन्य शक्तियॉ भी घिनौनी षडयन्त्र मे शरीक है। अंधियाले ताल के पास धिना चमगादड दल भटक रहा है। अहम् के अवरुद्ध हो जाने के कारण अपावन अशुद्ध घेरे मे घिरकर नपुशक पंख छटपटा कर ही रह जाते है। चमगादड दल बुद्धि की ऑखों में स्वार्थ के शीशे–सा प्यासा ही भटक रहा है। बुद्धि की ऑखे जब स्वार्थ के शीशे से सच्चाइयो को देखेगी और सच्चाइयो की ताब नही सह पायेंगी तो प्यासा तो रहना ही पडेगा, और चमगादड योनि मे रूपातरित हो जाना मजबूरी बन जायेगा। वर्गीय स्वार्थ ही मनुष्य का मनुष्येतर रूपातर करते है।

बुजुर्ग बरगद बाबा को सबका इतिहास मालूम है। उनकी अपनी ऊँचाई के कारण कोलतारी सडक पर खडे गॉधी और तिलक के पुतले दिखाई दे रहे है, और दिखाई दे रहा है कि उन पर बैठे दो घुघ्घू आपसे मे यह बतिया रहे है। गॉधी के पुतले पर बैठे घुघ्घू ने तिलक की प्रतिमा पर

बैठे घुघ्घू से कहा–'मसान मे मैने भी सिद्धि की है, और देखे मनुष्यो पर मूठ मार दी इस तरह ' गॉधी के पुतले के घुघ्घू की बात पूरी भी न हुई थी कि तिलक के पुतले के घुघ्घू ने देखा, एक भयानक लाल मूठ काले आसमान मे धीरे–धीरे तैरती –सी जा रही है।

अगले बद की शुरुआत होती है–

उद्गार–चिन्हाकार विकराल

तैरता था लाल–लाल।।

कविता की शुरुआत मे 'उद्गार चिन्हाकार' शब्द मीनार के विशेषणो के रूप मे प्रयुक्त हुये थे। यहॉ ये विशेषण लाल–लाल विकराल मूठ के लिये प्रयुक्त हुये है। विशेषणो के शब्द साहचर्य को दखते हुये अनुमान लगाया जा सकता है कि मूठ की कल्पना और उससे नि सृत समग्र फैटैसी के मूल मे चिमनियो, मीनारो से निकलने वाली लाल–लाल आग के बिम्ब रहे होगे। हडताल के बावजूद चिमनियॉ धुम्रमुख है, और आग के शोले उगल रही है। तो मनुष्य के मारने की मूठ वाली भूमिका निभा ही रही है।

पी गया आसमान

रात्रि की ॲधियाली सच्चाइयॉ घोट के

मनुष्यो को मारने के खूब है ये टोटके

तिलक के पुतले का घुघ्घू कह उठा– "वाह–वाह रात के जहॉपनाह। आजकल दिन के उँजाले मे भी ॲधेरे की साख है, और रात्रि की कॉखो मे सस्कृति पाखी के पख सुरक्षित है।"

षडयंत्रकारी घुघ्घू वर्ग मनुष्यो के मारने के टोटके करता है, और स्वय सस्कृति का रखवाला बनकर खुशफहमियो मे जीता है। 'अधेर मे' कविता मे भी तिलक के पुतले और गॉधी का जिक्र आया है, वहॉ तिलक की प्रतिमा विक्षिप्त हो गयी थी और नासिका से खून बह रहा था। गॉधी बोरे मे बन्द थे और दु खी थे। उनके दु ख का कारण यही था कि आजकल घुघ्घू उनको कुर्सी बनाकर बैठते है और मनुष्यों के मारने के टोटके करते है। आजादी हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है तिलक ने नारा दिया था। उन्होने काग्रेस के

अन्दर रहकर कोग्रेस की ढुलमुल और दोहरी नीतियो से सघर्ष किया था। गॉधी अपनी बुर्जुआ ईमानदारी के जनोन्मुखी थे। लेकिन इस समय का आतककारी शमनकारी शासन बुर्जुआ क्रान्ति की न्यूनतम जनवादिता का पालन भी नही कर रहा है। तिलक और गॉधी के पुतलो पर बैठे घुग्घुओ के सवाद न केवल उनका वर्ग चरित्र स्पष्ट करते है बल्कि राष्ट्रीय मुक्ति सग्राम अन्तर्विरोधो को भी हमारे सामने लाते है।

गगम मे कर्फ्यू है

जमाने मे जोरदार जहरीली छी थू है।

ये पक्तियॉ इस कविता की ध्रुव पक्तियॉ है। जहॉ फैटैसी का एक दृश्य पूर्ण हो जात है, ये पक्तियॉ प्रगट हो जाती है। कवि की कैमरा नजर पूरे शहर मे घूम रही है और देख रही है कि एक ओर तो सराफे मे कल के सट्टे की हृदय विनाशिनी चिन्ता है और दूसरी ओर इधर रात्रि की काली स्याह कढाही से अकस्मात् सत्यो की मिठाई की चासनी सडको पर फैल गयी है।

अगले बद मे चॉदनी का चरित्र खुलकर सामने आता है कि उसका मन सिर्फ संघर्षरत लोगो के आन्दोलनो की जाससूी करना ही नही है, बल्कि पतनशील पूँजीवादी सस्कृति को बनाये रखना भी है। इसलिये वह चोर उचकको की तरह नाले और झरनों के तटो पर रात बेरात मछलियॉ फॅसाती है। नाले के आस–पास रहने वाले निर्धनों के टूटे–फूटे दृश्यो मे बदमस्त कल्पना और कामी कवियो के सेक्स कष्टो की तरह फैल जाती है और इस प्रकार उनका ध्यान मूल समस्या से हटाती है।

चॉदनी कहॉ नही है? वह किग्जवे की मशहूर रात की जिन्दबी मे भी है। वहॉ की भारतीय फिरंगी दुकानो मे वह चमचमाते स्वरूप मे है बडे–बडे शोरूमो मे सुगन्धित प्रसाधनो मे, पत्रिकाओ के विज्ञापनो मे अर्द्धनग्न महिलाओं के पाजों मे चॉदनी पसरी हुई है। इस क्षेत्र मे कर्फ्यू नही है। यहॉ पाश्चात्य पूँजीवादी साम्राज्यवादी, अभिजात्य पगे जीवनमूल्य पलते है। तस्वीर का दूसरा रूप तो हरिजन गलियो में है, शहर के कोनों के तिकोनों मे छिपी

हुई चॉदनी सडक के पेडो के गुम्बदो पर चढकर, महल उलांघ कर, मुहल्ले पार कर, गलियो की गुहाओ मे दबे पॉव, खूफिया सुराग मे खेजती है कि अधेर के कन्धो पर कौन चिपकाता है ये पोस्टर।

मुक्तिबोध ने अपनी अपनी फैटेसी मे अन्तर्विरोधी कला पैटर्नो का इसतेमाल किया है। चॉदनी जा एक प्रतीक है, कही लगता है सिर्फ बिम्ब बनकर प्रस्तुत हो रही है। जैसे उसका शहर के कोनो से चलकर पेडो महलो से गुजरते हुये मुहल्ले के मुहानो तक आना एक बिम्बात्मक सघटना है, किन्तु बिल्ली मे रूपान्तरित हो जाना या पोस्टर चिपकाने वालो की खोज करना उसे प्रतीक–धर्मिता प्रदान करना है। यो इस तरह यह एक जटिल शिल्प बनता है किन्तु सवेदनात्मक उद्‌देश्य यदि पाठक के, आलोचक के सामने स्पष्ट हो तो यह जटिलता कही नही ठहरती। मुक्तिबोध की कविताओ को न समझ पाना दर असल उनकी कविताओ को न समझ पाना नही है, बल्कि उनके सवेदनात्मक उद्‌देश्यो को न समझ पाना है।

चॉदनी की गतिविधियॉ जारी है। उधर घुघ्घू ने हिचकियो की ताल पर गाना शुरू किया और टेलीफोन खभो पर थमे हुये तारो ने सट्‌टे के ट्रककाल सुरो मे थर्राना और झझनाना शुरू किया। रात्रि का काला स्याह कन्टोप पहने हुये आसमान बाबा ने डूबी हुई वानी मे हनुमान चालीसा गाना शुरू किया। श्मशन उजाडत्र पेडो की अधियाली पर लाल–लाल हिलते–डुलते चिथडो और लपट के पल्लुओं के बीच सच्चाई के अधजले मुर्दों के चिताओ की फटी–फूटी दहक मे कवियो ने बहकती कविताये गानाा शुरू किया, और सस्कृति के कुहरीले धुयें जैसे भूतों के गोल मटोल मटको जैसे चेहरो ने दुनियॉ का हाथ जोडकर नम्रता के घिघियाते स्वर मे कहना शुरू किया।

उपरोक्त पक्तियो के चार पाँच दृश्यो ने व्यवस्था पक्ष के सभी वर्गों को समेट लिया है। ट्रककाल सुरो मे व्यापारी पूँजीवादी वग्र सक्रिया है। रात्रि का काला टोप पहने हुये आसमान बाबा व्यवस्था का वह तन्त्र है जो हडताल से भयाक्रान्त हनुमान चालीसा गा रहा है। व्यवस्था के पक्षधर कवि

है जो अर्ध सत्यो पर भ्रमपूर्ण कवितायें गा रहे है, और सस्कृति के धेये से निकलने भूत है। वे बुद्धिजीवी जो नम्रता का स्वाग भरते हुये शब्दाडबर मे बुद्ध, ईसा और गॉधी की अहिसा की दुहाईयॉ दे रहे है।

बरगद के समान भैरो भी इनके छद्म से परिचित है और इन नि स्वार्थ भाषणो के असत्य को चिन्हता हुआ व्यग्य मे अपनी खतरनाक हॅसी हॅस पडता है। उसकी हॅसी मानो चॉदनी और उसके षडयन्त्रो को नगा कर देती है।

चॉदनी और उसके सहवर्गियो की हरकतो पर भैरो का अट्टहास भैरो की निम्न वर्ग जनता के साथ पक्षधरता का परिचायक है।

कविता के अगले बद मे नया दृश्य, नया स्थान, इसलिये वर्णन नये सिरे से प्रारम्भ होना चाहिये। अधियारे ताल के पास नगर को निहारने वाला एक पहाड खडा है । जिसके नभचुम्बी शीर्ष पर लोहे की शिला का एक चबूतरा है। जो लोहागी कहाता है। पास ही भग्न खण्डहरो की बीच एक बुजुर्ग दरख्त है। जिसके घने तने पर प्रेमियो ने अपनी स्मृतिया अकित की हुई है। लोहांगी की हवाये दरखत मे घुसकर पत्तो से फुसफसाकर बतियाती हैं।

वस्तु यथार्थ के सीधे–सरल चित्रण के बाद हवा और पत्तो का मानवीय कृत हो जाना फैटेसी की शुरूआत का सकेत है।

दरख्त पर खुदी प्रेमियो स्मृतियॉ की इस बात का सकेत है कि नगर के कोलाहल से दूर रहने की गरज से एकान्त कामना मे यहॉ सामान्य जन आते रहे है। सम्भवत लोहागी के चबूतरे पर आन्दोलन कर्ता अपनी मीटिग करते हैं। तभी तो लोहागी की हवाओ को मालूम है –

नगर की व्यथायें
सभाओ की कथाये
मोर्चों की तडप और
मकानो के मोर्चे
मीटिगों के मर्म राग

अगारो से भरी हुई

प्राणो की गर्म राख।

लोहागी पर अपनी मीटिग सम्पन्न करने के बाद दो छायाये गलियो मे पहुँची। ये छायाये छरहरी है। एक के हाथ मे मोटे–मोटे कागजो की (यानी पोस्टरो की) घनी–घनी भोगली है। दूसरे के हाथ मे टीन का डिब्बा है, डिब्बे मे कूँची है।

एक का नाम जमाना है, दूसरे का नाम शहर। जमाना पेन्टर है और शहर कारीगर। ये दोनो रात मे 'वाल–पेटिग' करने और पोस्टर चिपकाने निकले है। अपना काम करते हुये ये न तो सट्टे के व्यापारियो की तरह चिन्तित है, न आसमान बाबा की तरह भयाक्रान्त होकर हनुमान चालीसा गा रहे है, न मुर्दो की दहक मे बहके हुये कवियो की तरह भ्रमोत्पादिनी कविताये सुना रहे है, इौर न संस्कृति के धुये से निकले भूतो जैसे बुद्धिजीवियो की तरह नकली विनम्रता मे अहिसा का राग अलाप रहे है। ये तो एकदम तनावमुक्त है।

अपनी फक्कडता मे प्रसन्न कारीगर शहर कहता है–"बरगद की गोल–गोल हड्डियो की पत्तेदार उलझनो के ढॉचो मे पोस्टर लटकाओ। गीतो की तरह पोस्टरो को लहराओ, फहराओ, चिपकाओ।" "मजे मे आते हुये पेन्टर भी हॅसकर कहता है– "सारे पोस्टर हमने ठीक जगह चिपकाये है। तडके ही मजदूर इन्हे घूर–घूरकर पढेगे और रास्ते मे खडे लोग बाग पोस्टरों के शब्दो जिन्दगी की झल्लायी हुई आग पायेंगे।" मजे में आया हुआ पेन्टर, जमाना नामक कारीगर से कहता है– "प्यारे भाई कारीगर! अगर मै हडताली पोस्टर पढते हुये लोगो के रेखाचित्र खींच सकूँ तो बडा मजा आयेगा।"

चित्र बनाने के साधन पेन्टर कहॉ से लना चाहता है, यह भी दृष्टव्य है। वह एक ऑख बनाना चाहता है जो पोस्टर को देख रही हो। ऑख मे वह काला और लाल दो रग इस्तेमाल करना चाहता है। काले रग के लिये उसकी योजना है कि कत्थई खपरैलो से उठते हुये धुयें के रगो में आसमानी

स्याही मिलाई जाये, और लाल रग के लिये वह सुबह के किरणो के लाल रग मे आशाये घोलना चाहता है। इनसे जो ऑख बनेगी, उसकी दृष्टि जब पोस्टर पर गिरेगी तो कहो भाई कारीगर कैसा रहेगा?

कारीगर भी अपने कामरेड पेन्टर के समान कल्पना प्रवण हो उठता है। वह बताता है कि उसने भी धुये से कजलाये कोठे की भीत पर बॉस की तीली की लेखनी से राम की व्यथा कथा लिखी थी जो आज भी सत्य है। लेकिन भाई अब वक्त कहॉ है कि तस्वीरे बनायी जाये? ईच्छा तो अभी बाकी है लेकिन जिन्दगी भूरी नही खाकी है।

"जिन्दगी खाकी है" से कारीगर की मुराद यही है कि यह पुलिसिया दमन का दौर है। ऐसे मे सघर्ष पर एकाग्र रहना होगा न कि कला सृजन पर।

पेन्टर कारीगर की बात काटता है और उसके कन्धे पर हाथ रखकर साफ–साफ कहता है–चित्र बनाने के लिये समय और साधनो का होना जरूरी है। पैरो के नखो से या दण्डे के नोक से धरती की धूल मे भी रेखाये खीचकर तस्वीरे बनती है, बशर्ते की वहॉ जिन्दगी का चित्र बनाने का चाव हो।

जमाने के इस वक्तवय के माध्यम से मुक्तिबोध ने जनवदी कलासस्कृति के मूल उत्स 'जिन्दगी' को रेखांकित किया है।

कारीगर हॅस कर जमाने की बात से सहमत हो गया और उसके कथन मे अपनी बात जोडी–ठीक है चित्र बनाते समय सारे स्वार्थ त्यागे जाय। अंधेसे से भरे हुये जीने की सीढियो मे चढती उतरती जो हमारी अन्धेरे अभिलाषा है उसपर भी अकुश लगे। ऊपर के वे कमरे हमारे लिये नही है।

पेन्टर जमाना एक बार फिर नगर कारीगर की बात को काटता है कि "नही, तुम्हारी बात गलत है। उन ऊपर के कमरो पर भी हमारे सम्मिलित श्रम का अधिकार है। यही सम्मिलित श्रम का अधिकर हमारे अन्दर ऊपर को छीनने का दम भी पैदा करेगा।"

पेन्टर और कारीगर मे पेन्टर ज्यादा समझदार है, और समझदार क्यो न हो वह जमाना है अर्थात युग की चेतना। कारीगर शहर का अनुभववादी वस्तु–यथार्थ है। वर्गीय आकाक्षाओ की सीढिया, राम की व्यथा कथा के दुखते मूल और अपनी क्षमताओ का उसे तर्कसगत ज्ञान नही है। युग चेतना रूपी पेण्टर सर्वहारा वर्ग का 'वेनगाड' बनकर आन्दोलनकारी शहरी श्रमिक वर्ग को उसकी क्षमताये बता रहा है। जमाना और उपरोक्त सवादो मे पूरा नाटकीय कौशल है। थोडे ही सवादो मे दोनो पात्रो की चरित्रगत विशेषताये सामने आ जाती है। पात्रो का नामकरण चरित्रो को समझने मे मदद देता है।

अन्ततोगत्वा दोनो तय करते है कि फिलहाल चित्र नही बनाते, पोस्टर चिपकाते है

फिलहाल तस्वीरे
इस समय हम
नही बना पायेगे
अलबत्ता पोस्टर हम लगा जायेगे
हम धधकायेगे।
मानो या मानो मत
आज तो चन्द्र है सविता है
पोस्टर ही कविता है।

कविता मे शहर और जमाना नामक दोनो पात्र नेपथ्य मे चले जाते हैं। सामने रह जाता है पोस्टर। वेदना के रक्त से लिखा हुआ लाल–लाल, घनघोर शब्दो का धधकता हुआ पोस्टर। ये पोस्टर के कानो मे अपना सदेश बोलते है, छपे अच्छरो के जरिये। यह "अक्षर धडकती छाती की प्यार भरी गर्मी में भाप बने ऑसू के खुँखार अक्षर है।" सर्वहारा के कष्टजनय ऑसुओ को पोस्टर की प्यार भरी गर्मी ने सुखाकर भाप बना दिया है, और यही भाप अपने वर्ग शत्रु के विरुद्ध खॅखार अक्षरो मे बदल गयी है। तभी तो इन अक्षरो

मे ताकत है कि दमनकारी रायफली गोलियो के धडाको से टकराकर भी अक्षत है।

यही तो जमाने के असली पैगम्बर है। ये अदना से हडताली पोस्टर अपने कन्धो पर टूटते आसमान को थामने का हौसला रखते है। इन पोस्टरो मे ही मानवता की रक्षा करने का दायित्व बोध है। ये पोस्टर आदमी की दर्द भरी पुकार को जानते है। तभी तो कहते है–

आदमी की दर्द भरी गहरी पुकार सुन
पडता है दौड जो

आदमी है वह खूब
जैसे तुम भी आदमी
वैसे मै भी आदमी
बूढी मॉ के झुर्रीदार
चेहरे पर छाए हुये
ऑखो मे डूबे हुये
जिन्दगी के तजुर्बात
बोलते है एक साथ
जैसे तुम भी आदमी
वैसे मै भी आदमी,
चिल्लाते हैं पोस्टर।

पोस्टरों ने आदमी के जी की पुकार सुनकर दूसरे आदमियो को दौडना सिखाया है। आदमी के हृदय की करुणा की रिमझिम सभी अमोघ अस्त्रो से कही शक्तिशाली होती है। धरती का नीला पल्ला कॉपता है, आसमान कॉपता है। आदमी की पीडा की काली झडी जब बरसती है तो विचारो को विक्षोभी तडित भी कराहने लगती है। क्रोध की गुहाओ का मुॅह खोले शक्ति के पहाड दहाडने लगते है। मुई खाल की सास से लोहा भी भस्म हो जाता है। पोस्टर के जरिये जब मानवीय पीडा का गायन होता है तो करुणा के रोगटो में सन्नाता हुआ आदमी दूसरे आदमी की मदद के

लिये दौड, सगठित होने लगता है, जुझारू हो जाता है। इतना ही नही, आदमी के दौडने के साथ–साथ जमीन, जमाना और आसमान सभी दौडने लगते है।

पोस्टर की क्षमता के विषय मे इस लम्बे वक्तव्य के बाद कविता अब समाप्त होना चाहती है। अतिम बन्द मे बरगद और भैरो अपनी–अपनी पीठ पर पोस्टर धारण किये हुये सवादरत दिखाई देते है। दोनो मे बहस छिडी हुई है कि सुबह कब होगी, मुश्किले दूर कब होगी?

यह जोरदार जिरह चल ही रही है कि रात धीरे–धीरे समाप्त होने लगती है, गगन की कालिमा को चीरकर समय का कण–कण तडित ऊॅजाले की बूॅद–बूॅद बनकर चूने लगता है, और इस आशावादी प्रकाश के आगमन के साथ ही कविता समाप्त हो जाती है। –मुश्किल होगी दूर कब'– का कोई उत्तर मुक्तिबोध ने नही दिया, अलबत्ता तडित उजाले के रूप मे उत्तर का संकेत अवश्य दिया है। पूरी कविता वर्ग सघर्ष के दौराने होने वाले राजनैतिक षडयन्त्रो का लेखा–जोखा श्रेष्ठ नाटकीय बनावट मे प्रस्तुत करती है। पूॅजीवादी मनोवृत्तियो के प्रतीक के रूप मे चॉदनी का चरित्र अपने पूर्ण विश्लेषण के साथ प्रस्तुत हुआ है। हरि नारायण व्यास 'चॉदनी' को आधुनिकता मानते ह। उनके अनुसार– "आधुनिकता को उन्होने कृष्ण पक्ष मे उदित हाने वाली क्षयी चन्द्रमा की चॉदनी कहा है। और इसीलिये 'चॉद का मुॅह टेढ़ा है'। इस चॉद की चॉदनी मे क्षीड सौन्दर्य, षडयन्त्र, राजनीतिक उथल–पुथल, उल्लू और शूद्रों के सास्कृतिक विद्रोह का प्रतीक, भैरो आदि सब मौजूद रहते हैं। चॉदनी को आधुनिकता कहने से बात नही बनती। आधुनिकता तो सर्वहारा वर्ग के सपनो में भी है। चॉदनी को निश्चित रूप से पतनशील पूॅजीवादी सभ्यता कहने मे भी कोई सकोच नही होना चाहिये।

जमाने और शहर के रूप मे पेन्टर और कारीगर का चरित्र चित्राकन भी अपनी पहचान बनाता है। डॉक्टर सुरेन्द्र प्रताप की यह टिप्पणी सरलीकृत लगती है, जहॉ वे कहते है— "मुक्तिबोध कलाकार और कारीगर में भेद

नही करते।[2] दोनो के चरित्र और समझ मे भारी भेद है। भेद न होता तो पेंटर कारीगर के कथनो का प्रतिवाद न करता। दरअसल पेन्टर की समझ निश्चित रूप से इस समय कारीगर से जयादा है। वह बात दूसरी है कि क्रान्ति कारीगर ही करते है। पेन्टर और कारीगर के माध्यम से मुक्तिबोध ने सचेतन बुद्धिजीवी वर्ग और सघर्षरत श्रमिक वर्ग की कामरेड शिप का सकेत दिया है।

पूरी कविता मे सर्वथा मौलिक और नवीन बिम्बो एव प्रतीको का इस्तेमाल हुआ है बिम्बो के क्रमश प्रतीक बनने की प्रक्रिया इस कविता मे प्राय देखी जा सकती है। छतो, महलो, कमरो से गजरती हुई चॉदनी प्रारम्भ मे बिम्ब धर्मी रहती है। तदन्तर बिल्ली मे रूपान्तरित होकर प्रतीकार्थ देने लगती है। 'चॉद का मुँह टेढा है' शीर्षक कविता अपने सम्पूर्ण कलेवर मे ही वर्ग सघर्ष की क्रान्ति चेतना से आपूरित है।[3] क्रान्ति का पैरोकार पोस्टर इस कविता की केन्द्रीय शक्ति है। एव मुक्तिबोध के सवेदनात्मक उद्देश्यो का मूल है।

अच्छे और उससे अधिक अच्छे द्वन्द्व का तनाव

'कवि' (सम्पादक विष्णु चन्द्र शर्मा) के अप्रैल 1957 अक मे – 'कविता' शीर्षक से मुक्तिबोध की जो कविता प्रकाशित हुयी थी, उसी का शीर्षक बदलकर उन्होने 'ब्रह्मराक्षस' कर दिया। कविता के साथ उसमे मुक्तिबोध की कविता पर डॉ0 नामवर सिह की एक टिप्पणी भी प्रकाशित हुयी थी। अपनी टिप्पणी मे नामवर सिह ने लम्बी कविताओ के शिल्प पर विचार करते हुये लिखा –

> "अप्रैल कवि डब्ल्यू बी0 यीट्स ने कही लिखा है कि जब हम अपने से बाहर सघर्ष करते है तो कथा–साहित्य की सृष्टि होती है। और अपने आप से लडते है तो गीत काव्य की। अपने आपसे लडते पर जो गीतकाव्य पैदा होता है, वह नि सन्देह छायावादी गीत नही। बल्कि आज की कविता का गीत है। लेकिन एक तीसरी स्थिति भी होती है, जब हम अपने से लडते हुये बाहरी स्थिति से भी लडने की कोशिश करते है और एक विशेष प्रकार की लम्बी कविताये पैदा होती है जो आधुनिक कविता की सबसे बडी उपलब्धि है। निराला की 'राम की शक्ति पूजा' 'सरोज–स्मृति' आदि लम्बी कवितायें इसी प्रकार के सघर्ष से उत्पन्न हैं। मुक्तिबोध की लम्बी कवितायें उसी परम्परा मे आती है"।

'ब्रह्मराक्षस' 'मुक्तिबोध' की एक प्रतिनिधि कविता है। इसमें 'शहर के उस ओर खण्डहर की तरफ पारित्यक्त एक सूनी बावडी का दृश्य शुरू मे ही उभरता है जिसके भीतरी ठण्डे अन्धेरे मे गहरा जल है। बावडी की कई सीढियॉ उसके पुराने ठहरे जल मे डूबी हुई हैं। प्रसंगानुकूल यहॉ पर जो अप्रस्तुत योजना की गई है, वह है

> समझ मे आ न सकता हो
> कि जैसे बात का आधार

लेकिन बात गहरी हो

बावडी घिरी हुई है औदुम्बर की डालियो से, जिसकी जिसकी शाखो पर घुग्घुओ के घेसले लटके हुये है उसके लिये कवि तीन विशेषणो का प्रयोग करता है–पारित्यक्त, भूरे, गोल। अगली पक्तियॉ है–

विगत सतपुण्य का आभास
जंगली हरी कच्ची गन्ध मे बसकर/हवा मे तैर
बनता है गहन सन्देह
अनजानी किसी बीती हुई उस श्रेष्ठता का
जो कि दिल मे एक खटके–सी लगी रहती

बावडी के समग्र वितान पर यह कवि की प्रतिक्रिया है। उसे देखकर कवि के मन मे कई तरह के भाव, सन्देह, सशय जगह बनाते है। मौन, औडम्बर के पास ही 'बावडी की इन मुडेरो पर/मनोहर हरी कुहनी टेक बैठी है टगर/ले पुष्प–तारे श्वेत।' लेकिन कवि मन प्रतिरूपित होता है लाल फूलो लहकता झौर लिये कनेर से।' वह आमत्रित करता है –एक खतरे का सामना करने के लिये जबकि

अधियारा खुला मुँह बावडी का
शून्य अबर ताकता है

एक विशाल कैनवस पर कोई कलात्मक चित्र बनाया जा रहा हो जैसे, पृष्ठभूमि बडी है। पर ध्यान कवि का एकाग्र है– बावडी पर । बावडी की उन घनी गहराईयो मे शून्यता है। उसी मे बैठा हे काव्यनायक 'ब्रह्मराक्षस'। उसके भीतर से उमडती गूँज की भी गूँज/बडबडाहट शब्द पागल से। कवि अनुमान करता है कि अपने तन की मलीनता को दूर करने के लिये ब्रह्मराक्षस प्रतिपल प्रयत्नशील है। मानों किसी पाप की छाया उसपर पड गयी है और दिन–रात उसे ही स्वच्छ करने के लिये बावडी की सीढियो पर उसके ठहरे जल से घिस रहा है देह/हाथ के पजे बराबर, बॉह–छाती मुँह छपाछप/ वह खूब साफ कर रहा है पर मैल है कि कायम है। ब्रह्मराक्षस स्नान करने के साथ–साथ स्त्रोत पाठ कर रहा है। मंत्रोच्चार भी

करता जा रहा है। कवि के मन मे सशय होता है कि कही वह शुद्ध विकृत गालियो का ज्वार तो नही । ब्रह्मराक्षस के मस्तक पर गहरी लकीरे बन रही है। कही वे आलोचनाओ के सूत्र तो नही है। उसका अखण्ड स्नान पागल प्रवाह की तरह है क्योकि प्राण मे सवेदना है स्याह।

'ब्रह्मराक्षस' अपनी गरिमा और पाण्डित्य को लेकर आत्ममुग्ध है। जब कभी बावडी के भीतर सूर्य की किरणे प्रवेश करती है तो उसे लगता है–सूर्य ने झुककर उसे ही नमस्कार किया है और चन्द्रमा की शीतल किरणे बावडी की दीवारो से टकराती है तब ब्रह्मराक्षस समझता है–'वन्दना की चॉदनी ने ज्ञान गुरु माना उसे।' और भी –

अति प्रफुल्लित कण्टकित तन–मन वही
करता रहा अनुभव कि नभ ने भी
विनत हो मान ली है श्रेष्ठता उसकी

ब्रह्मराक्षस और भी दूने उत्साह से अपने ज्ञान या कहे रटन्त विद्या का चमत्कार दिखाने लगता है। उसके मुख से दुगुने भयानक ओज से सुमेर बेबीलोन की जनकथाये कही जाती है। वैदिक ऋचाओ का वह जोर–जोर से पाठ करता है। छन्दस, मन्त्र, थियोरम यहॉ तक कि मार्क्स, एजेलस, रसेल, टॉयन्वी, हीडेग्गर, स्पेगलर, सार्त्र, गॉधी सबके विचारो से वह परिचित है, उनके सिद्ध अन्तो से सुपरिचित है ब्रह्मराक्षस। उन सबका व्याख्यान वह बावडी की सीढियो पर स्नान करते हुये जोर–जोर से कर रहा है । विडम्बना यह है कि ब्रह्मराक्षस की सारी आवाजे बावडी की दीवारो से टकराकर पुन उसी के पास लौट आती है। उसका हर शब्द अपने प्रतिशब्द को काट देता है– ब्रह्मराक्षस का वह रूप अपने बिम्ब से जूझ रहा है। विकृत आकार मे उसकी कृति उसके ही खिलाफ जा रही है। और ध्वनि लड रह रही है अपनी प्रतिध्वनि से यहॉ। बावडी के भीतर से निकलती उसकी परस्पर टकराती ध्वनियॉ सुनने वाले कौन है? बावडी की मुडेर पर मनोहर हरी कुहनी टेके श्वेत पुष्प तारे वाले टगर और करौदी के फूल जो

सुकोमल है । उन ध्वनियो को सुनते है वे ही प्राचीन औडम्बर साथ ही 'ब्रह्मराक्षस' का कवि भी।

सुन रहा हूँ मै वही

पागल प्रतीको मे कही जाती हुई

वह ट्रैजेडी

जो बावडी मे अड गयी।

'ब्रह्मराक्षस' जैसा कि नाम से स्पष्ट है, ब्रह्मज्ञान मे पूर्ण है। वह एक समृद्ध बौद्धिक है। उसका तर्क, ज्ञान , असदिग्ध है। पर वह जिस लोक का निवासी है, जिस दुनियॉ मे वह रह रहा है वह लोक से विमुख है, एक निराला लोक है वह। बावडी की सीढियॉ उसे प्रतीकित करती है।

खूब ऊँचा एक झीना सावला/उसकी अधेरी सीढिया

वे एक अभ्यान्तर निराले लोक की

ब्रह्मराक्षस मत्रोच्चार करते हुये बावडी की सीढियो पर कभी ऊपर चढता है, कभी नीचे उतरता है। उसके पैरो मे इस प्रक्रिया मे, चढने और लुढकने की प्रक्रिया मे मोच आ जाती है, छाती मे अनेक घाव हो गये है। कवि विचार करता है –

बुरे–अच्छे बीच के सघर्ष से भी उग्रतर

अच्छे व उससे अधिक अच्छे बीच का सगर

गहन किचित् सफलता!

अति भव्य असफलता ।।

x x x x

आत्मचेतन सूक्ष्म नैतिक मान..

. .. . अतिरेकवादी पूर्णता की तुष्टि करना

कब रहा आसान

मानवी अर्न्तकथाये बहुत प्यारी है

ब्रह्मराक्षस असाधारण है। उसने जो ज्ञान अर्जित किया है, वह उपयोगी है। पर उसकी त्रासदी यह है कि उसकी उपलब्धियॉ पागल प्रतीको

मे तब्दील होकर रह गयी है। वह ज्ञान प्राप्ति के लिये किस गुरू के पास नही गया। समीकरणो के गणित की सीढियॉ चढता–उतरता रहा। उसे सफलता मिली पर जितनी मिलनी चाहिये थी उससे बहुत बहुत कम। ब्रह्मराक्षस के सगी सूर्य, चन्द्र, तारे रहे। व ही उसके वर्णो पर श्वेत–धौली पट्टियॉ बॉधते रहे। अन्त मे बावडी के भीतर–

अनगिन दशमलव बिन्दुओ के सर्वत
पसरे हुये उलझे गणित मैदान मे
मारा गया, वह काम आया
और वह पसरा पडा है.
वक्ष बाहे खुली फैली एक शोधक की।

ब्रह्मराक्षस का व्यक्तित्व कोमल स्फटिक प्रासाद सा भव्य है, महान् है। वह अध्यधिक सश्लिष्ट है। उसका अन्तर्लोक प्रशस्त है। उस व्यक्तित्व प्रासाद के भीतर जीने है, जीने की एकान्तवासी सीढियॉ है। उसकी यात्रा भीतर से भीतर तक की रही। मुक्तिबोध प्रसताव करते है–

वे भाव–सगत तर्कसगत
कार्य समाजस्य योजित
समीकरणो के गणित की सीढियॉ
हम छोड दे उसके लिए।

क्योकि युग बदल गया है। यह कीर्ति व्यवसायी का युग है। इस युग मे लाभकारी कार्य मे धन लगाया जाता है। धन से धन कमाया जाता है। धन मे ही सबका हृदय और मन लगा है। और 'धन अभिभूत अनत करण मे से सत्य की झाई निरन्तर चिलचिलाती।'

कीर्ति व्यवसायी आत्मचेतस् है उसके भी व्यक्तित्व के प्राणमय अनबन है, उसका विश्व चेतना से बनाव नही है महत्ता के चरण में विषादाकुल मन यह कीर्ति व्यवसायी का मन है। मुक्तिबोध कहते हैं कि यदि उन्हे ब्रह्मराक्षस से मिलने का अवसर होता तो व्यर्थ उसकी स्वयं जीकर बताता मै उस

उसका स्वय का मूल्य उसकी महत्ता।' उसकी महत्ता का मुक्तिबोध जैसे कवियो के लिये क्यो मूल्य है। क्या उपयोग है –

'उस आन्तरिकता का बताता मै महत्व।'

ब्रह्मराक्षस की त्रासदी को अगली तीन पक्तियो मे मुक्तिबोध अविस्मरणीय रूप देते है

पिस गया वह भीतरी
और बाहरी दो कठिन पाटो बीच,
ऐसी ट्रैजेडी है नीच।।

यह त्रासदी व्यजक है, इसका स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। भाववाद और भौतिकवाद साथ–साथ सम्भव नही है। व्यक्तिवाद और समाजवाद अलग–अलग रास्ते हैं। सामन्जस्य का प्रयास अन्तत व्यर्थ सिद्ध होता है। ब्रह्मराक्षस की विडम्बना सबक है। 'वह किस तरह कोठरी के भीतर अपना गणित हल करता रहा और मर गया। वह सघन झाडी के कटीले तम–विवर मे मरे पक्षी सा/विदा ही हो गया। वह ज्योति अनजानी सदा को सो गयी।

मुक्तिबोध एक सवाल दुहराते है–'यह क्यो हुआ? यह क्यो यह हुआ? कविता के पाठको को सोचने के लिये मुक्तिबोध का यह सवाल विवश करता है। इस कविता का अंत इस पक्तियो से होता है–

मै ब्रह्मराक्षस का सजल–उर शिष्य होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य
उसकी वेदना का स्रोत सगत
पूर्ण निष्कर्षो तलक पहुँचा सकूँ।

इस कविता में ब्रह्मराक्षस प्रतीकवत् आया है। वह कलाकार, विचारक, कवि या बृद्धिजीवी का वह पक्ष है, जो निस्सग निष्क्रिय रहकर सिर्फ समाज के रोगो की छानबीन तो करता है, आक्रोश भी समय–समय पर व्यक्त करता है, किन्तु क्रिया में वह पश्चात्पद है। डॉ0 चंचल चौहान के मत मे वह दस्तोवस्की के डेविल्स का शिगालेव जैसा थ्यूरिस्ट है, सिरफिरा है। इसमे बावड़ी भी समृद्ध ज्ञान–सवेदना वाले बुद्धिजीवी का उलझा हुआ अन्तर्लोक

है। स्वय मुक्तिबोध के अन्तर्लोक से उसका गहरा साम्य है। वह परित्यक्त सूनी बावडी है। विष्णु चन्द्र शर्मा ने 'ब्रह्मराक्षस' को एक मिथ कहा है—'वह हजारो पीढियो के पुजीभूत ज्ञान का प्रतीक है। मुक्तिबोध उसका सजल उर शिष्य होना चाहते है, इस उद्देश्य से कि उसकी सगत वेदना के स्रोतो को पूर्णता दे सके, निष्कर्ष तक पहुँचा सके। इसमे परम्परा और आधुनिकता के अन्त सम्बन्ध का वैज्ञानिक विवेक ढूँढा और प्राप्त किया जा सकता है।

प्रसगवश, ब्रह्मराक्षस का शिष्य शीर्षक मुक्तिबोध की कहानी भी पठनीय है। इस कहानी मे बारह वर्षो तक अध्यापन करने के बाद, जब नायक के गुरु के भव्य भवन से विदा का अवसर आता है, तब गुरू अपना परिचय देते है और शिष्य से स्नेह की माग करते है—

शिष्य। स्पष्ट कर दूँ कि मै ब्रह्मराक्षस हूँ किन्तु फिर भी तुम्हारा गुरू हूँ। मुझे तुम्हारा स्नेह चाहिये। अपने मानव जीवन मे मैने विश्व की समस्त विद्या को मथ डाला किन्तु दुर्भाग्य से कोई योग्य शिष्य न मिल पाया कि जिसे मै समस्त ज्ञान दे पाता। इसीलिये मेरी आत्मा इस ससार मे अटकी रह गयी और मै ब्रह्मराक्षस के रूप मे यहाँ विराजमान रहा।

मुक्तिबोध ने इस कहानी मे गुरू को शिष्य से मिला दिया है। इसमे गुरु प्रवृत्तिवादी है, साधु नही। वह शिष्य को अज्ञान से मुक्ति दिलाता है। ज्ञान देकर स्वय उसकी भी आत्मा को मुक्ति मिल जाती है। इसीलिये ब्रह्मराक्षस का शिष्य एक सुखान्त रचना है। लेकिन ब्रह्मराक्षस कविता एक त्रासदी है। इसमें गुरु का ज्ञान पागल प्रतीको मे छिप गया है। वह बुदबुदाता रहता है। प्रकृति के उपादान उसकी ध्वनियाँ सुनते है। ध्वनियाँ परस्पर टकराती हुई एक दूसरे को काटती हुई अन्तर्विरोधी ध्वनियाँ है। कहानी में विशाल भवन का दृश्य वर्णित है, जबकि कविता मे बावडी की कल्पना की गई है।

कविता मे मुक्तिबोध की मार्क्सवादी विचारधारा अधिक स्पष्टतर है। डॉ० चचल चौहान बावडी की मुडेर पर लाल फूलों वाले कनेर के लहकते झौर का उल्लेख करते है। उनमे 'लाल चिन्ता' की रुधिर सरिता दीवारो पर

प्रवाहित होती है। रवि निकलता है। यहाँ 'लाल चिन्ता' इस देश के गरीबो के शोषित रुधिर की चिन्ता है। जिसकी वेदना और जिसका रग कवि के मनस्तबो का अग बन गया है। ब्रह्मराक्षस परित्यक्त खूनी बावडी/के भीतरी ठण्डे अंधेरे मे बैठा है। बावडी उसका अन्तर्मन है और ठण्डा अधेरा निष्क्रियता की अर्थध्वनि से युक्त है। उसका जटिल भाव–बोध और आत्मसघर्ष ऐण्टीथीसिस के सघर्ष्ज्ञ–प्रतीको मे व्यक्त हुआ है। 'बावडी के घेर/डाले खूब उलझी है' यह उलझन विगत और आगत की ऐण्टीथीसिस से उपजी है। उसका संघर्ष है। यह उस ऐण्टीथीसिस के सघर्ष को भी प्रतिरूपित कता है। जो यथास्थितिवाद और प्रगतिशीलता के बीच का सघर्ष है।[110]

'ब्रह्मराक्षस' आरम्भ मे ही ढगर के सफेद और कनेर के लाल फूलो की चर्चा हुई है। डॉ0 चचल चौहान इस सन्दर्भ मे सवाल करते है कि ये श्वेत पुष्प और लाल फूल क्या है? उनका समाधान है कि मुक्तिबोध के काव्य मे श्वेत रग शोषण परम्परा से जुडे सफेदपोश मध्यम वर्ग की विचारधारा के अर्थ मे और लाल रग मार्क्सवाद विचारधारा के अर्थ मे कई बार प्रयुक्त हुये है। शोषणा–परम्परा टगर है और उसकी ऐण्टीथीसिसस लाल फूलो वाली कनेर। यह नई विचारधारा का प्रतीक है। वह बुलाती एक खतरे की तरफ। स्वय कवि भी आत्मलोचन करता है क्योकि वह भी मध्यम वर्ग से खुद का नाभिनालबद्ध महसूस करता है। क्या वह भी असली खतरे से बच–बचाकर अब तक केवल बौद्धिक जुगाली ही नही करता रहा है।?

अभिव्यक्ति यदि सच्ची और खरी हो तो वह खतरे से खाली न होगी। पूँजीवादी व्यवस्था मे अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता एक आकर्षक प्रचार मात्र है। मुक्तिबोध इस व्यवस्था की विसगतियो से सुपरिचित है। उन्होने अभिव्यक्ति के खतरे उठाने की बात अधेरे में' कविता मे की है। वहॉ वे खुलकर बाहर आते है–कविता मे कहने की आदत <u>नहीं/पर</u> कह दूँ/'वर्तमान समाज मे

चल नही सकता/पूँजी से जुडा हृदय बदल नही सकता/अधेरे मे एक सकल्प धर्मिता है–

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होगे
तोडने ही होगे मठ और गढ सब

अधेरे मे एक पूरी क्रान्ति प्रक्रिया घटित होती है। वहॉ आत्म–सघर्ष सगत–निष्कर्ष पा लेता है। जबकि ब्रह्मराक्षस प्रशस्त ज्ञान काड की लोक–विमुखता का ज्वलन्त दस्तावेज है। यहॉ बिमबो और प्रतीकों मे बौद्धिक विश्व के त्रिशकुपने उसके अन्तर्विरोधो का आख्यान है। वह किन्ही अशो मे आत्मपरक भी है परन्तु कुल मिलाकर गहन चिन्तन और उदात्त की उपलब्धि के लिये आतुर होने के कारण 'ब्रह्मराक्षस' एक सघन शिल्प सरचना की महत्वपूर्ण प्रबन्ध कविता है। इसमे प्रवाहपूर्ण भाषा सरचना, लयबद्ध पद–विन्यास, स्वरो का आरोह–अवरोह कवि के विचार सघर्ष की तीव्रता को ही प्रतिरूपित करते है।

साराश यह है कि ब्रह्मराक्षस एक सष्लिष्ट सरचना है। इसमे प्रचीन और नवीन परम्परा और आधुनिकता के द्वन्द्व पर भी विचार हुआ है। अपने समय मे विरोधी विचारधाराओ से मार्क्सवाद की टकराहट की अनुगूँजे भी इसमे सुनी जा सकती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का रैक्व (अनामदास का पोथा) शास्त्रज्ञान की उपलब्धि करता है लेकिन उसके ज्ञान के वास्तविक परीक्षण के लिये गुरु उसे लोक मे जाने की प्रेरणा देते है। शास्त्रज्ञान अकर्मण्य काव्य–शास्त्र विनोद की वस्तु नही है, वह दुनिया को बेहतर बनाने का सकल्प बने, ज्ञानात्मक सवेदना हो या निवेदनात्मक ज्ञान–व्यक्तित्व को निष्क्रिय बनाने का साधन नही, मनुष्य के सपनो को साकार करने वाले प्रयास मे ही सार्थकता पाता है। यही 'ब्रह्मराक्षस' का ध्वनयर्थ है।

"भूल–गलती' विशेषता"

इस प्रकार की कविताओ मे आत्मचेतन की खोज और व्यक्तित्व के परिष्कार का प्रयत्न दीख पडता है, उनमे ही कवि सामाजिक सन्दर्भों की भूमिका पर भी खडा दिखलायी देता है। वह भौतिक परिवेश से सघर्श भी करता है और उसी से अपनी लिए जीवनी शक्ति भी प्राप्त करता है। भूल7गलती कविता मे कवि अवसरवादी और गलत व्यवस्था पर तीखा प्रहार करता हुआ, उससे सघर्ष करता हुआ आस्थावान व्यक्तित्व लेकर आता है। इस कविता मे भूल–गलती शहशाह की तरह दिल के आसन पर बैठी है और उसके समक्ष ईमान कैद करके लाया गया है। दरबर मे एक भी ऐसा नही जो ईमान का पक्ष ले सके। सभी अवसरवादी, वर्थी और सुविधा भोगी है, भूल–गलती के जरखरीद गुलाम है। यहॉ इस कथ्य की व्यजना मे आत्म चेतन की खोज भी है, व्यक्ति का परिशोधन भी है और सामाजिक विसगतियो पर तीखा प्रहार वार भी।

यो मुक्तिबोध की कविताओ मे वर्तमान परिवेश मे व्याप्त अभाव, तनाव, घुटन, षडयत्र स्वार्थ, उच्छृखल वृत्तियॉ, हिसात्मक स्थितियॉ अचानक सिर पडी परेशानियॉ और कितनी ही मृत्युमुखी स्थितियो का अकन है। इनमे जीवन का वैविध्य भी है और विरोध जनित स्वर भी है तो अधेरी व अभिषापित–तापित जिन्दगी और त्रासद स्थितियो से उबरकर प्रकाशोन्मुख आस्था भी है। जहॉ विरोध है वहॉ कोई लाग–लपेट नही है। भूल–गलती जैसी कविता के सृजन के दौरान कवि वातावरण के प्रति प्राय सजग रहा है और विचित्रता यह है कि यह वातावरण डरावना और घिनौना अधिक है। इसे पढकर मन को शान्ति कम, पैरो को काटती–तपाती आग ज्यादा महसूस होती है। लगता है जिन्दगी की जडों मे कोई लग गयी है, उसे हटाकर ही आदमी अपनी असलियत के प्रति सचेत हो सकता है। मुक्तिबोध की भूल–गलती जैसी कविताओ मे आये त्रासद और दहसत भरे परिवेश को देखकर ऊपर से तो यह लगता है कि कवि जटिल है, आतकित कर रहा है। भटक रहा है तिलस्मी वातावरण मे, पर भीतर से देखे तो यह सन्दर्भ

और तत्सम्बन्धी प्रतीक अपना अर्थ खोलने लगते है। वस्तुत कवि इन विभीषिकाओ से मानवता को मुक्त करना चाहता है। जो उसे छल रही है, भीतर ही भीतर काट रही है इसके लिए वह पहले तो आदमी को सजग करता है, परिचित कराता है उस परिवेश से जिसमे वह घिर गया है।

'मृत्यु और कवि'

'मृत्यु और कवि' कविता मुक्तिबोध के प्रारम्भिक दिनो की कविता है। इससे मुक्तिबोध के चरम विकास और काव्य सौष्ठक को समझने की शिक्ति मिलती है। कवि कहॉ से प्रारम्भ कर रहा है। यह काल है जब मुक्तिबोध गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही से प्रभावित थे। शिल्प और कथा और कथा दोनो ही दृष्टियो से।

यहॉ किसी व्यक्ति के मृत्यु का चित्रण है। प्रकृति गहन अन्धकारमय होकर मृत्यु का भयावह वातावरण प्रस्तुत कर रही है। रात घनी है चुप्पी छायी हुयी है। लोग सो रहे है। आकाश शान्त है। नदी ध्वनि के साथ बह रही है। मृत्यु की बेला आ पहुॅची है।

मृत्यु का काव्य 'निराला' मे भी मिलता है। शोक गीतो के रूप मे, निराला की सरोज स्मृति, या 'मरा हूॅ हजार' शरण तब चरा पाई शरण।

यह घर 'रहने भर के लिए बहुत छोटा है अर्थात हमारी व्याप्ति बहुत कम रह गई है। दीपक का प्रकाश है वह भी बहुत धीमा। बदलू बेहोश है। पिता अधमरा है। मॉ दुखी है धडकन से रहित है, प्रकृति पानी बरसा रहा है। इसे ही देखकर क्षणिक जीवन नाशवानता का बोध होता है।

निराशा पर आशा विजय प्राप्त करती है। कवि को सम्बोधित कर मुक्तिबोध कहते है। इस समय भावुक होकर मत घबराओं। हे निर्मल पुरुष! इस भयानक काल में तुम स्थिर रहो, आजाद रहो। यह कष्ट महान पूजा है। अपने अन्तर मन के प्रकाश को जागृत करो। जीवन गहन है, मृत्यु अधिक विस्तृत है।

जीवन नाशवान है। नाश होना ही इसकी गति है। यही विकास का क्रम है। यदि मनुष्य अत्यत दीर्घजीवी होता तो भी वह दुखी ही रहता। अमर होना सुख का लक्षण नही है। उत्पत्ति, प्रलय और नाश यह प्रकृति का नियम है। अत सब नश्वर है, नाशवान है इसलिए यह प्रेममय व्यवहार जगत का रहता है। इस क्षणिक जीवन को पूरी रचनात्मक के साथ जीकर सुन्दरता को प्राप्त करो। जीवन सत्य–शिव–सुन्दर का गीत कवि को लिखना चाहिए जो सभी मनुष्यो के कठ मे शिव रहा है। इस इसर्जनशीलता मे जीवन सार्थक हो उठेगा।

"मैं उनका ही होता"

इस कविता मे मुक्ति के बोध मे द्वन्द्वात्मक दृष्टि से अपनी समृद्धि का और साथ ही साथ मनुष्यता की वृद्धि का वर्णन किया है। इनके अनुसार रूप और कथा की एकता जिनके माध्यम से मिलती है कवि वस्तुत उसी को समर्पित होता है। जो मर्यादा स्थिर करते है या समाज मे सन्तुलन को बनाये रखने का सामाजिक मूल्य और नियम बनाते है। वे मर्यादाएं और नियम बनाने और स्थिर करने वाले सस्कारो और पारिवारिक सस्कृति के माध्यम से भावनाओं और विचारो से जुडे हुये होते है। वस्तुत शब्द अर्थात आकार–प्रकार मेरे अपने होते है। लेकिन मूल प्रेरणाशक्ति और उन महान पुरुषो या प्रेरणा प्रदान करने वाले व्यक्तित्वो के होते है। लेकिन रास्ता जिस पर मुझे चलना है उसका चुनाव मै करता हूँ और चलने वाला भी मै ही होता हूँ शुरुआत और अन्त भी मेरी ही होती है। लेकिन यह सब जो कुछ घटित होता है उनकी इच्छा से होता है। अर्थात् हर मार्ग पर चलने वाले की दूसरे के भावों के अनुसार ही अपने भावो के अनुसार क्रियाशील होना चाहिए नही तो कोई प्रयोग की वस्तु बनकर रह जायेगा। यद्यपि इस प्रकार से जो मेरा अन्त चाहते हैं। उनके इस ओछेपन से थोडे बहुत संकेतो को सहता हुआ भी अन्त मे उनसे बडा ही हो जाता हूँ और उनके छिछलेपन के कारण जो वेदना और कष्ट मुझको मिलता है उससे मेरे भीतर गहराई उत्पन्न होती है।

"बेचैन झील"

इस कविता में कवि अपने भीतर की बेचैनी और सामाजिक जीवन के प्रति अपनी जिम्मेदारी को बेचैन झील के प्रतीक से व्यक्त कर रहा है। वस्तुत इस प्रतीक के द्वारा वह यह कहना चाहता है कि पूरे देश मे या समाज मे जो एक प्रकार की व्याकुलता है या एक प्रकार की प्यास है वह इस प्रकार या तो मुझे ही अथवा इस झील के पानी की तरह दमकती हुई जिसमे वस्तुत पानी सूख गया है केवल पानी का भ्रम बना हुआ है मालुम पडे। जिसमे देखने पर एक सफेद बेचैनी दिखाई देती है केवल इन्कार या सूनापन ही प्राप्त होगा। इस लिए कवि अपने मन को उद्वेलित झील की तरह से खोज और प्यास अर्थात जिज्ञासु कहता है।

---

1 कलम–मार्क्स विशेषाक अप्रैल 1984
2 मुक्तिबोध
3 मुक्तिबोध रचनावली–2, पृ0 26, 27
4 मुक्तिबोध – 'चाद का मुँह टेढा है' पृ0
5 मुक्तिबोध
6 मुक्तिबोध रचनावली–चार, पृ0 99
7 वही
8 निराला
9 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 254
10 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 228
11 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 230
12 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 233
13 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 242
14 वही, पृ0 247
15 वही, पृ0 247
16 चाँद का मुँह देढा है, पृष्ठ 299
17 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 266
18 चाँद का मुँह देढा है, पृष्ठ 270
19 वही,
20 चाँद का मुँह देढा है, शमशेर बहादुर सिह, पृ0 28
21 मुक्तिबोध की सार्थकता, श्रीकात, आलोचना–6
22 कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिह, पृ0 235–236
23 मुक्तिबोध का आत्म सघर्ष और उनकी कविता–2, रामविलास शर्मा, धर्मयुग, 28 दिसम्बर, 1969
24 वही,
25 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 300
26 वही, पृ0 261
27 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 263
28 चॉद का मुँह टेढा है, पृष्ठ 263
29 कल्पना, नवम्बर 1964
30 मुक्तिबोध का आत्म सघर्ष और उनकी कविता–2, रामविलास शर्मा, धर्मयुग, 28 दिसम्बर, 1969

31 मुक्तिबोध का आत्म सघर्ष और उनकी कविता–2, रामविलास शर्मा, धर्मयुग, 28 दिसम्बर, 1969
32 चॉद का मुँह टेढा है, पृष्ठ 263
33 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 265
34 वही, पृ0 265
35 कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिह,
36 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 268
37 वही, पृ0 269
38 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 270
39 वही, पृष्ठ 272
40 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 265
41 वही, पृष्ठ 274
42 सर्वनाम भगवान सिह, फरवरी 1973
43 वहीं, पृ0 274
44 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 275
45 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 275
46 वही, पृष्ठ 276
47 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 276
48 मुक्तिबोध का आत्म सघर्ष और उनकी कविता–2, रामविलास शर्मा, धर्मयुग, 28 दिसम्बर, 1969
49 वही,
50 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 280
51 The Concept of archetype, which is an indispensable correlate of the idea of the collective unconscious, indicates the existence of definite forms in the psyche which seem to be present always and every where The concept of the Collective Unconscious, The Eollective work of C.G Junge 9, part I, p 42.
52 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 282
53 The collective unconscious is a part of the psyche which can be negatively distingusihed from a personal unconscious by the fact that it does not, like the latter, owe its existence to personal experience and consequently is not a personal acquisition, while the personal unconsicious is made up of content which have at one time been consious but which have disappeared from consiousness through having been forgotten or repressed, the contents of the collective unconscious have never been in consciousness, and therefore have never been individually acquired, but owe their existence exclusively to heredity Whereas the personal unconscious consists for the most part of complexes, the content of the collective unconscious is made up essentially of archetypes - The Collective Works of C G Junge, 9-Pt.1, p. 42
54 आलोचना और आलोचना, इन्द्रनाथ मदान, पृ0 148
55 मुक्तिबोध का आत्म सघर्ष और उनकी कविता–2, रामविलास शर्मा, धर्मयुग, 28 दिसम्बर, 1969
56 मुक्तिबोध की कविताओ को समझने की दशा मे एक प्रयत्न, भगवानसिह, सर्वनाम, फरवरी, 1973
57 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 286
58 वही, पृ0 288
59 मुक्तिबोध का आत्म सघर्ष और उनकी कविता–2, रामविलास शर्मा, धर्मयुग, 28 दिसम्बर, 1969
60 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 286

61 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 290
62 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 290
63 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 290
64 नयी कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबध, मुक्तिबोध, पृ0 35
65 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 291
66 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 291
67 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 292
68 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 293
69 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 294
70 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 298
71 कामायनी, पृ0 54
72 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 290
73 फिलहाल, अशोक वाजपेयी, पृ0 126
74 चॉद का मुँह देढा है, पृष्ठ 300
75 चॉद का मुँह टेढा है, पृष्ठ 303
76 आधुनिकता और हिन्दी साहित्य, इन्द्रनाथ मदान, पृ0 28
77 आधुनिकता और हिन्दी साहित्य, इद्रनाथ मदान, पृ0 28
78 चॉद का मुँह टेढा है, पृष्ठ 303
79 चॉद का मुँह टेढा है, पृष्ठ 303
80 दी कन्सेप्ट आफ मैन, पर्सपेक्टिव फाम लिटरेचर, बच्चन सिह पृ0 9, इन्टीट्यूट स्टडी सेटर , अक्तूबर 20–26, 75
81 चॉद का मुँह टेढा है, पृष्ठ 303
82 फिलहाल, अशोक बाजपेयी, पृ0 123
83 चॉद का मुँह टेढा है, पृष्ठ 304
84 मुक्तिबोध का आत्मसघर्ष और उनका कविता, रामविलास शर्मा, धर्मयुग, 28 दिसम्बर, 1969
85 चॉद का मुँह टेढा है, पृष्ठ 305
86 चाँद का मुँह टेढा है, पृष्ठ 305
87 चॉद का मुँह टेढा है, पृष्ठ 306
88 चॉद का मुँह टेढा है, पृष्ठ 307
89 कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिह, पृ0 237
90 चॉद का मुँह टेढा है, पृष्ठ 309
91 चाँद का मुँह टेढा है, पृष्ठ 309
92 आलोचना, बच्चन सिह, अप्रैल–जून 1973
93 आलोचना, बच्चन सिह, अप्रैल–जून 1973
94 एक विलक्षण प्रतिभा, 'चाद का मुह टेढा, शमशेर बहादुर सिह, पृ0 28
95 मुक्तिबोध का आत्मसघर्ष और उनकी कविता–2, रामविलास शर्मा, धर्मयुग 28 दिसम्बर 1969
96 कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिह, पृ0 244
97 मुक्तिबोध चाद का मुह टेढा, पृ0 23–40
98 मुक्तिबोध चाद का मुह टेढा, पृ0 23–40
99 मुक्तिबोध चाद का मुह टेढा, पृ0 50
100 मुक्तिबोध चाद का मुह टेढा, पृ0 18
101 श्री नेमिचन्द्र जैन भेटवार्ता, दिनाक 13 जनवरी, 88
102 श्री नेमिचन्द्र जैन मुक्तिबोध रचनावली–1 (भूमिका), पृ0 14
103 श्री नेमिचन्द्र जैन मुक्तिबोध रचनावली–1 (भूमिका), पृ0 298
104 वही, पृ0 298
105 वही, पृ0 298
106 श्री नेमिचन्द्र जैन मुक्तिबोध रचनावली–1 (भूमिका), पृ0 298
107 चचल चौहान मुक्तिबोध,, प्रतिबद्ध कला के प्रतीक, पृ0 66
108 विष्णुचन्द शर्मा मुक्तिबोध की आत्मकथा, पृ0 447
109 मोतीराम वर्मा लक्षित मुक्तिबोध, पृ0 211
110 चचल चौहान, मुक्तिबोध प्रतिबद्ध कला के प्रतीक, पृ0 70

उपसंहार

हिन्दी साहित्य जगत मे हुए विविध आन्दोलनो और उन आन्दोलनो मे स्वयं की सहभागिता को स्पष्टत चित्रित करते हुए मुक्तिबोध बताते है कि– मैने वस्तुत तीन युग देखे है। छायावाद का पूर्ण प्रकाश मेरी ऑखो के सामने हुआ, किन्तु मै छायावादी न हो सका। उसके विरूद्ध प्रतिक्रियाये ही ह्रदय में जमा होती गयी। मैने प्रगतिवाद का अभ्युत्थान देखा और भरसक कोशिश की उसका फैलाव हो, वह खूब फैला किन्तु मेरी कविता प्रगतिवादी ढॉचे को नहीं अपना सकी, यद्यपि कि आज भी प्रगतिवादी कविताऐ हमारे निम्न–मध्यवर्ग में बहुत लोकप्रिय है, मजे की बात यह है कि मै नयी कविता भी उन्हें सुना जाता हूँ, बहुतो को वह पसन्द आती है।1

मुक्तिबोध के इस प्रकार के कथन से स्पष्ट है कि उनको किसी घेरे में कैद नहीं किया जा सकता, उनको किसी 'वाद' की सीमा मे आबद्ध करना उनकी व्यापक दृष्टि को सीमित करना होगा, क्योकि उनकी काव्यचेतना के विविध आयाम है, पडाव है– उसे किसी घेरे मे आबद्ध करना उनके साथ अन्याय करना होगा और वे हो भी नही सकते। इस सन्दर्भ मे डॉ0 नामवर सिंह का मत' अवलोकनीय है– 'मुक्तिबोध उन कवियों मे से है जिन्होंने सफलता का यह पद छोडकर इस युग की उलझनो मे जान–बूझकर अपने को डाला है। उनकी कविताओ का केन्द्रीय विषय है– 'आज के व्यक्तिमान का अन्तर्द्वन्द्व''। सामाजिक अन्तर्द्वन्द्व की जो छाया व्यक्ति के जागरूक मन के प्रति, बिम्बित हो रही है उसके मार्मिक चित्रण का प्रयास मुक्तिबोध ने बार–बार किया है। इस तरह मुक्तिबोध आत्म–विश्लेषण के माध्यम से इस युग के सामाजिक सघर्ष को समझना चाहते है। उनकी कविताओ में इसी आत्मसंघर्ष से छिटकी हुई चिनगारियों की चित्र–श्रृंखला मिलती है।" इस चित्र–श्रृखला को ढूँढने के विषय में

मुक्तिबोध कहते है– 'लेखक की कुछ रचनाओ को देखकर नही उसकी सब रचनाओ को देखकर उसके तथाकथित जीवन–दर्शन की बात की जा सकती है उसकी कुछेक कविताओ को देखकर हम क्योकर यह माल ले कि लेखक की जीवन–दृष्टि उसका जीवन–दर्शन, निराशा–मूलक है।।2 मै अपने स्वय के बारे में बताता हूँ कि मेरे जीवन मे इस जगत मे अबतक जो यात्रा की है वह प्रयोजनहीन नहीं है। मेने अपने अनुसार कुछ हद तक परिस्थिति को बनाया और बिगाडा है इस जीवन–यात्रा मे आभ्यान्तर की एक पुकार रही है। नवयौवनावस्था के पूर्व से ही, मेरे प्रयोजन प्राप्त और विकसित होते गये और उन्हीं के अनुसार मैने अपनी भावधारा विकसित की। यह भावधारा अन्तर्निहित है।।3

यहाँ यह सही है कि मेरी जैसी अन्तरात्मा वाले लोग मुझे धिक्कार भी सकते है। मेरे ही शिविर मे मेरी हत्या हो सकती है, वास्तविक तिरस्कार हो सकता है, हुआ है, होता रहा है, होता रहेगा– सम्भवत। दारा और औरगजेब की यह जोड़ी आपको हर जगह मिलेगी, अमरीका, रूस, साम्यवादी जगत, पूँजीवादी–साम्राज्यवादी दुनिया और भारत मे भी मिलती है। . दारा की हत्या की सम्भावना हमेशा रही है, हमेशा रहेगी। द्वन्द्वात्मक स्थिति की गत्यात्मकता व्यक्ति–रक्षा नही करती, प्रवृत्ति रक्षा सम्पन्न करती है। इसीलिए दारा का जन्म बार–बार होगा और वह अपना प्रभाव फैलाने के बाद बार–बार मारा जायेगा।4

फिर भी यह स्थिति आने तक 'मै इन्तजार करता हूँ और इन्तजार करने में विश्वास रखता हूँ। यह इन्तजार आलसियो का या भाग्य–वादियो का इन्तजार नहीं है। प्रतीक्षा के इस काल मे मनन चलता है, अपनी ही जीवनात्मक भावुक तथा वैदिक स्थितियों का यह मनन विभिन्न आत्म–संशोधनों को ले आता है।' प्रश्न यह उठता है कि मुक्तिबोध के इस चिरप्रतीक्षा का राज क्या है? और उत्तर मिलता है– 'यह प्रतीक्षा इस बात

भारत–भूमि मे ही ऐसे ही लोग है जिनके सामने ठीक वे ही प्रश्न है जो मेरे सामने है। उनकी भी प्रवृत्ति ठीक वही है जो मेरी है और उन्होने अवश्य ही इन प्रश्नो पर सोचा होगा, शायद मुझसे ज्यादा सोचा होगा– अधिक व्यापक होगा उनका सोच–विचार। सम्भव है, हा सम्भव है। इसलिए आज नही तो कल, जो दृष्टि सामान्यत गृहीत है उसके सशोधन होगे। सशोधन अवश्यभावी है। वे एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के अग है इसलिए मै ऐतिहासिक प्रक्रिया के ज्ञान के क्षेत्र मे भी, दृष्टि–विकास के क्षेत्र मे भी अनवरत क्रिया पर विश्वास करता हूँ।5 लेकिन यह जो मेरा वातावरण है मेरा परिवेश है, मुझे साहित्यिक कार्यो के लि कोई प्रोत्साहन नही देता। इसके विपरीत वह मुझे परावृत्त करता है। यह हो सकता है कि मेरी कविताऐ कोई न पढे वे रद्दी की टोकरी मे जला दी जाय, फिर भी मै लिखता हूँ, दीर्घकविताऐ लिखता हूँ। एक–एक कविता छह–छह महीना चलती है। सब कार्य उसके (सम्भवत लेखन) अधीन कर देता हूँ। 6 उन्हे विश्वास है कि मेरी जैसी अन्तरात्मा वालो की, मेरी जैसी प्रवृत्तिवालो की एक दीर्घ परम्परा है। वह परम्परा प्रक्रिया मेरे प्यारे देश मे ही नही अनगिनत देशो मे है मै उस परम्परा–क्रिया का अग हूँ और अपनी उसी परम्परा को ढूँढता फिरता हूँ 7 और विश्वास करता हूँ कि कोई समान–धर्मा पुरूष जरूर उन्हे पढेगा, आज नही मेरी मृत्यु के बाद सही। उसे अच्दी नही लगेगी, वह आलोचना करेगा किन्तु उसके कुछ हिस्से अवश्य पसन्द आयेगे, तो वह समान–धर्मा के इन्तजार मे– या यूँ कहिए कि आशा में– मेरे इस कमरे मे कवि–मर्म चल रहा है।" और 'जिस तरह की काव्यधारा चली या जेसी शैली चली उसका प्रभाव मुझ पर पडा. . सामाजिक सम्वेदन का प्रभावी शैली पर पडता है, आधुनिक क्रिया–प्रक्रिया मे लेखक पर–कवि पर भी होती है। 8

"मै कवि के साथ ही आलोचक भी हूँ, और जो कवि आलोचक भी होती है उसकी ऐसी की तैसी हो जाती है। साधारणतौर पर मेरे मन मे यदि किसी बात की प्रतिक्रिया होती है तो क्षण दो क्षण के लिए (नही) होती

बल्कि वह परिस्थिति काफी देर तक बनी रहती है इसके साथ एक विशेष प्रकार का परिवेश बना रहता है। 9 मेरे अन्दर कुछ कमजोरियॉ भी है, कभी–कभी लगता है, यह कमजोरी नही है। वस्तुत मै बिना चित्र प्रस्तुत किये, लिखता नही। यदि लगता है कि मेरा चित्र यथार्थ नही है तो नही लिखता। 10

मेरी बहुत सी कविताये मुझे अधूरी लगती है और ढूँढता हूँ तो लगता है कोई बात और भी जो इसमे नही है। 11 पुन लिखने पर सारी सुबुद्ध भावनाये जाग्रत हो जाती है। जब कभी भूल जाता हूँ तो कविता अधूरी रह जाती है उसी तरह जब कोई अधूरी कविता छ–महीने साल भर मे उठाता हूँ तो सूत्र मिल जाता है और पूरा स्ट्रक्चर बन जाता है। कविता के पूर्ण हो जाने पर पूर्ण शान्ति मिलती है। लेकिन जब तक यह विश्वास नही हो जाता कि जो कुछ मुझे कहना था वह कविता मे कह सका हूँ तब तक शान्ति नही मिलती। 12 लेकिन 'दु ख इस बात का है कि मै अग्रेजी को छोड दूसरी विदेशी भाषा नही जानता और हिन्दी तथा मराठी को छोड अन्य कोई भारतीय भाषा नही जानता। अकिचन इतना हूँ कि मै हिन्दी की किताबें भी नही खरीद सकता और लिखने के कागज जब ज्यादा खर्च हो जाते हैं तब सोचता हूँ कि कितना फिजूलखर्ची है। ऐसी स्थिति में मै क्या अपनी परंपरा दूढूंगा? 13 फिर भी हम जैसे साहित्यकार जो पीडित मध्यवर्गीय श्रेणी से आये है वे अपना विकल्प सामाजिक–प्रगति और मानव–मुक्ति ही चुनते है और इस पक्ष मे हम कलाकार के मानव–व्यक्तित्व का हनन, सौन्दर्य की उपेक्षा व्यक्ति की अवहेलना नही दिखाई देती क्योकि उसी राह पर हमे सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है।

इस तरह दिशा और उस ओर जाता हुआ पथ–दोनो सही है। दिशा हमेशा आगे ही रहेगी, साथ–साथ नही चलेगी। हॉ, उसकी संवेदनाऐं साथ–साथ चलेगी किन्तु क्षितिज हमेशा आगे ही रहेगा। उसी प्रकार अन्तरात्मा के आग्रह–और अनुरोध हमेशा आगे–आगे ही रहेंगी और लेखक

उसका अनुगमन करेगा और उसका अनुगमन करते हुए भी यह सोचता रहेगा कि उसने अपने–आग्रह लक्ष्यो को उपलब्ध नही किया। वह इस चिन्तन से दुःखी भी होगा, दु:ख भी प्रकट करता रहेगा। इस प्रकार लक्ष्य और उपलब्धि के बीच जो फासला है, आतुर मन के लिए बराबर बना रहता है क्योकि लक्ष्य स्वय गतिमान है, मनुष्य की अपनी गति ही के कारण। 14

यह विचारणीय प्रश्न है कि आज जब इन्सानियत तबाह हो रही है और कु तबके उसकी कीमत पर लखपती बनने की कोशिश कर रहे है, तब गरीब व मध्यमवर्ग के एक लेखक को "भारतीय–सस्कृति" का लुभावना नारा देकर उसे उन लोगो से हटाया जा रहा है जो उसके अपने है। यानी जो उसी की तरह तबाह है और जिनकी हालत उससे भी बदतर है, जो अपनी जिन्दगी मे तकाजो के आधार पर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक लडाइयॉ लड रहे है, जहॉ भूखी जनता को अनुशासित रखने की, भारतीय सस्कृति के अनुसरण की दिन–रात नसीहत दी जाती है और दूसरी ओर बडे मजे मे अपने सगे सम्बन्धियो को शोषण का मजा लेने दिया जाता हो, वहॉ भारतीय सस्कृति के नाम पर एक बहुत बडा फ्रॉड चला करता है। 15

इसलिए इन मानसिक रोगियो की चिकित्सा की सबसे बडी आवश्यकता है। जिस प्रकार एक नेता न केवल जनता को नेतृत्व प्रदान करता है वरन् वह उससे सीख और नसीहत भी ग्रहण करता है उसी प्रकार नए लेखक का सबसे बडा शिक्षक, सबसे बडा गुरू, और सबसे बडा वैज्ञानिक स्वय जन–जीवन और उसके दृश्य है। कहना न होगा कि चूँकि लेखक इस जनजीवन का ही एक भाग, एक अश है इसलिए वह इस जनजीवन के आदेशो का ही पालन करेगा। उसका खुदा और पैगबर उसी जन–जीवन मे बसता है और वही जन–जीवन उसका कुरान और मैक्सिज्म है। 16 इस तथ्य पर पहुँच कर यह स्पष्ट कर देना न्यायोचित होगा कि– यहॉ हम ऐसे ही लेखक की कल्पना कर रहे है। जो बडी तनखाह वाले उच्चवर्गीय साहित्यिको के जमघट में अपनी साहित्यिक करामात का

डेमान्सट्रेशन देने की इच्छा नही रखता, रेडियो कवि नही बनना चाहता, जो साहित्य मे केरियरिस्ट नही है यानी अपनी रचना के मूल्य के आधार पर समाज से कीमत मागता है न कि स्पेशल कॉन्ट्रेक्ट्स के जरिए मैन्यूवर करने का प्रकट–अप्रकट हिमायती है जो अपने साहित्य–कर्म के प्रति और उसके जन–जीवन सम्बन्धी मूल प्रेरणा–स्रोतो के प्रति अगाध रूप से गम्भीर और ईमानदार रहने की बेहद कोशिश करता है। 17

स्पष्ट है कि आज का साहित्यिक जितना गम्भीरता से अपने प्रत्येक प्रकार मे उत्तरदायित्वों को सोचेगा और जीने के समस्त रूपो के अध्ययन मे रूचि और सूक्ष्मता प्रकट करना उतना ही उसकी साहित्य–शक्ति तीव्र और प्रभावोत्पादक होगी। यदि वह अपने सब्जेक्ट मैटर के यथार्थ मे गम्भीरता से प्रवेश करेगा तो न सही एक दिन मे एक प्रयास मे, (बल्कि) धीरे–धीरे कदम –ब–कदम व पुराने जडीभूत परतो को तोडकर अपने नये साहित्य–सस्कारो को जन्म देगा और वह हौले–हौले उसका विकास करता हुआ आगे बढता चला जायेगा। प्रयास के प्रथम चरण की दुरूहता, उलझी अभिव्यक्ति शैली तथा भावो का सामान्यस्तर लेखक के स्वय के अनुभवों के सहारे निखर कर हीरे और मोतियो सी चमक हुई भावच्छवियो और शब्द–मालिकाओ का गजानन माधव मुक्तिबोध अपने अर्थों मे हिन्दी काव्य के इतिहास में अद्वितीय कवि है। उन्हे किसी परम्परागत विशेषण से नही आंका जा सकता। जीवन–भर उपेक्षित रहने के बाद मृत्यु के समय सहसा वे अखिलभारतीय बन गये और उनके जीवन और काव्य की ओर सभी का ध्यान आकर्षित हुआ। प्रारम्भिक उदासीनता, परिवर्तन और उत्साहातिरेक ने उनके काव्य के सन्तुलन मूल्याकन मे बाधा की उपस्थित की है। उनके काव्य के मूलयाकन के सम्बन्ध मे एक दूसरी कठिनाई है, उनके व्यक्तित्व और जीवन के सम्बन्ध मे दूसरी जानकारी। उनका काव्य उनके जीवन और व्यक्तित्व से अभिन्न भाव से जुडा हुआ है। “किसी और कवि की कविताऐ उसका इतिहास नही, मुक्तिबोध की कविताऐ अवश्य उनका इतिहास है।”..18

मुक्तिबोध का काव्य विभिन्न प्रभावो को लेकर चला है। उन्होने आशका व्यक्त की थी कि वे अपनी "अनेकानेक दार्शनिक चिन्ताओ को सामजस्य दे सकेगे या नही।" उनके काव्य मे इस शका का कोई निश्चित सामजस्य पूर्ण समाधान नही मिलता। यही कारण है कि उनकी कुछ कविताऐ मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित है तो कुछ अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन से।

मुक्तिबोध की एक अत्यन्त उल्लेखनीय विशेषता है, परम्परा से सम्पूर्ण विद्रोह। जिन छायावादोत्तर कवियो को नया कवि कहा जाता है तथा जिनके काव्य मे गिरिजा कुमार माथुर 'अस्वीकृति की उन्मेष' देखता है, उनके काव्य मे भी परम्परा मे भी अस्वीकृति खण्डित और आंशिक ही है। 'अज्ञेय' गिरिजा कुमार माथुर, शमशेर बहादुर सिह, धर्मवीर भारती जैसे कवि छायावाद की रूमानी सवेदना और भाषा से अपने आपको पूरी तरह मुक्त नही कर सके है। इन कवियो के आरम्भिक सस्कार तो छायावादी है ही, परवर्ती काव्य मे भी यदि संवेदना नहीं तो भाषा के स्तर पर तो निश्चय ही इनमे से कुछ मे छायावादी रूझान झलकिया मारते, दिखाई पडते है। छायावादोत्तर कविता मे मुक्तिबोध पहले ऐसे कवि है जो छायावादी ससकारो से पूर्णत मुक्त होकर अपनी काव्यसर्जना कर सके है, उनका काव्य-सम्वेदना और शिल्प के स्तर पर परम्परा और पूर्व सस्कारों के प्रति पूर्ण-विद्रोह की स्थिति प्राप्त कर सका है। अपने सहवर्ती कवियों की तुलना मे मुक्तिबोध का अनुभव-जगत अत्यन्त विस्तृत है और जीवन के यथार्थ से वे अत्यन्त गहन-भाव से सम्बद्ध है.

'सब सच्चे लगते है/अजीब सी अकुलाहट दिल मे
उभरती है/मै कुछ गहरे में उतरना चाहता हूँ/जाने क्या मिल जाये। 19

अनुभव की विशालता और जीवनगत समृद्धि की अतिशयता उनके काव्य को अत्यन्त उदात्त बनाती है। मुक्तिबोध लम्बी कविताओ के कवि है। लम्बी कविताओ मे उन्होने फैन्टेसी शैली का आश्रय ग्रहण किया है। उनकी

फैन्टेसिया उनके अनुभवो की प्रतिसिद्धि होकर आती है। उनकी इस तरह की कविताओ मे फैन्टेसियो की एक अबाध श्रृंखला मुक्तिबोध मे अपनी फैन्टेसियो के कला के दूसरे क्षण से सम्बद्ध माना है अर्थात् उनका काव्य उनके अनुभवो का उद्घाटन मात्र ही नही रह जाता अपितु किसी रासायनिक प्रक्रिया से उन अनुभवो मे रचनाकार का व्यक्तित्व, उसकी जीवन दृष्टि सब जुड जाती है। ये फैन्टेसिया आधुनिक जीवन की भयावहता को उसकी समस्त तदर्थता मे चित्रित करती है। डॉ0 नामवर सिह ने "आधुनिक मानव की सबसे ज्वलन्त समस्या, 'अस्मिता की खोज' को इन कविताओ का मूल कथ्य माना है। अस्मिता की खोज आध्यात्मिक या रहस्यावादी नही है बल्कि 'गली सडक की गतिविधि राजनीतिक परिस्थिति और अनेक मानव चरित्रो की आत्मा के इतिहास का परिवेश है।"–20 यह वास्तविक परिवेश की खोज से सम्बद्ध नही है, अभिव्यक्ति की खोज से भी सम्बद्ध है

'किन्तु असन्तोष मुझको है गहरा/शब्दाभिव्यक्ति–अभाव का
सकेत/काव्य चमत्कार उतना ही रगीन/परन्तु, ठण्डा,/मरे
भी फूल है तेजस्क्रिय, पर2अतिशय शीतल/जब
अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होगे।– 21

वस्तुत किसी युग के साहित्य और कला के क्षेत्र के आलोचनात्मक सघर्ष को शुद्ध साहित्य की सीमा के भीतर रखने का प्रयत्न वे करते है जो साहित्य–संसार की पूर्ण स्वायत्तता मे विश्वास करते है और साहित्य को सामाजिक सन्दर्भो से दूर रखना चाहते है। लेकिन जो यह मानते है कि "काव्य–साधना, अधिकतर, काव्य–रचना के क्षेत्र के बाहर होती है" (मुक्तिबोध) वे साहित्य और कला क्षेत्र के आलोचनात्मक सघर्ष को साहित्य के बाहर के व्यापक सस्कृति और विचारधारात्मक सघर्ष तक ले जाते है और साहित्य की आलोचना को अपने समय और समाज की आलोचना के रूप में विकसित करते है।

प्रेमचन्द, निराला और मुक्तिबोध जैसे रचनाकारो के साहित्य मे सघर्ष और साधना की अग्निदीक्षा मे सिद्ध खरेपन की चमक है। सघर्ष और साधना की यह कहानी अनेक दूसरे जनवादी लेखको के जीवन और साहित्य की भी कहानी है दुनियादारी और समझदारी के सहारे सफलता के चक्करदार जीनो नर चढते हुए सुख और सुविधा के कुतुबमीनार की सर्वोच्च सीढी तक पहूचे हुए लेखक मे चाहे जितने सफल दिखाई दे, रचनाशीलता के स्तर पर वे असफल ही रहेगे।

मुक्तिबोध ने उस समय लिखना आरम्भ किया था जब छायावाद का अवसान और प्रगतिवाद का उत्थान हो रहा था। छायावाद का काल भारतीय जनता के राजनीतिक, सामाजिक जागरण का काल था और इस जागरण की अभिव्यक्ति छायावाद की रचनाशीलता मे हो रही है। प्रगतिवाद के दौर में भारतीय जनता की जागृति चेतना, सघर्षशील चेतना की अभिव्यक्ति हो रही है। मुक्तिबोध का साहित्य के चेतना के निर्माण में इन दोनो आन्दोलनो का योगदान है। सन् 1945 का भारतीय जनता के जीवन मे महत्वपूर्ण स्थान है, मुक्तिबोध के जीवन मे भी इस वर्ष का क्रान्तिकारी महत्व है। 1942 मे ही मुक्तिबोध का मार्क्सवाद की ओर झुकाव हुआ। मुक्तिबोध में एक व्यवस्थित विश्व–दृष्टि अर्जित करने के लिए गहन आन्तरिक सघर्ष और तलाश के फलस्वरूप मार्क्सवादी दर्शन को अपनाया था।

मार्क्सवाद के रूप में मुक्तिबोध को एक वैज्ञानिक और ओजस्वी दृष्टिकोण प्राप्त हुआ, जिसके सहारे वे अपने समय के समाज और जीवन की वास्तविकताओ, समस्याओं और विचारधारात्मक सघर्ष को ही नही इतिहास और परम्परा को ठीक से समाज–व्यवस्था और सास्कृतिक व्यवस्था की ऐतिहासिक स्थिति की पहचान करता है और पहचान बताता है, वह वर्तमान के विचारधारात्मक संघर्ष और भावी विकास के लिए परम्परा तथा इतिहास का पुनर्मूल्याकन भी करता है। छायावाद के प्रति लगाव मुक्तिबोध के मन मे बहुत गहरे और व्यापक रूप मे आजीवन कायम रहा। उनकी

आलोचना ओर रचना मे इस बात के प्रमाण आसानी से मिल सकते है। मुक्तिबोध ने प्रेमचन्द्र और छायावाद के काल के बारे मे लिखा है कि वह भारतीय समाज के क्रान्तिकारी आन्दोलन का काल था, प्रेमचन्द्र मे इस सामाजिक क्रान्ति सुसगत अभिव्यक्ति हुई है और छायावाद मे वह क्रान्ति व्यक्तिवाद के दायरे मे प्रकट हुई है। मुक्तिबोध के अनुसार यह व्यक्तिवाद एक वेदना के रूप मे सामाजिक गर्भितार्थो के लिए हुए था। छायावाद मे जो सामाजिक गर्भितार्थ थे उनसे मुक्तिबोध का लगाव था, प्रेम था और जो व्यक्तिवाद था उससे उनका अलगाव था, विरोध था कामायनी एक पुनर्विचार मे उन बातो का विकास और विचार दिखाई देता है और आलोचना पद्धति अधिक सुव्यवस्थित दिखाई देती है। स्वाधीनता के बाद की हिन्दी कविता के इतिहास मे प्रयोगवाद और नयी कविता के आधुनिकतावादियो ने या तो इतिहास और परम्परा से मुक्ति की घोषणा की, क्योकि इतिहास और परम्परा का बोध उन्हे बोझ प्रतीत होता था या फिर अपनी कलावादी रचनादृष्टि और प्रतिक्रियावादी सामाजिक विचारधारा का औचित्य सिद्ध करने के लिए उन्हाने परम्परा और इतिहास का दुरूपयोग किया।

नयी कविता वाले बार–बार छायावाद की निन्दा करते थे जबकि नयी कविता की व्यक्तिवादी धारा मे छायावाद से अधिक रूमानियत, व्यक्तिवाद, रहस्यवाद यथार्थ से पलायन की प्रवृत्तियॉ थी, मुक्तिबोध ने कामायनी की आलोचना लिखकर नयी कविता की व्यक्तिवादी धारा के कवियो तथा आलोचकों द्वारा परम्परा के दुरूपयोग का विरोध किया। उन्होंने कामायनी मे व्यक्त सामाजिक यथार्थ और सामाजिक अभिप्रायो का विश्लेषण करते हुए इस धारणा का भी खण्डन किया कि छायावाद के अपने समय के सामाजिक यथार्थ से कोई सम्बन्ध नही था। मुक्तिबोध का उद्‌देश्य एक ओर सामन्ती और बुर्जुआ (रसवादी और मनोवैज्ञानिक) आलोचना–दृष्टियो का खण्डन करना था, जो कामायनी की आड मे नयी प्रगतिशील शक्तियों का विरोध कर रही थी, और दूसरी ओर कामायनी के रहस्यवादी की आड मे नयी

प्रगतिशील शक्तियो का विरोध कर रही थी, और दूसरी ओर कामायनी के रहस्यवादी अर्थों का खण्डन करना था।

एक रचनाकार जब परम्परा का पुनर्मूल्याकन करता है तो वह अतीत को केवल वर्तमान की ही ऑख से नही देखता है, वह परम्परा के सन्दर्भ मे आत्मविश्लेषण भी करता है, और तभी उसे अपने दायित्व का बोध भी होता है। परम्परा रचनाकार के समक्ष एक चुनौती बनकर भी उपस्थित होती है वह रचनाकार को आत्मविश्लेषण के लिए भी प्रेरित करती है। मुक्तिबोध ने छायावाद के अलावा प्रेमचन्द्र पर भी विचार किया है। वे प्रेमचन्द्र को 'उत्थानशील' भारतीय सामाजिक क्रान्ति के प्रथम और अन्तिम महान कलाकार मानते हैं और उनकी विशाल छाया मे बैठकर आत्मविश्लेषण की प्रेंरणा भी प्राप्त करते है।

मुक्तिबोध ने नयी कविता के काल की व्यक्तिवादी–कलावादी प्रवृत्तियो के प्रसार और प्रभाव के कारणो की खोज करते हुए उन ऐतिहासिक, सामाजिक शक्तियो और विचारात्मक श्रोतो की ओर सकेत किया है जिससे प्रगति विरोधी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिल रहा है। यह शक्तियॉ और ये स्रोत देशी ही नही, विदेशी भी थे। नयी कविता के काल मे प्रचलित और प्रचारित प्रगति विरोधी कलावादी प्रवृत्तियो के सामाजिक, राजनीतिक सन्दर्भ और स्वर्गीय आधार का विश्लेषण करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि नयी कविता मे दो वर्ग है– उच्चमध्यवर्ग और निम्नमध्यवर्ग। यह उच्च मध्यवर्ग स्वाधीनता के बाद अवसरवाद का खूब शिकार हुआ है, उसका एक ओर देशी शोषक–शासक–वर्ग से गहरा रिश्ता है तो दूसरी ओर उसने पश्चिमी साम्राज्यवाद की शीत युद्ध–कालीन विचारधारा को भी अपनाया है। इस उच्चमध्यवर्ग का उद्देश्य प्रगतिवादी साहित्य, संस्कृति और विचारधारा पर आक्रमण करना और प्रगति विरोधी काल–दर्शन, जीवन–दृष्टि और राजनीतिक–दृष्टि का प्रचार–प्रसार करना है। मुक्तिबोध ने लिखा है कि "स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त भारत मे एक ओर अवसरवाद की बाढ आगी।

शिक्षित मध्यवर्ग मे भी जोरदार लहरे पैदा हुई। साहित्यिक लोग भी उसके प्रवाह मे बहे और खूब बहे इस भ्रष्टाचार, अवसरवाद और स्वार्थपरता की पार्श्वभूमि मे नयी कविता के क्षेत्र मे पुराने प्रगतिवाद पर जोरदार हमले किये गये और कुछ सिद्धान्तो की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। यह सिद्धान्त और उनके हमले वस्तुत उस शीतयुद्ध के अग थे, जिसकी प्रेरणा लदन और वाशिंगटन से ली गयी थी। नयी कविता के आस–पास लिपटे हुए बहुत से साहित्यिक सिद्धान्तो मे शीतयुद्ध की छाप है।"22

हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचको मे मुक्तिबोध ने सम्भवत सबसे पहले सर्वाधिक जोरदार ढग से नयी कविता के प्रतिक्रियावादी साहित्यिक दृष्टिकोण के पीछे सक्रिय शीतयुद्धकालीन साम्राज्यवादी विचारधारा के वास्तविक रूप का उद्घाटन किया। मुक्तिबोध ने अपने निबन्ध मे लिखा है कि "एक कला–सिद्धान्त के पीछे एक विशेष जीवन–दृष्टि हुआ करती है। उस जीवन–दृष्टि के पीछे एक जीवन–दर्शन होता है और उस जीवन–दर्शन के पीछे आज के जमाने में एक राजनीतिक दृष्टि भी लगी रहती है।" मुक्तिबोध ने नयी कविता की व्यक्तिवादी–कलावादी धारा के साहित्य–सिद्धान्त पर विचार करते हुए ही यह बात लिखी है। इससे स्पष्ट है कि मुक्तिबोध के अनुसार नयी कविता की इस धारा ने प्रगतिशील साहित्य और विचारधारा के खिलाफ एक प्रगति–विरोधी राजनीतिक अभिप्राय भी था। मुक्तिबोध ने जीवनानुभूति और समानान्तरता की धारणा का खण्डन किया है और दोनो की एकता पर बल दिया है। उन्होने सौन्दर्यानुभूति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'सौन्दर्यानुभव अब जीवन के सारे रूप का प्रगाढ मार्मिक अनुभव है। किन्तु यह तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य अपने से परे जाने, अपने से ऊपर उठने, तटस्थ होने, निजबद्धता से मुक्त होने के साथ–साथ (और एक साथ) तन्मय होने का विलीन हो जाने का, मानवीय गुण और उस गुण का सामर्थ्य प्राप्त हो, तभी वह विशिष्ट की सामान्य में परिणति की मुक्ति आत्मीयता का आनन्द ले सकेगा।"33

मुक्तिबोध ने सौन्दर्यानुभूति को केवल कलाकार की ही विशिष्टता न मानकर उसे मनुष्य का लक्षण कहा है। कलाकार के सौन्दर्यानुभूति की क्षमता उसकी मनुष्यता की क्षमता पर, उसके व्यापक जीवन–विवेक पर निर्भर है, क्योकि सौन्दर्यानुभूति वास्तविक जीवन की मनुष्यता है। "नयी कविता की व्यक्तिवादी धारा की सौन्दर्यवादी दृष्टि अनुभूति के क्षण को महत्व देती थी। इस दृष्टि के अनुसार रचना का सम्बन्घ सौन्दर्यानुभूति से होता है और सौन्दर्यानुभूति केवल क्षण का ही हो सकता है इसलिए अनुभूति के क्षण की ही रचना मे महत्व मिलना चाहिए। कलाकार और कला को वास्तविक जीवन प्रसगो से काटकर क्षण की अनुभूति या अनुभूत क्षण तक सीमित रखने वाली यह मान्यता विशुद्ध कलाकार और विशुद्ध कला की वकालत करती है। मुक्तिबोध ने इन कलावादियो के सौन्दर्यवाद के अन्तर्गत क्षणवाद की आलोचना करते हुए लिखा है कि "यह सौन्दर्यवाद कलाकार को क्षणजीवी सौन्दर्यानुभूति के छोटे से मानसिक बिन्दुओ मे ही उसे समेटकर, बाधकर रखना चाहता है ताकि वह अपने समस्त व्यक्तित्व और समस्त अन्तर जीवन की प्राणधाराओ को भूमिगत करने केवल ऊपरी सतह पर उछाले गये बिन्दुओ मे अपने–आपको तृप्त मान ले और शेष को भूल जायें।"24

मुक्तिबोध के लिए ज्ञान का अर्थ केवल वैज्ञानिक उपलब्धियो का बोध नही है, वरन् समाज की उत्थानशील और ह्रासशील शक्तियो का बोध भी करती है।' समाज की ह्रासशील और उत्थानशील शक्तियो के बोध के लिए एक वैज्ञानिक विचारधारा की जरूरत होती है। इस तरह मुक्तिबोध प्रकारान्तर से रचनाओ के लिए वैज्ञानिक विचार धारा अर्जित करने की अनिवार्यता पर बल देते है। मुक्तिबोध कविता की रचना–प्रक्रिया को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते है और कहते हैं कि रचना में "जो सास्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते है।, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन है, इसलिए कविता को आत्माभिव्यक्ति समझना गलत है। मुक्तिबोध ने

कविता को केवल आत्माभिव्यक्ति माने की धारणा का खण्डन करते हुए ही 'कला के तीन क्षण' के नाम से रचना–प्रक्रिया की तीन अवस्थाओ का विश्लेषण किया है।

मुक्तिबोध ने सौन्दर्य–प्रतीत के सन्दर्भ मे सामाजिक दृष्टि की महत्ता स्थापित करते हुए लिखा है कि "जिस समाज मे हम रहते है, उसके द्वारा प्रदत्त उत्सर्जित भाव, परम्परा तथ मूल्यो से विछिन्न होकर सृजन–प्रक्रिया के अंगभूत मूल्यो का अस्तित्व ही नही है। सौन्दर्य प्रतीति की डुग्गी पीटने वाले लोग सामाजिक दृष्टि को भले ही ऊपर से थोपी हुई चीज समझे, वह वस्तुत यदि दृष्टि है तो कभी भी थोपी हुई नही रहती, वरन् हमारे अन्तर का एक निज तेजस्व आलोक बनकर सामने आती है। हम जिस समाज, सस्कृति, परम्परा, युग और ऐतिहासिक आवर्त मे रह रहे है, उन सबका प्रभाव हमारे हृदय का ससकार करता है।"25

वास्तव मे कविता को केवल आत्माभिव्यक्ति मानने और सामाजिक दृष्टि को सौन्दर्यप्रतीति का विरोधी समझने की धारणा व्यक्तिवादी सोच की उपज है। इस धारणा के मूल मे व्यक्ति और समाज के आपसी विरोध को शाश्वत् मानने वाली धारणा छिपी हुई है। वर्तमान पूॅजीवादी युग मे, अवसरवादी युग मे, आत्मोन्नति कैसे की जाती है, पैसे कैसे कमाये जाते है इस जोड–तोड की गणित को मुक्तिबोध जानते और समझते थे। लेकिन इस प्रकार की सौदेबाजी को अपने सम्मान के खिलाफ समझते थे, उनकी आत्मा ऐसा करने के लिए प्रेरित नही कर सकती थी। अपने सलाहकारो के बारे मे उनका वक्तव्य निश्चित ही अवलोकनीय है लेखकीय कार्य के प्रति उनकी अनास्था इस आस्था से निष्पन्न होती है कि मनुष्य को अपनी आर्थिक और भौतिक उन्नति के लिए ही कार्य करना चाहिए, इसीलिए मुझे सलाह दी गई है कि मे उपन्यास लिखू और दलिदृदर मिटाऊॅ और अब सुना है कि मुझे जल्दी ही एक कुन्जी लिखने का काम मिलेगा और मेरी आर्थिक कठिनाई तो कुछ हल ही हो जायेगी मेरा खयाल है कि सब लोग ऐसे नही

होते। उन्ही मे मै अपने को गिनवाना चाहता हूॅ। लेकिन यह एकदम सच है कि मै अपनो की उपेक्षा का अपराधी हूं।। 26

वे कहते है "अगर मै उन्नति के उस जीने पर चढने के लिए ठेलमठेल करने लगू तो शायद मै भी सफल हो सकता हूॅ। लेकिन ऐसी सफलता किस काम की, जिसे प्राप्त करने के लिए आदमी को आत्म–गौरव खोना पडे, चतुरता के नाम पर बदमाशी करनी पडे शालीनता के नाम पर बिल्कुल एकदम सफेद झूठी खुशामद करनी पडे। जिन व्यक्तियो को आप क्षणभर टॉलरेट (सहन) नही कर सकते, उनके दरबार का सदस्य बनना पडे।। 27 इसीलिए मेरे कई विचारक–मित्रों ने मुझे बुरा–भला कहा है। यह भी कहा है कि मैं निराशावादी हूॅ, ह्रासग्रस्त हूॅ, फ्रस्टेटेड हूॅ, स्विलर पर्सनेलिटी (विभाजित व्यक्तिगत) वाला हूॅ. . न मालूम क्या–क्या। मेने अपने जीवन मे बहुत सैद्धान्तिक गालिया खायी है।' 28

अत' मेरी उन लोगो से अपील है कि 'लोग न्याय–भावना से प्रेरित होकर भी बहुत अन्याय कर जाते है। इसलिए कि वे जिन्दगी के बहुतेरे तथ्य नही जानते उनके विशाल ज्ञान मे विशालतर अज्ञान के सम्मिश्रण से उनकी न्याय–प्रेरित बुद्धि अहकार युक्त होकर, भयानक अन्याय कर जाती है। अणु के केन्द्र मे हाथ डालने से विनाशकारी शक्ति का बोध होता है किन्तु उसी अण्ड के जब विभिन्न पुन्ज बन जाते है। तक आपको वह विनाश–शक्ति नहीं मिलती। 29 'हर जमाना अपने–अपने ढंग के कामयाब लोग तैयार करता है। बहादुरी के जमाने में तलवारबाजी के जमाने मे हम सरीखे आदमियो को कौन पूछता? वहा तो आबदार आदमियो की जरूरत थी। आज ऐसे लोग अपनी इज्जत लेकर अधेरे मे डूबे हुए है। आज के जमाने मे ऐसे लोग कामयाब होने के लिए ही जिन्दा है। तो ऐसे जो नाकामयाब लोग हैं उनके मजहब अलग अलग है। कोई कलाकार के धर्म को निबाहता है, तो कोई राजनीति के उग्रतावाद का अग्रदूत है। असल मे यह सब फ्रेस्टेटेड इण्डिविजुअल्स वैफल्य व्यक्ति है।' 30 यह भी ध्यान देने योग्य बात है– 'बहुधा मनुष्य

अपने मानसिक स्वार्थों की दृष्टि से अन्यो मे विसगतियो का आरोप कर लेता है। मनुष्य की मानसिक मनोवैज्ञानिक स्वार्थ, बुद्धि, ऊँचे आदर्शो को आगे करके उनके झण्डे के नीचे काम करती है। उनके मन्दिर मे बैठ अपना शिकार करती है, अपना धन्धा करती है। इसीलिए वह अपनी पूर्ति के लिए सामंजस्य या सगति अथवा ऐसे ही किसी आदर्श की कल्पना को व्यक्ति पर यात्रिक रूप से लागू कर सकती है। 31 मुक्तिबोध कहते है ' इस रूप मे हमारे बहुत से साथी इसी जिन्दगी मे स्वर्ग देखना चाहते है और अपने बाल–बच्चो को स्वर्ग दिखाना चाहते है। 32 ऐसे घृणित कार्य केवल वे ही लोग कर सकते है। जो अपनी स्वार्थ–रक्षा के लिए सिर्फ किनारे पर रहकर, तटस्थ रहकर, अनगुथे और अनलिपटे रहने वाले हो।। आज के जीवन–जगत की मूल समस्यओ से, ऐसी समस्याओ से जो वर्तमान वातावरण को घना–विषैला बना रही है, जो आज के जीवन को भी कठिन और विकृत बना रही है– उनसे उन प्रश्नो से, तटस्थ रहना, उनसे किनाराकशी करना बिल्कुल गलत बात है। इसीलिए एक विचित्र आकर्षण और सम्मोह मुझे अन्यो के चरित्र मे हस्तक्षेप करने के लिए बाध्य करता है। तब मुझे यह परवाह नही होती कि तहो के अन्दर ही तहो में डक उठाये हुए मुझे बिच्छु मिलेगा या सॉप। मै तो उस चरित्र व्यक्तित्व का अनुसधान करना चाहता हू और मैं बगैर आगा–पीछा देखे उस तिलिस्म मे घुस पडता हू और आपसे सच कहता हूँ कि डंक मारने वाले वे बिच्छू होते ही नही पर आत्मरक्षात्मक प्रवृत्ति के एक यत्र मात्र होते है। जिन्हे जरा सा हिलाने–डुलाने से, पुचकारने से, काम बन जाता है' 33

मुक्तिबोध ने व्यक्ति के विरूद्ध समाज' की धारणा का खण्डन करते हुए लिखा है कि "हमारा सामाजिक व्यक्तित्व ही हमारी आत्मा है। व्यक्ति और समाज का विरोध बौद्धिक विक्षेप है। इस विरोध का कोई अस्तित्व नही जहॉ व्यक्ति समाज का विरोध करता दिखाई देता है वहॉ, वस्तुत: समाज के भीतर ही एक सामाजिक प्रवृत्ति दूसरी सामाजिक प्रवृत्ति से टकराती है। वह

समाज का अन्तर्विरोध है न कि व्यक्ति के विरूद्ध समाज का, या समाज के विरूद्ध व्यक्ति का। व्यक्ति विरूद्ध समाज भी इस विचार शैली ने ही हमारे सामने कृत्रिम प्रश्न खडे किये है।— जिनमे से एक है सौन्दर्य – प्रतीति के विरूद्ध सामाजिक दृष्टि।" 34

इस प्रकार हम देखते है कि नयी कविता के कलावादी, व्यक्तिवादी, विचारको द्वारा गढे गये कला और साहित्य सम्बन्धी सभी प्रश्न कृत्रिम और उत्तर झूठे है। मुक्तिबोध ने इन प्रश्नो और उत्तरो के भीतर छिपे सामाजिक दायरो, राजनीतिक अभिप्रायो और विचारधारात्मक प्रयोजन की असलियत को सामने लाकर अपने समय के विचारधारात्मक सघर्ष मे महत्वपूर्ण योगदान किया है। मुक्तिबोध ने नयी कविता के व्यक्तिवादियो के व्यक्ति स्वातन्त्र्य के सिद्वसन्द मे के नैतिक–बोध को नाटकीय ढग से अभिव्यक्त करते है। उनकी कविताओ मे मनुष्य और ससार के सम्बन्ध मे जो रहस्य और विस्मय है, उन्हीं मे कविता की साहसपूर्ण दृढता और जादुई शक्ति सन्निहित है। नयी कविता के किसी भी कवि ने समकालीन भयानकता की गहराइ को, उसके पूरे विस्तार के साथ, उनकी मार्मिक सच्चाईयो के साथ उस तरह से देखने का साहस नही किया जिस तरह से मुक्तिबोध ने उसे मध्य वर्ग की सुरक्षा भावना के साथ जोडकर देखा। उनकी कविता की दुनिया, ऐसे चरित्रो, प्रतीकों, और बिम्बों की दुनिया है जिसमे समकालीन यथार्थ को उसकी पूर्ण भयावहता के साथ देखा जा सकता है।

मुक्तिबोध को यह मालूम है कि जनक्रान्ति में बौद्धिको की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। वे यह भी मानते है कि ज्ञान और क्रिया मे सामंजस्य के बिना क्रान्ति असम्भव है। यह विचित्र विडम्बना है कि अपने समाज का बौद्धिक वर्ग विचारों से दिवालिया और पूॅजीपतियो की क्रीतदास है, इस बोध के कारण ही उनकी कविताओ में एक तडप, एक छटपटाहट और असाधारण आसमान्य तनाव आ गया है। समाज में हर सतर पर हो रहे शोषण और

अत्याचार को देखकर मुक्तिबोध का अन्तर्मन बेचैन है। अन्तत उसका मानवीय–सामाजिक सन्दर्भ मे रचनात्मक परिवर्तन के लिए क्रान्ति चाहता है।

मुक्तिबोध की कविता कहे और अनकहे रूप से– सकेतो, बिम्बो, और प्रतीको तथा मिथको के सहारे सैकडो रूप मे, सैकडो सतर पर मनुष्य की दशा को उपस्थित करती है। उनकी कविता मात्र अभिव्यक्ति नही बल्कि मनुष्य के आत्मसहार की भयानक और आक्रामक तस्वीर है। जिसमे समकालीन समाज के दु ख स्पप्न को पूरे साहस के साथ उजागर करती है उसे वह न कम करके आकती है और न उसे सरलीकृत करती है। वे जर्जर मान्यताओ और रूढियो के प्रति प्रखर आलोचनात्मक रूख अपनाते है इसलिए साहस उनकी कविता का केन्द्रीय तत्व है फिर भी उनकी कविता का स्वर करूणाप्लावित और मित्रता से भीगा हे, अपने वर्ग के प्रति उनका दोस्ताना रूख है। मनुष्य और मनुष्यता के प्रति हो रहे षडयत्रो के प्रति वे बहुत सजग है। जीवन मे उन्होने सघर्ष की महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की, जिससे उनकी कविताओ मे मनुष्य की मूल चारित्रिक प्रतिभा सघर्ष बनी। उन्हें विश्वास है कि क्रान्ति और सघर्ष के बाद मनुष्य की दशा सुधरेगी और नयी समाजव्यवस्था स्थापित होगी। इस तरह मानव भविष्य मे उनकी अटूट आस्था का स्वर उनकी कविता का स्वर करूणाप्लावित और मित्रता से भीगा हे, अपने वर्ग के प्रति उनका दोस्ताना रूख है। मनुष्य और मनुष्यता के प्रति हो रहे षडयत्रो के प्रति वे बहुत सजग है। जीवन मे उन्होने संघर्ष की महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की, जिससे उनकी कविताओ मे मनुष्य की मूल चारित्रिक प्रतिभा संघर्ष बनी। उन्हे विश्वास है कि क्रान्ति और सघर्ष के बाद मनुष्य की दशा सुधरेगी और नयी समाजव्यवस्था स्थापित होगी। इस तरह मानव भविष्य में उनकी अटूट आस्था का स्वर उनकी कविता मे प्रमुख रूप से उभरा है। वे निराशावादियों की तरह यह नही मानते कि या तो भविष्य है ही नही या जो हे वह बहुत ही नैराश्यपूर्ण है। मुक्तिबोध की कविता मे मनुष्य के उज्जल भविष्य की आस्था की चमक है इसमे कोई सन्देह नही।

सप्तम अध्याय

उपसहार

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. वस्तु और रूप तीन–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–पेज–114
2. मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–160
3. मुक्तिबोध रचनावली पॉच – 253
4. मुक्तिबोध रचनावली – पॉच – 253
5. मुक्तिबोध रचनावली – पॉच – 252
6. मुक्तिबोध रचनावली – पॉच – 113
7. मुक्तिबोध रचनावली – पॉच – 252
8. मुक्तिबोध रचनावली – पॉच – 272
9. मुक्तिबोध रचनावली – पॉच – 272
10. मुक्तिबोध रचनावली – पॉच – 273
11. मुक्तिबोध रचनावली – पॉच – 272
12. मुक्तिबोध रचनावली – पॉच – 272
13. मुक्तिबोध रचनावली – पॉच – 252
14. मुक्तिबोध रचनावली – पॉच – 258
15. मुक्तिबोध रचनावली – पॉच – 282
16. मुक्तिबोध रचनावली – पॉच – 285
17. मुक्तिबोध रचनावली – पॉच – 283
18. चॉद का मुँह टेढा है – प्रारम्भिक वक्तव्य – श्रीकान्त वर्मा–7
19. चॉद का मुँह टेढा है – मुक्तिबोध – 72
20. कविता के नये प्रतिमान – डॉ0 नामवर सिह – 253

21.चॉद का मुँह टेढा है– मुक्तिबोध – 305, 306

22.नयी कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध – 37

23.नयी कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध – 39, 40

24.नयी कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध – 169

25.नयी कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध – 57

26.मुक्तिबोध रचनावली चार – 153

27.मुक्तिबोध रचनावली चार – 65

28.मुक्तिबोध रचनावली चार – 96

29.मुक्तिबोध रचनावली चार – 97

30.मुक्तिबोध रचनावली चार – 147

31.मुक्तिबोध रचनावली चार – 62

32.मुक्तिबोध रचनावली चार – 100

33.मुक्तिबोध रचनावली चार – 66

34.नयी कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध – 50

35.नयी कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध – 179

36.नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध – 181

37.नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र–मुक्तिबोध–100

38.नयी कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध – 91

39.सम्पूर्ण उद्धरण–मेरी मॉ ने मुझे प्रेमचन्द्र का भक्त बनाया–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–428, 430

40.सम्पूर्ण उद्धरण–मेरी मॉ ने मुझे प्रेमचन्द्र का भक्त बनाया–मुक्तिबोध रचनावली–पॉच–428, 430

41.मुक्तिबोध रचनावली – चार – 105

42.मुक्तिबोध रचनावली – चार – 426

43.चॉद का मुँह टेढा है–मुक्तिबोध–265

44.चॉद का मुँह टेढा है–मुक्तिबोध–264

45.चॉद का मुँह टेढा है – मुक्तिबोध – 265

46.भूरी–भूरी खाक धूल–मूक्तिबोध–196, 198

47.भूरी–भूरी खाक धूल–मूक्तिबोध–196ए 198

48.भूरी–भूरी खाक धूल–मूक्तिबोध–34

49.भूरी–भूरी खाक धूल–मूक्तिबोध–138

50.भूरी–भूरी खाक धूल–मूक्तिबोध–37, 38

51.एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–19

52.चॉद का मुँह टेढा है–मुक्तिबोध–262

53.एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–16, 17

54.एक साहित्यिक की डायरी–मुक्तिबोध–37, 38

55.चॉद का मुँह टेढा है–मुक्तिबोध–230

56.चॉद का मुँह टेढा है–मुक्तिबोध–242

57.चॉद का मुँह टेढा है–मुक्तिबोध–184

58.चॉद का मुँह टेढा है–मुक्तिबोध–259

59.चॉद का मुँह टेढा है–मुक्तिबोध–32

60.चॉद का मुँह टेढा है–मुक्तिबोध–36

61.चॉद का मुँह टेढा है–मुक्तिबोध–46, 47

62.चॉद का मुँह टेढा है–मुक्तिबोध–216

63.चॉद का मुँह टेढा है–मुक्तिबोध–26

परिशिष्ट.

मुक्तिबोध की कविता ब्रह्मराक्षस मन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है जिसमे ब्रह्मराक्षस आद्यरूप प्रतीक है जो युगीन ट्रेजडी का बोध जगाता है और बोध मूल्यो के अतर्सम्बन्धो की ओर ले जाता है" ।–[1] ब्रह्मराक्षस एक आदिम बिब है। उसकी भूमिका और स्थिति को कवि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे देखता है। यह विचार मन की मनोवैज्ञानिक आर्केपाइपल की व्याख्या है। कवि को मानव मातिस्ष्क अबूझ लगता है।

यह ब्रह्मराक्षस कौन है? कवि इसे स्पष्ट करता है– मुझे लगता है कि मन एक रहस्यलोक है। उसमे अधेरा है। अधेरा है। अधेरे मे सीढिया गीली है। सबसे निचली सीढी पानी मे डूबी हुई है। वहॉ अथाह काला जल है। उस अथाह जल से स्वय को ही डर लगता है। इस अथाहकाले जल मे बैठा है। वह शायद मै ही हूॅ।–[2] यह एक प्रकार से कविता का भाग है। कवि चिन्तन करता है। यह एक प्रकार का 'पोइटिक प्रोजेक्शन' है। कवि इसी को कविता मे प्रोजेक्ट करता है।

ब्रह्मराक्षस को कवि ने अपना वैयक्तिक विजन देकर उसे व्यक्ति और समष्टि दोनो की ट्रेजेडी का प्रतीक बना दिया है। इसके साथ–साथ चलने वाले अन्य प्रतीक सूनी पतों,बावडी, 'जीवना' आदि ब्रह्मराक्षस राक्षस को मिथ बना देते है और मिथ विचारो की अनेक तहों को खोलता है–[3]

ब्रह्मराक्षस की बाबडी का भूगोल विचित्र तथा रहस्यमय है–

शहर के उस ओर खंण्डहर की तरफ परित्यक्त सूची बाबडी/के भीतर ठण्डे अधेरे मे। बसी गहराइया जल की/सीढिया डूबी अनेको/उस पुराने घिस रहे पानी मे समझ मे आ न सकता हो/ कि जैसे बात का आधार/ लेकिन बात गहरी हो।–[4] शहर के खण्डहर के पास सूनी बाबडी को उलझी डालें घेरे है। मौन पेडो की डालो पर घोसले लटके हुए है जो खाली है कवि बावडी की गहराई के रहस्य को आकता है क्योकि वे निराले लोक सीढिया है–

खूब उॅचा एक ज़ीना सांवला/उनकी अधेरी सीढिया/वे एक अभ्यन्तर निराले लोक की। मुक्तिबोध का ब्रहमराक्षस लोक मिथक है। वह टेरर का प्रतीक है

पेडो की डालो पर घोसले लटके हुए है जो खाली है कवि बावडी की गहराई के रहस्य को आकता है क्योकि वे निराले लोक सीढिया है–

खूब उँचा एक जीना सावला/उनकी अधेरी सीढिया/वे एक अभ्यन्तर निराले लोक की। मुक्तिबोध का ब्रहमराक्षस लोक मिथक है। वह टेरर का प्रतीक है जो युगीन ट्रेजडी का बोध देता है और मूल्यो के अन्त सघर्ष को उजागर करता है। –[5] बावडी मे ब्रहमराक्षस कैद है। पागल की तरह बडबडाता रहता है। वह अपनी मैल को निरतर धो रहा है लेकिन मैल नही छूटती

पाप–छाया दूर करने के लिये दिन–राज/स्वच्छ करने
ब्रह्मराक्षस / घिस रहा है देह/हाथ के पजे, बराबर,
ब्रह्मराक्षस / मुह–छपाछप/खूब करते साफ,
फिर भी मैल/ फिर भी मैल।–[6]

वास्तव मे ब्रह्मराक्षस की स्थिति दो योनियो के बीच की स्थिति है और स्थिति बुद्धिजीवी की है। बुद्धिजीवी का रूपक किया है। वह चीजो स्थितियो को जानता है। पर कुछ बदल नही पाता। कुछ भी न बदल पाने या न कर सकने की पीडा झेल रहा है और इसे झेलने के लिए अभिशप्त है। बुद्धिजीवी की ऐतिहासिक विफलता को जानते हुए भी वह समाज–शोधन का कार्य करता है। कवि का आत्म–शोधन, समाज–शोधन है। वह सामाजिक स्थितियो से उबरना चाहता है लेकिन उबर नही पाता अपितु समझने–उबरने के द्वन्द्व मे झूमता रहता है। शुरू से ही वह अपने को अपराधी महसूस करता है। अपराध–ग्रथि भावना के कारण यह मैल छुडाने की प्रक्रिया मनियां बन गयी है।

गहरी बावडी की भीतरी दीवार पर सूर्य के परमाणु का पहुॅचना ब्रह्मराक्षस को झुककर नमस्ते कहना आदि कवि ने मूर्त करने के लिये रूपक की रचना की है। यहा सूर्य,ज्ञान का प्रतीक माना गया है। सूर्य की किरणे बावडी मे दिखते ही वह सोचता है कि अधेरे मे ज्ञान की उपलब्धि है लेकिन उसका यह भ्रम टूट जाता है आगे चलकर।

वह सुमेरी, बैविलोनी जनकथाओ की ऐतिहासिकता के साथ मार्क्स,एजेल्स, टॉएन्वी, हीडेग्गर व स्पेगलर, सार्त्र तथा बनी रहती। कवि सयम मे न रहकर विम्ब

चूकता और समझाता भी है। ब्रह्मराक्षस आदिम–बिम्ब है। अतीत की बौद्धिक चेतना का प्रतीक है। कवि का भोगा हुआ आत्म है जो उपचेतन की सकुलता मे कैद है। चूकि ब्रह्मराक्षस का शोधक था, अन्वीक्षा–शाप का बाहक था, अन्वेषण–अभिशप्त आत्मा था और इसी से उसकी असफलता भी कवि की नजरो मे भव्य है।

उसके मन मे पूर्णता को अतिरेकवादी रूप पाने की अदम्य लालसा थी वह सगतिपूर्ण दृष्टि से प्रतिष्ठित आत्मचेतना नैतिक मानो को अतिरेकवादी पूर्णता के स्तर पर ले जाने के लिये विकल था। उसकी ये मानवी–अन्तर्कथाऐ कवि को बहुत प्यारी लगती है . एक दिन वह इस चिन्तन या शोध के युद्ध मे मारा जाता है और वह इतिहास–मन के अवचेतन मे ब्रह्मराक्षस बनकर कैद हो गया है–

'बावडी मे वह स्वय/पागल प्रतीको मे निरतर कह रहा
वह कोटरी मे किस तरह/अपना गणित करता रहा/और मर गया
वह सघन झाडी के कॅटीले/तम–दिवर मे मरे पक्षी सा
विदा ही हो गया/ वह ज्योति अनजानी सदा को सा गयी
यह क्यो हुआ!–[7]

बुद्धिजीवी की सबसे बडी ट्रेजडी यही है कि वह इतिहास मे मनोवाछित परिवर्तन नही ला सका। वह बराबर असफल रहा क्योकि वह ज्ञान को क्रिया मे परिवर्तित नही कर सका। बुद्धिजीवी वाह्य जगत मे जो करना चाहता है, जिस प्रकार के सामाजिक परिवर्तन की उसकी आकाक्षा है, उसकी सरचना नही हो पाती। इसी न कर पाने की अपराध भावना से वह ग्रस्त है। भीतर मे वह जो सोचता है, रचता है, बाहर उसे पूरा नहीं कर पाता। इस प्रकार वाह्य अन्तर्मन की टकराहट चलती रहती है इसी टकराहट मे वह पिस उठता है–

पिस गया वह भीतरी/औ बाहरी दो कठिन पाटो के बीच,
ऐसी ट्रेजेडी है नीच !! –[8]

कवि की आस्था है कि अधूरा कार्य अन्तत बुद्धिजीवी ही कर सकता है ब्रह्मराक्षस मनुष्य का आदर्श रूप है। कवि विजन करता है। उसका विश्वास है इसीलिए वह ब्रह्मराक्षस को चुनता है। अपना अधूरा कार्य करने, उसे एक परिणति तक ले जाने पहुॅचाने के लिए–

मै ब्रह्मराक्षस का सजल– उस शिष्य/ होना चाहता

जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य/ उसकी वेदना स्रोत
सगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक/ पहुँचा सकूँ। –[9]

मुक्तिबोध की कविता गुहान्धकार का ओराग–उटॉग ब्रह्मराक्षस कविता की ही तरह है जो मानव के अवचेतन मे बन्द है। मनोविश्लेषण शात्रियो के मतानुसार मनुष्य का उपचेतन दमित इच्छाओ और अस्वीकृत निषिद्ध भावनाओ का आगार है। इसीलिए यहॉ औराग–उटाग रहता है जो मानव सभ्यता का शत्रु है। स्वय कवि के शब्दो मे नग्न और विद्रूप। असत्य शक्ति का प्रतिरूप।
प्राकृत ओराग–उटाग यह/मुझमे छिपा हुआ है। –[10]
यह वह जानवर है जो इन्सान के अवचेतन मे बद रहता है। इस कविता मे वह एक गुप्त प्रकोष्ठ के सॉवले गुहान्धकार के कोठे की मजबूत और भारी–भरकम सन्दूक मे बन्द है फिर भी कवि को सन्देह है कि ओराग–उटाग है या यक्ष है। यही कारण है कि–
स्वप्न के भीतर एक स्वप्न
विचारधारा के भीतर और
एक अन्य। सघन विचार धारा प्रच्छन्न!! –[11] रूप मे ही क्यो न सही चलती है। यह कवि के अचेतन मन का प्रतीक है। अचेतन मन ज्यो ही बाहर जाता है। वह अत्यन्त भयावह तथा खतरनाक लगने लगता है और जब वह भीतर से हुकारता है तो कवि का नंगा मन सहसा आतकित हो उठता है। वह अपने भीतर के जानवर को छिपाता नहीं बल्कि उसका साक्षात्कार करता है–
स्वयं की ग्रीवा पर/ फेरता हूँ हाथ की/ करता हूँ महसूस एकाएक गरदन पर उगी हुई/सघन अयाल और शब्दो पर उगे हुए बाल तथा
वाक्यो मे ओराग–उटाग के/बढे हुए नाखून!! –[12]

मुक्तिबोध का मानना है कि एक अजीब तरह की पीडा मे पडा कराह रहा है। लेकिन इसी को सत्य मान लेने पर मानवीय नियति का क्या होगा? वस्तुत इस दुख दैन्य और पीडा से जूझने पर ही मानव के प्रति आध्यात्मिक रूचि का आविर्भाव हो सकता है। इसके लिये जरूरी है कि हम अपने अहंकार को विसर्जित करें। लेकिन यह अह टूटता नही स्थापित होना चाहता है। इसीलिए कवि विवादग्रस्त उन लोगो पर चोट करता है–

सोचता हूँ– विवाद मे ग्रस्त कई लोग/कई तल सत्य के बहाने/स्वय को चाहते है प्रस्थापित करना/अह को, तथ्य के बहाने। –[13]

मुक्तिबोध की बहुचर्चित कविता है लकडी का बना रावण। विवेच्य रावण जो लकडी का बना है वह पौराणिक नायक नही है अपितु वह एक वृहदाकार अह का प्रतीक है जब तक जनचेतना जागृत नही होती तब तक लकडी का बना रावण जो पूँजीवादी सत्ता मे हासोन्मुखी सभ्यता का जीवन्त प्रतीक है शैल शिखर पर खडा अपनी विराटता का अहसास करता है और अपने सम्बन्ध मे यह सोचता है

मै ही वह विराट पुरुष हूँ/सर्वतत्र स्वतत्र, सत् चित्।
मेरे इन अनाकार कन्धो पर विराजमान खडा है सुनील/शून्य
रवि–चन्द्र–तारा–द्युति–मण्डलो के परे तक। –[14] लेकिन जब कम्बल की भीतर हलचल एक नया विस्तार उभरता है जब इन कुहरीली लहरो को देखकर उसके मन आन्दोलन की आशका से सशकित हो उठता है। वह भयभीत हो जाता है। अपनी आखो का भ्रम तोडकर देखता है कि वे कुहरा ही नही, काले–काले पत्थर व काले–काले लोहे के लोग है। वे मनमाने बलशाली तथा खतरनाक लगते है। वह डरता है कि उतुग शिखर की सर्वोच्च स्थिति पर पत्थर व लोहे मे रग का कुहरा बढकर छान जाए इसलिए सत्ता के स्वर्णाभ शिखरो पर होने वाले हमले से वह आतकित हो उठता है क्योंकि अभी तक वह अपने को सुरक्षित समझता था।

सहसा/आतकित हम सब/अभी तक समुतुग शिखरो पर रहकर/सुरक्षित हम थे/
जीवन की प्रकाशित कीर्ति के क्रम थे, अह–हुकृति के ही .यम्–नियम थे
अब क्या हुआ यह दुःसह!
समुदाय। डार्क मासेज ये भाव है
श्याम वर्ग मूढो के दिमाग खराब है, –[15]

कवि उन पर व्यग्य करता है जो जनता से दूर रहकर स्वय को विराट पुरुष के समान शक्तिशाली तथा महान समझते है जिनके लिए जनता मात्र अशिक्षितो की सामूहिक भीड है। मुक्तिबोध भी बताते है कि जनता एक भीड है उसका अपना कोई मन नही होता, जिधर हाको उधर हकती है। वे मानते है, भीड की अपनी कोई आत्मा नही होती। वह तो सामूहिक उत्तेजना में– अनजानी उत्तेजनाओ मे कार्यनिर्णय करती है सन्तुलित बुद्धि से खूब सोच विचार करके

एकात चिन्तन के द्वारा वह किसी निर्णय पर नही पहुचती क्योकि उसमे आत्मा नही होती।

दूसरी ओर रावण रूपी शोषक वर्ग कर–वल–छल से सभावित हमले से बचने के लिए भरपूर प्रयास–प्रहार करता है।

आसमानी रामशीरो, विजलियो,
मेरी इन भुजाओ मे बन जाओ। ब्रम्हमशक्ति।
पुच्छल ताराओ,। टूट पडो बरसो
कुहरे के रग वाले बानरो के चेहरे। विकृत, असभ्य और भ्रम है
प्रहार करो उन पर,। कर डालो सहार।–[16]

मुक्तिबोध कहते है कि जबतक उस पर प्रहार नही होता वह लक्ष–मुख दानव सा, लक्ष–हस्त देव–सा प्रतीत होता है लेकिन जब वह चारो तरफ से स्वय द्वारा कुचले वर्ग से घिर जाता है तब उसे अपने चरण अकेलेपन की हास्यापद वास्तविकता का बोध होता है–

स्वय को ही लगता है, बॉस के व कागज के पुष्ठे के बने हुए महाकाव्य रावण–सा हास्यापद। भयकर। –[17] यह बात तो ध्रुव सत्य है कि मुसीबत पडने पर साया भी अपना साथ छोड देती है ठीक वैसे ही रावण पूँजीवादी सत्ता का प्रतीक भी सर्वत्र अपने को असुरक्षित महसूस करता है और किकर्त्तव्यविमूढ सा हो जाता है लेकिन किया ही क्या जा सकता है, जैसा बोयेगा वैसा ही काटेगा, अर्थात् जब बोया बबूल का तो आम कहॉ से खाय यही बात मुक्तिबोध के अन्तर्मन से उद्घटित–

उग्रतर हो रहा चेहरो का समुदाय/और कि भाग नही पाता मै
हिल नही पाता हूँ/ मै मग–कीलित सा, भूमि मे गडा–सा,
जब खडा हूँ
अब गिरा , तब गिरा
इसी पल कि उस पल –[18]

आधुनिक पूँजीवाद सत्ता भी स्वय को वैसा समझती है लेकिन यह तब तक सुरक्षित है जब तक कि जनता जागृत नही होती उसकी जागृतावस्था मे आ जाने पर शोषक वर्ग की वही दयनीय स्थिति होती है। होगी जैसा कि उपर्युक्त पक्तियो मे चित्रित किया गया है। करो सिर्फ समय का इन्तजार।

जीवन–विवेक की एक मोमबत्ती उँची
जो कभी छी जाती नही, नही, होती नीची–[19]

मुक्तिबोध की प्रतिनिधि कविताओ मे से एक है–चॉद का मुॅह टेढा है जो मजदूरो की हडताल को विषय बनाकर लिखी गयी है। इससमे चॉद–चॉदनी के माध्यम से समकालीन स्थिति का भी चित्रण किया गया है। फलत इसे चॉदनी रात का राजनीतिक षड्यत्र भी माना जाता है। कविता की शुरूआत सन् 1953 के आधी रात के किसी नगर से प्रारम्भ
होती है जहॉ आसमान मे कर्फ्यू और धरती मे सन्नाटा रहता है तथा चुपचाप जहरीली छिग्यू है। चाद का मुह टेढा है, गजे सिर चाद की सवलाई किरणे के जासूस नगर साम–सूम कोनो मे, तिकोनो मे छिपे जासूसी कर रहे है और चादनी की गलियो की गुहाओ मे दबे पॉव जासूसी की ताक मे बैठी रहती है। चांद और चॉदनी के विभिन्न रूपो–आकृतियो के बाह्य सौन्दर्य को कवि ने चित्रित किया है। चॉदनी का उजाला–उजाला नही है वह भुसभुसे उजाले का कुसकुसाता षडयत्र है–
बारह का वक्त है
भुसभुसे उजाले का फुसफुसाता षडयत्र
जमाना भी सख्त है।–[20]

सख्त जमाने का वर्णन रूप मे किया गया है जिस प्रतीको विम्बो के माध्यम से इसे उद्घटित किया गया है, उनके आधार पर आगे की कविता आकी जा सकती है। जहॉ विम्ब–विधान कविता का अलंकार ना होकर सृजन मे स्तर पर है जो आन्तरिक विवशता का परिणाम है। इसमे बिम्बो और प्रतीको की नयी रगो और नसो को खोजा गया है–बरगद की घनघोर शाखाओ की गठित उजागरी मेहराब, टेढे चाद की ऐयारी रोशनी, हडताली अक्षर, बिल्ली के सफेद धब्बे सी चॉदनी में एक षडयत्र है, राजनीतिक के हलचल, और पोस्टर बाजी है। चॉदनी भी सॅवलाई है उसका रग सफेद नही सॉवला है। भीमाकार पुलौ, मनुष्य–बस्ती के बियाबन तरो, पथरीले नाले की धारा मे चॉदनी का प्रतिविम्ब कितना चमत्कारी है–
शहर के बडे–बडे पुलो के। मेहराबो–नीचे बहुत नीचे उन
सिमटी हुई डरी हुई। बस्तियो के सुनसान उदास किनारो से लगकर

बहते–अटकते हुए। झरते अटकते हुए। पथरीले नालो की काली–काली धार मे। धराशायी चॉदनी मे होठ काले पड गये। –[22]

वह हरिजन–बस्ती मे, मन्दिर के पास, मटमैले छप्परो पर बरगद की ऐठी उभरी हुई जड पर दिखती है लेकिन यहॉ कुहासे के भूतो की सॉवली चुनरी, अगिया व घाघरे फटी हुई चादरे उस जड मे अटक जाती है जिसे व्यभिचारी व्यक्ति लशाये एक गजे–सिर, टेढे–मुँह चॉद की ही कजी ऑख देखती है। इस प्रकार भैरव की सिन्दूरी मूरत के पथरीले व्यग्य के स्मित पर टेढे मुँह चॉद की सेयारी पड रही है किन्तु बरगद "बरगद इतिहास बोध का प्रतीक है" जानता है कि भैरव कौन है?क्योकि उसको सब इतिहास पता था। गॉधी और तिलक के पुतले पर बैठे धुग्धुओ मे बातचीत होती है जोरदार। गॉधी कि सिर पर बैठे उलूक ने कहना शुरू किया–

. मसान मे . /मैने भी सिद्धि की/देखो,मूँठ मार दी/ मनुष्यो पर तरह [23]

तिलक के पुतले पर बैठा हुआ धुग्घू उसे प्रभावित होकर उसे जहॉपनाह की सज्ञा देता है इस प्रकार कविता का परिवेश खुलता जाता है–

इसीलिए आजकल/दिन के उजाले मे भी अधेरे की सास है/ जमाने के चेहरे पर/ गरीबो की छातियो की खाक है।। [24]

अगली पंक्ति मे कैस करारा व्यंग्य है–

वह–वाह्।।/पी गया आसमान/अधियाली सच्चाइया घोट के/मनुष्यो को मारने के खूब है ये

टोटके।। [25]

यहॉ प्रच्छन्न रूप से सकेत है कि गॉधी ने भी तत्र–मत्र के बल पर भारतीय जनता पर कभी अपना प्रभाव जमाया था। पर परिणाम क्या हुआ? उनके सारे सपने भूल गए या भुला दिये गए–

बुद्ध के स्तूप मे/मानव के सपने/गड गये, गाडे गये।! ईसा के पख सब झड गये/ झाड गये/ सपनो की आते सब/चीरी गयी, फाडी गयी। [26]

ऐसी बातो को सुनकर एकाएक गालियो का सिन्दूरी महाकार भैरव का विकराल, खतरनाक ठहाका सुनायी पडा जिससे कि अकस्मात चॉदनी के चेहरे पर पडा धूल का परदा और गलियो की भूरी खाक हवाओ मे लहराने लगी।

चॉदनी के और कई दृश्य है जो शोहदौ सी चॉदनी,आवारा मुछुओ सी मछलियॉ फॅसाती है। सडको के पिछवाडे टूटे दृश्यो मे, सेक्स काटो के कवियो के काम सी, बदमस्त कल्पना–सी फैली थी रात भी साथ ही साथ–बसी थी चॉदनी/खूबसूरत अमेरिकी मैगजीन पृष्ठो थी/अधनगी तनिमा के ओठो–सी–खुली थी/सफेद अण्डर वेयर–सी, ब्रेसिए–सी/आधुनिक प्रतीको मे पली थी/नगी–सी नारियो के उघरे हुये अगो के विभिन्न पोजो मे लेटी थी चॉदनी/ कर्फ्यू कही नही यहॉ ।[27] कवि कहता है यह चॉदनी बडी मसखरी है। वह चुपचाप तिमजिले की खिडकी से उतरती है। रास्तो, छतो, गैलरी, खपरैलो, ऑगन, सडक के पेडो के गुम्बदो, महल लाघकर मुहल्ले के पार गलियो की गुहाओ मे दबे पॉव सखुफिया सुराग मे अधेरे मे पोस्टर चिपकाने वालो की तलाश करती है, गुप्तचरी ताक मे लगातार खोजती है–

भडकीले पोस्टर/लम्बे–चौडे वर्ण और/बॉके–तिरछे घनघेर/लाल–नीले अक्षर।।[28] मुक्तिबोध अपनी अन्य कविताओ की तरह यहॉ भी पहाड, पठार, खण्डहर, खोह का उल्लेख करते चलते है। ताल के उस पार एक पहाड चबूतरा उसके सिर पर खण्डहर और उसमे बूढा पेड–ये सब इस बात के प्रतीक है कि इसके पूर्व यहॉ क्या होता था और अब क्या हो रहा है। यह अतीत और वर्तमान का प्रतीक है। अब यहॉ पर हडताली पोस्टर चिपकाये जाने वाले है। ताकि रास्ते मे खडे लोग–जिन्दगी की आग को पढ सके। इसके साथ ही पेटर और कारीगर का सवाद प्रारम्भ होता है। पेटर का कथन है कि उसने धुऐ से कजलाये कोठे की भी पर रामकथा की व्यथा लिखी है लेकिन तब तस्वीर बनाने का वक्त नही है–

इच्छा अभी बाकी है/जिन्दगी भूरी ही नही/वह खाकी है।[29] अपने अन्तराम मे हृदय की प्यास को सजोये कलाकार अब चित्र नही बनाता क्योकि वह जानता है कि यह चित्र बनाने का समय नही है और चित्र बनाने से अब कुछ होने वाला नही है इसलिये यह चित्र न बना पाने की विवशता स्वीकार करता है क्योकि चित्र से अधिक उसके लिये पोस्टर कारगर है। वह पोस्टर लगाकर लोगो को धधकाना और अपने अधिकार और श्रम के लिए सचेत है–

मानो या मत मानो/इस नाजुक घडी मे/चन्द्र है, सविता है/पोस्टर ही कविता है।[30] इस प्रकार मुक्तिबोध बताते हैं कि 'वर्तमान युग मे अपनी जज्बातो को बयॉ करने के लिये पोस्टर ही कविता है तथा कविता ही पोस्टर–। वह जिन्दगी के रोजमर्रा के

सुख–दु ख मे कत्थई खपरैलो पर से उठने वाले रहने के प्रयत्नो के प्रतीक धुऐ से जीने का सुख व्यक्त करता है–

वेदना के रक्त से लिखे गए/ लाल–नीले अक्षरो मे झलकती/सृजन की नयी परछाइया गलियो के कोनो मे गूँजती है भावी की झाईया/जमाने के पैगम्बर/आसमान थामते है कधो पर हडताली पोस्टर/कहते है–आदमी की दर्द भरी गहरी पुकार सुन/ जो दौड़पडता है आदमी वह भी/ जैसे तुम भी आदमी/वैसे मै आदमी। [31]

कुशल कलाकार बनाए गए ये पोस्टर चिपकाए जाते है वरगद की शाखाओ और भैरो की कडी पीठ पर–जो जनसमाज की गहन शक्ति, मजबूत जडो और क्रान्तिकारी सभावनाओ के प्रतीक है यहॉ तक कि स्वय जन समाज के प्रतीक है। कविता के अन्त मे भैरो–वरगद मे बहस उठ खडी है– जोरदार जिरह कि कितना समय लगेगा/सुबह होगी कब और/मुश्किले होगी दूर कब।। [32] मुक्तिबोध निसर्ग के नि सग अकेले भटकने वाले कवि है। उनकी लम्बी–लम्बी कविताओ मेहम देखते है। विस्तार और सूनापन,भटकन,खोज, अकेलापन, कुहासे के नीचे की हलचल। मुक्तिबोध इस युगीन क्षयी चॉदनी मे यह नि सगता एक अनिवार्य स्थिति मानते है। वे यथार्थ के चित्रण के माध्यम से सोद्देश्य लाक्षणिकता प्रदान करते है। समय का कण–कण आसमान से चूकर बिजली की चमक बन रहा है। मुश्किले होगी दूर कब का कविता में कोई जबाब नहीं दिया गया है लेकिन सकेत अवश्य किया गया है और यह सकेत अपने आप में कविता का मन्तव्य प्रकट करता है– बूँद–बूँद चू रहा/ तडित ज्वाला बन। इसी प्रकार डूबता चॉद कब डूबेगा मे चॉद डूबता तो नही लेकिन उसके डूबने का इन्तजार है।

चम्बल की घाटी मे पहाडो, पठारो और दर्रो को रूपक मे बॉधा गया है। यह कविता भयानक अधेरे के उमडने से शुरू होती है जिसे दूर किसी जगल मे उपहास करती ठहाके की गूँज काट देती है और कवि अधखुले रहस्यो मे होता किसी फिक्र मे टीलो के बीच चक्कर काटने लगता है। वह उजाड वियाबान, सुनसान घाटी रहस्यमय गुफाओ, रास्तो मे पत्थरो से ढके हुये जादूगर के रत्नकोष को तलाशता है। कवि को विश्वास है कि सभी लोग मरे नही है यही कही जिन्दा है–असभव, इस पूरे क्षेत्र मे सब लोग/मारे जाय, मर जाये असभव।

लोग अभी जिन्दा है, जिन्दा !! यही कही, वे भी । [33] मुक्तिबोध कहते है लोग आखिर है कौन? वस्तुत ये लोग समाज के शोषित–पीडित लोग है जो छलनाओ को असफल हुआ देखकर सामने आयेगे, हथियार बनाने के कारखाने कायम करेगे, गिरोह बनायेगे और आतक फैलायेगे। कवि कही भी इस आतक से सहमत नही है क्योकि वह वह आतक नही क्राति चाहता हूॅ किन्तु यदि क्रान्ति सगठित नही होगी तो निश्चित ही लोग आतककारी या डाकू बन जायेगे। जो आज की मनुष्य के विकृति किन्तु स्वाभाविक परिणत होगी जो भयानक स्थिति जो जन्म दे सकती है किन्तु इस प्रकार के माध्यम से किसी भी प्रकार का परिवर्तन सभव नही है बल्कि आदमी अपनी ही विकृतियो मे कैद हो जायेगा। इसलिए कवि को कोई सावधान करता हुआ कहता है–

शात हो, धीर धरो/उल्टे पैर ही निकल जाओ यहॉ से/जमाना खराब है
हवा बदमस्त है/बात सॉफ–सॉफ है/सब त्रस्त है/दर्रो मे भयानक चोरो की गस्त है। [34] वही दूर स्थिति खतरनाक लूट–पाट, आग, डकैती के कारण गरीबो का एक गॉव धधक रहा है। लोग भागते है–गठरी, बच्चे–बच्ची को पीठ कर कसे हुये और कवि भी भागता है अपने भाव और कविता को साथ लिये। प्रस्तुत पक्तियो मे कवि की असहायता बोल रही है–

यो मेरी कविता बिना/घर/बिना छत गिरस्तिन/जिममे की मेरा भाव/ज्वलत जागता जिसे लिये हुए मै/ देख रहा जमाने की गयी परिपाटिया/चम्बल की घाटियॉ। [35] इस तरह की परिपाटियो से कुछ नही होगा बल्कि उसे तोडना होगा क्योकि बिना तोडे मुक्ति संभव नही है। आज का आदमी समझौता वादी हो गया है। वह परिस्थितियो से समझौता करता चलता है। यह समझौता उसकी आदत है इसीलिए मुक्तिबोध बताते है–

जो लोग आत्मसतुष्टि पूर्वक समाज से सामजस्य की बात करते है उनकी जिन्दगी मे जरा घुसकर देखने से पता चलता है कि उन्होने कितना और कैसा सामजस्य प्राप्त कर लिया है। वह सामजस्य, यश और शिश्नोदर की लिप्सा मे पडे हुये मनुष्य का आत्म छल मात्र है। [36]

चम्बल की घाटी का टीला जडता का प्रतीक है और मुक्तिबोध इसी जडता को तोडना चाहते है– प्रस्तरी भूत मै गतियो का हिम हूॅ/बीच मे ही टूट गया कोई

पराक्रम हूँ/ चट्टाने टीलो की जमी हुयी तह से/ दुनिया की पाषाणी भूत सतह से/परन्तु सतुलनात्मक स्थितियाँ जैसी कि वे है/छि है/थू है है।[37]

यहाँ टूटने का अभिप्राय आदमी का टूटना नही है। कवि की दृष्टि स्पष्ट है कि शोषण से मुक्ति के लिए जडता का टूटना जरूरी है समझौता आदमी की एक प्रकार की आदत बन गयी है। इन्ही समझौतो मे वह परतत्र और कैद होता जाता है लेकिन तब वह गिरफ्त से मुक्ति चाहता है। कवि अचानक भावुक हो जाता है। अपनी 'थीसिस' को अनेक उपमाओ, विम्बो के माध्यम से व्यक्त करता चलता है। वह ब्रह्ममाण्ड धूल से परदे सा बनकर फैल जाना, तन जाना चाहता है। वह अपनी भावनाओ को विराट् विम्बो मे बाधता है कवि वाचाल टीले के आस–पास पत्थर नुमा कोई मन पाता है। पाषाणी नेत्रो मे वह 'व्रण' है और–

खून बहाते है ऑखो के घाव/घावो मे सच्चाई की किरकिरी कसकती।।

कसकते है खून भरी ऑखो मे सत्यो के अणु–रेणु। –[38]

यह कसक बडी मूल्यवान है क्योकि मुक्ति इसी दुखानुभूति से सभव है। मसीहा और डाकू मे अन्तर इतना होता है कि एक आतककारी होता है दूसरा आईडियालॉजी से जुडा होता है कवि को विश्वास है कि लोगो की पीडा और त्रास की बुनियाद पर कोई फिलासफी बनेगी और उसी मे से कोई एक नया मसीहा निकल आयेगा–

कुछ उनकी ही पीडाओं की बुनियाद पर ही/ खडा किया गया एक ढाचा/ एक फिलासफी अथवा अपनी ऑखो मे चढने का गोल–गोल जीना/दिल सहलाने की तरकीब।[39] चम्बल की घाटी के टीले पर एक महाकाव्य दस्यु बैठा है काला, नाटा,मोटा जगली। हवा टीले को सकेत करती है कि उसकी छाती पर चढी हुयी स्याह पहाडी/मात्र वृहत्कृत विम्ब है तुम्हारे ही निज का/ तुम्हारे स्वरूप का मूर्त महत्तकृत/रूप है वह तो।[40]

मुक्तिबोध का मानना है कि शैतान मनुष्य के बाहर नही उसके भीतर है उसके पाप करने की इच्छा ही शैतान है। मनुष्य जितना ही सामजस्यो में फॅसता है उतनी ही बजर बनती है दुनिया । वह खुद के बनाएं शिकजो से छूट नही पाता लेकिन उस टीले में कही मुक्ति की चाह छिपी है।[41] मुक्तिबोध के यहाँ व्यक्ति अपनी सिद्धि दूसरो के साथ और उसकी सहायता से ही प्राप्त कर सकता है। ससार में कोई सुलह सभव नही है अगर है भी तो मुक्तिबोध के अनुसार वह मानवीयता राहत और

मूल्यच्यूत होगी। [42] लेकिन जब तक शोषण–पाप क्रम मौजूद है जिसके लिये सामाजिक व्यवस्था जिम्मेदार है तब तक उसकी स्थिति है, व्यवस्था है, मुक्ति नही मिलेगी– याद रखो/कभी अकेले मे मुक्ति न मिलती यदि वह है तो सबके ही साथ है। [43]

वहॉ उपस्थिति हवा सलाह देती है कि छाती पर दस्यु लुढकते चले जाओ, वह टूटेगा, तुम भी टूटोगे और इस टूटने मे ही मुक्ति है। यहॉ पर मुक्तिबोध की मार्क्स दृष्टि साफ है। वे मानते है कि मुक्ति गरीबो से हटकर नही बल्कि उन्ही के साथ सभव है।

डा0 बच्चन सिह लिखते है कि वह क्षणो का कवि नही है, वह समग्रता और जटिल भाव बोध का कवि है। इसके माध्यम से जूझता हुआ वह समूह से जुडकर सामूहिक क्राति द्वारा मुक्ति चाहता है। मुक्तिबोध इसी लिए बार–बार अपनी कविता मे करते है वे जिक्र ही नही करते बल्कि उनका तरीका भी बताते है। उनका मत है कि ज्ञान को क्रिया मे बदले बिना क्राति सभव नही। इसी प्रक्रिया के माध्यम से पत्थरी ढाचे की कैद से सबकी मुक्ति सभव है–

गतिमय सामजस्यो का व्यापक/क्रमश विकसन/पुन सगठन, पुन परीक्षण,पुन प्रवर्तन पुनरपि परिणति/ऐसी गतिमय सगतियो की पीडाए दीजिए/परन्तु, पहले/पत्थरी ढाचे से छुटकारा मिल जाय । [44]

इस व्यवस्था की जकड मे सिर्फ कवि ही नही है सभी लोग कैद है। कैद की इस जकडबदी से मुक्ति होने की चाह है लेकिन कवि बुद्धिजीवी के अकेलेपन का एहसास भी करता है। वह अपने समाज मे नितान्त अकेला है लेकिन उसके मन मे जो छटपटाहट और कसक है औरो मे नही है। वह चेतना मे डूब मन मे समायी अपराध भावना को टटोलता है और पाता है–

मै एक थमा मात्र आवेग/रूका हुआ एक जबर्दस्त कार्यक्रम/मै एक स्थगित हुआ अगला अध्याय/अनिवार्य आगे ढकेली गयी प्रतीक्षित/महत्वपूर्ण तिथि
मै एक शून्य मे छटपाता हुआ उद्देश्य ।! [45]

मुक्तिबोध एकान्त एकल विद्रोह को व्यर्थ नही मानते किन्तु उनका विश्वास सगठित क्रांति के प्रति है। एकान्त एकल विद्रोह की सार्थकता इसलिए भी है कि यह कहीं न कही केन्द्रीय शक्ति से जुडी अवश्य है। वे जानते है कि अकेला चना भाड नहीं

फोड सकता क्योकि यह भी तो सच है कि ऐसी/समस्त अग्निया/ अकेले मे जलती हुयी/ करती है अपनी ही ऐसी की तैसी। [46]

कविता मे चित्रित डाकू शोषण अव्यवस्था की स्वाभाविक परिणत है लेकिन वह उनकी कार्यवाही जन साधारण मे विरूद्ध जाती है। साधारण का आक्रोश डाकू और व्यवस्था दोनो के प्रति समान है। कवि का सत्य टूटने मे नही है, बल्कि टूटने को अर्थपूर्ण बनाने मे है। [47]

अपने दर्रो के/लुटेरे इलाको मे जोरदार/ आज जो गिरोह है/ छुपे हुये/खुले हुये उनके भयानक हमलो से पीडित/ जन साधारण को उनकी ही टोह है।

पूर्ण विनाश और अनस्तित्व उनका/तुम्हारे निजत्व का चरम विकास है/ इसलिए दृषद–आत्मन/कट जाओ, टूट जाओ। किन्तु, अकेली की तुम्हारी ही वह सिर्फ/ नही होगी कहानी। [48]

सन्दर्भ ग्रन्थ

सन्दर्भ ग्रन्थ

1 समकालीन साहित्य आलोचना को चुनौती—डा0 बच्चन सिह—पेज—64

2 एक साहित्यिक की डायरी—मुक्तिबोध—3

3 समकालीन साहित्य आलोचना को चुनौती—डा0 बच्चन सिह—64

4 मुक्तिबोध रचनावली दो—315

5 समकालीन साहित्य आलोचना को चुनौती—डा0 बच्चन सिह—40

6 मुक्तिबोध रचनावली दो—316

7 मुक्तिबोध रचनावली दो—320

8 मुक्तिबोध रचनावली दो—319

9 मुक्तिबोध रचनावली दो—320

10 मुक्तिबोध रचनावली: दो—164

11 मुक्तिबोध रचनावली दो—163

12 मुक्तिबोध रचनावली दो—164

13 मुक्तिबोध रचनावली दो—165

14 मुक्तिबोध रचनावली दो—368

15 मुक्तिबोध रचनावली दो—370

16 मुक्तिबोध रचनावली दो—371

17 मुक्तिबोध रचनावली· दो—371

18 मुक्तिबोध रचनावली. दो—372

19 मुक्तिबोध रचनावली दो—224

20 मुक्तिबोध रचनावली दो–275

21 आलोचना और आलोचना–इन्द्रनाथ मदान–125

22 मुक्तिबोध रचनावली दो–274

23 मुक्तिबोध रचनावली दो–278

24 मुक्तिबोध रचनावली दो–279

25 मुक्तिबोध रचनावली दो–279

26 मुक्तिबोध रचनावली दो–282

27 मुक्तिबोध रचनावली दो–280

28 मुक्तिबोध रचनावली दो–281

29 मुक्तिबोध रचनावली दो–284

30 मुक्तिबोध रचनावली दो–285

31 मुक्तिबोध रचनावली दो–286

32 मुक्तिबोध रचनावली दो–286

33 मुक्तिबोध रचनावली दो–405

34 मुक्तिबोध रचनावली. दो–406

35 मुक्तिबोध रचनावली दो–407

36 नयी कविता का आत्मसघर्ष–मुक्तिबोध–45

37 मुक्तिबोध रचनावली दो–408

38 मुक्तिबोध रचनावली दो–408

39 मुक्तिबोध रचनावली दो–409

40 मुक्तिबोध रचनावली दो–418

41 मुक्तिबोध का आत्मसघर्ष और उसकी कविता–डॉ0 राम विलास शर्मा–धर्मयुग

42 फिलहाल–अशोक बाजपेयी–259

43 मुक्तिबोध रचनावली दो–419

44 मुक्तिबोध रचनावली: दो–416

45 मुक्तिबोध रचनावली. दो–402

46 मुक्तिबोध रचनावली दो–410

47. समकालीन साहित्य–आलोचना क। चुनौती–डॉ0 बच्चन सिह–67

सहायक ग्रंथ सूची

1 अधेरे मे एक विश्लेषण – नदकिशोर नवल (अनुपम प्रकाशन पटना)

2 अधेरे मे –इतिहास सरचना और सवेदना–बच्चन सिह (अभिव्यक्ति प्रकाशन)

3 गजान प्रतिनिधि कविताए मुक्तिबोध की प्रतिनिधि प्रोफेसर राजेश शर्मा/(अशोक – प्रकाशन नई सडक दिल्ली)

कविताऐ की टीका – प्रोफेसर सुरेश अग्रवाल सडक

राजेश शर्मा

4 चॉद का मुँह टेढा है – श्री राकेश (प्रकाशन केन्द्र लखनऊ)

(मुक्तिबोध एक प्रमाणिक अध्ययन)

5 मुक्तिबोध और अधेरे मे – गिरिश रस्तोगी– (अभिव्यक्ति प्रकाशन)

6 मुक्तिबोध का काव्य–शिल्प – अशोक चक्रधर/गोपालदास राय/सुमित प्रकाशन दिल्ली

चॉद का मुँह टेढा है,/अधेरे मे

7 मुक्तिबोध की कविताओ से का मुँह टेढा है – श्री अनुप कुमार (साहित्य भवन प्राइवेट चॉद लिमिटेड जीरो रोड इलाहाबाद)

8 मुक्तिबोध अधेरे मे – श्री श्याम नारायण शुक्ल (रेणुका प्रकाशन इलाहाबाद)

9 अधेरे मे का महत्व – श्री सम्पादक राजेन्द्र कुमार – (नई दिल्ली 170 आलोपीबाग इलाहाबाद)

10 आधुनिक साहित्य का इतिहास – श्री बच्चन सिह (15 ए महात्मा गॉधी मार्ग इलाहाबाद)

11 गजानन माधव मुक्तिबोध रचनावली (दूसरा संस्करण) –सपादक नेमिचन्द्र जैन (राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली/पटना

12. चिन्तामणि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कमल प्रकाशन नई दिल्ली

13 विचार और विवेचन डॉ0 नगेन्द्र

14 कविता के नये प्रतिमान डॉ0 नामवर सिह जगदीश गुप्त प्रथम सस्करण भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

15 आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियॉ– डॉ0 नगेन्द्र तृतीय– सस्करण नेशनल पब्लिशिग हाऊस दिल्ली।

16 हिन्दी साहित्य का इतिहास– डॉ0 नगेन्द्र –नेशनल पब्लिशिग हाऊस नई दिल्ली।

17 हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास– डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी– प्रथम सस्करण–लोकभारती इलाहाबाद

18 छायावाद– डॉ0 नामवर सिह– द्वितीय सस्करण– राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली

19 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ– डॉ0 नामवर सिह– सस्करण 1987 लोकभारती इलाहाबाद।

20 प्रतिबद्धता और मुक्तिबोध का काव्य– प्रभात त्रिपाठी– प्रथम सस्करण– वाग्देवी बीकानेर।

21 आधुनिक हिन्दी –काव्य रूप और सरचना– निर्मला जैन।

22 काव्य–शास्त्र – डॉ0 भगीरथ मिश्र।

23. भारतीय काव्य सिद्धान्त– डॉ0 नगेन्द्र– प्रथम संस्करण– हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली।

24. मुक्तिबोध का साहित्य विवेक और उनकी कविता– डॉ0 लल्लन राय– प्रथम मन्थन पब्लिकेशन्स रोहतक।

25 आधुनिकता और सर्जनशीलता– डॉ0 रघुवश।

26 आधुनिक कविता यात्रा– डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी– प्रथम सस्करण लोकभारती इलाहाबाद।

27. हिन्दी साहित्य का अतीत – विश्वनाथ प्रसाद मिश्र– वाणी प्रकाशन नई दिल्ली।

28 समकालीन साहित्य –आलोचना को चुनौती डॉ0 बच्चन सिह।

29 मुक्तिबोध विचारक, कवि –कथाकार– डॉ0 सुरेन्द्र प्रताप सिह।

30 अविचारित रमणीय का मनोविज्ञान –मूल्य और मुक्ति–गगाधर झॉ।

31 नई कविता की वर्तमान स्थिति – गिरिजा कुमार माथुर।

32 नई कविता के प्रतिमान – लक्ष्मीकान्त वर्मा।

33 मुक्तिबोध का गद्यसाहित्य – मोतीराम वर्मा– प्रथम सस्करण– विद्यार्थी प्रकाशन दिल्ली।

34 नई कविता एक साक्ष्य– डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी– सस्करण 1990 लोकभारती इलाहाबाद।

35 मुक्तिबोध एक अवधूत– श्री नरेश मेहता– प्रथम स`करण– लोकभारती इलाहाबाद।

36 हिन्दी साहित्य का इतिहास– रामचन्द्र शुक्ल– बाइसवा सस्करण– नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी।

37 हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा– प्रकाशचन्द्र गुप्त– किताब महल इलाहाबाद।

38 आधुनिक काव्यधारा– डॉ0 केशरी नारायण शुक्ल– प्रथम सस्करण– सरस्वती मदिर बनारस।

39 गजानन माधव मुक्तिबोध सृजन और शिल्प– रणजीत सिह– जयभारती प्रकाशन इलाहाबाद।

40 कला का जोखिम – निर्मल वर्मा।

41 शब्द और स्मृति – निर्मल वर्मा।

42 आधुनिक भारत मे सामाजिक परिवर्तन– एम0एन0 श्रीवास्तव– छठा राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

43. भारतीय राष्ट्रवाद की अधुनातन प्रवृत्तियां– ए0आर0 देसाई।

44 आजकल का भारत – रमेशथापर।

45 भारत का सामाजिक सास्कृतिक और आर्थिक विकास– भाग–1 पुरी, दास, चोपडा– प्रथम संस्करण – मैकमिलन प्रकाशन दिल्ली।

46. मानव–मूल्य और साहित्य– धर्मवीर भारती।

47. शब्द और कर्म मेनेजर पाण्डेय–प्रथम सस्करण–राजकमल प्रकाशन–नई दिल्ली।

48 प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य– रेखा अवस्थी।

49 मुक्तिबोध रचनावली प्रथम सस्करण – नेमिचन्द्र जैन –राजकमल प्रकाश पेपर वैक्स नई दिल्ली